# आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र

## (MODERN SANSKRIT POETICS)

डॉ॰ आनन्द कुमार श्रीवास्तव
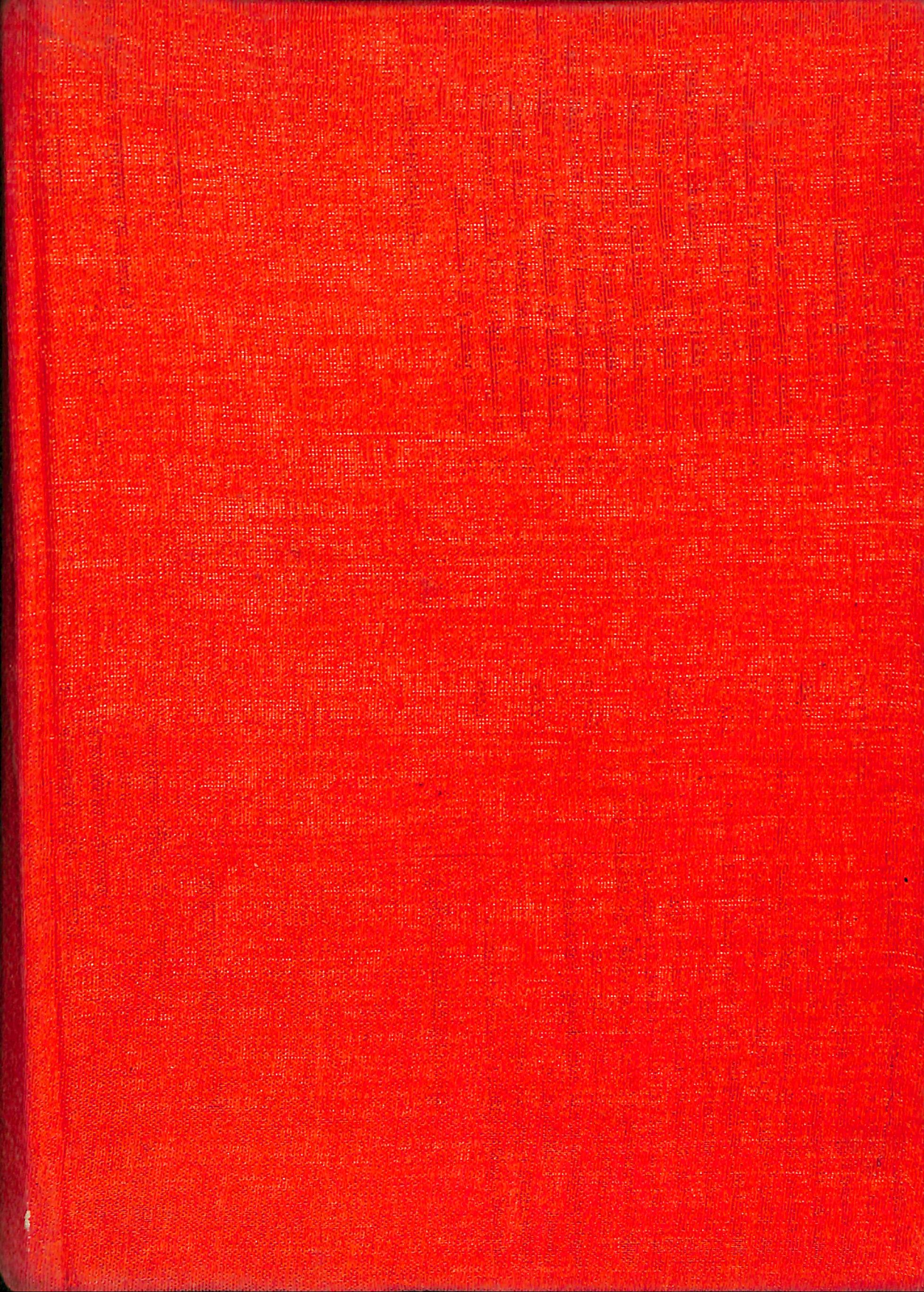
आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र

# आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र

(MODERN SANSKRIT POETICS)

लेखक :

**डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव**

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग

सी० एम० पी० डिग्री कालेज

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

इलाहाबाद

1990

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक : ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल,
जवाहर नगर, दिल्ली-110007
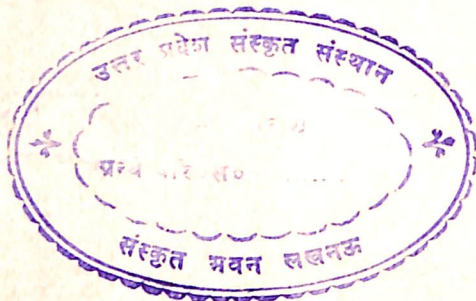
प्रथम संस्करण : 1990

मूल्य : 200.00 रु०

मुद्रक : आर० के० भारद्वाज प्रिंटर्स,
बाबरपुर रोड, शिवाजी पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032

# ADHUNIK SANSKRIT KAVYASHASTRA

## (MODERN SANSKRIT POETICS)

**Dr. Anand Kumar Srivastava**

Lecturer in Sanskrit

C. M. P. Degree College

(University of Allahabad)

Allahabad

**EASTERN BOOK LINKERS**

**DELHI** **(INDIA)**

# समर्पण

संस्कृत साहित्य, व्याकरण, दर्शन एवं आयुर्वेद
के उद्भट विद्वान्
हिन्दी साहित्य के प्रखर मनीषी,
संगीतशास्त्रविद् एवं
रससिद्ध कवि
स्व० आचार्य उमाशङ्कर 'जानकार' शास्त्री'
पूज्य पितृचरण को······

श्रीमत आनन्दकुमारश्रीवास्तवस्य प्रबन्धम् 'आधुनिक संस्कृतकाव्यशास्त्र' इति नामानं दृष्टवतोऽनुशीलितवतश्च मे नितान्तमेव प्रसन्न चेतः। संस्कृतकाव्यशास्त्रं पण्डितराजेन सह समाप्तमिति यः प्रायोवादः स ऐतेन वटयक्षतां प्रापितः। अतः श्रीमान् आनन्दकुमारः संस्कृतसमाजे धन्यवादपात्रायते।

अस्मिन् महति प्रबन्धे नवीनानां पञ्चदशानां काव्यशास्त्रप्रणेतृणां परिचयपुरस्सराणि काव्यस्य लक्षणं, प्रयोजनम्, कारणम्, भेदाः, शक्तयः, भेदकाः, दोषा अन्यानि चैवंविधानि भूयांसि तत्त्वानि समीक्षितानि। तेषु यः परिचयः स खलु प्रतिपङ्क्ति प्रामाणिकः। संस्कृतप्रबन्धानामयमेव स दुर्बलः पक्षो यस्य महतावधानेन निराकरणमपेक्ष्यते। निराकृत एषोऽत्र प्रबन्ध इति प्रसन्नताया विषय सर्वेभ्यः।

ये चात्र विषया विवेचितास्तेषु काव्यलक्षणं प्रमुखायते। श्रीमता श्रीवास्तवेन तमिमं विषयमधिकृत्य यद् विवेचितं तत्र सर्वेषामपि पण्डितराजपरवर्त्तिनां काव्यशास्त्रशिल्पिनां मतानि संगृहीतसाराणि खलु। ममैव काव्यलक्षणविषये यन्मतं तदेवात्र प्रमाणम्। डॉ० ब्रह्मानन्दशर्मणः श्रमात्मतावादोऽपि प्रबन्धे निपुणं निरूपितः। प्रयोजनविषये काव्यालङ्कारकारिकाया ये नवीनाः पक्षास्तेष्वपि निपुणं कृतावधानः श्रीवास्तवः। आशाधरोऽच्युतरायश्च संस्कृतकाव्यशास्त्रस्यात्यन्तं प्रतिष्ठितावाचार्यौ। तयोरनयोः सिद्धान्तेष्वापि प्रबन्धकृतो दृष्टिः सुनिर्मला।

अयमत्रापरः प्रसन्नताया विषयो यदेतत्प्रबन्धकारो नव्यन्यायपरिष्कारेऽपि कुशलः। अलंकारलक्षणं परिष्कुर्वतानेन दर्शितं तत् कौशलम्। प्रबन्धेऽस्मिन् नवीनं विवेचनं समर्थया भाषया तर्कसरण्या च विहितमिति।

**रेवा प्रसाद द्विवेदी**
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत साहित्य विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

I have read with interest the book entitled 'Adhunik Sanskrit Kavyashastra' by Dr. Anand Kumar Srivastava, Lecturer in Sanskrit, C. M. P. Degree College, Allahabad. This work makes Scholars acquainted with almost all the important writers on Sanskrit Poetics belonging to the post Panditaraj era. The author has worked hard to collect the material from published and unpublished works available on Sanskrit Poetics. Thus he has cost his scholarly net over a wide area. The valuable observations indicate the author's Critical insight, Sound judgement and wide reading. The presentation of facts is exhaustive. There is thoroughness in the classification of topics and recording of references. The language is not shaky which shows the self confidence of the author. It will remain a work of reference for those interested in knowing the recent trends in Sanskrit Poerty and Literary criticism.

**Dr. Suresh chandra Pande**
Professor, Sanskrit Deptt.
University of Allahabad
Allahabad.

# सौवस्तिकम्

मानव-संस्कृति के उषः काल से ही भारत चिन्तन की भूमि रहा है । चिन्तन एक सापेक्ष शब्द है जो कि 'शास्त्र' से जुड़ा है और शास्त्र का अर्थ है अनुशासनात्मक अथवा नियामक ज्ञान ! चिन्तन चाहे दार्शनिक हो चाहे काव्यशास्त्रीय—वह सोचने-विचारने की सुदृढ़ भूमिका प्रदान करता है, साथ ही साथ, उस भावभूमि पर आगे बढ़ने के लिए मार्ग भी प्रशस्त करता है । इसी शास्त्रीय चिन्तन ने भारत को विश्व-गुरु बनने का गौरव प्रदान किया ।

भारतीय शास्त्रीय चिन्तन की परिधि विशाल है । वेद, वेदाङ्ग, पुराण, षड्दर्शन तथा षट्शास्त्र—सब उसमें अन्तर्भूत हैं । नास्तिक दर्शनों की भी अपनी एक निरवद्य पृथक् परम्परा है । सभी चिन्तन सम्भावना के शिखर पर आरूढ़ दीखते हैं । उनमें से प्रत्येक अपनी ही वरेण्यता एवं श्रद्धेयता का भाव पैदा करता है । इसका मूल कारण यह है कि कोई भी भारतीय चिन्तन एकपक्षीय अथवा एकाङ्गी नहीं, निर्बन्धपरायण नहीं ! कोई भी चिन्तन पाठक को भ्रम अथवा अन्धकार में नहीं रखता । पूर्वपक्ष के मण्डन एवं खण्डन के अनन्तर ही अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत करता है । बौद्धिक ईमानदारी का ऐसा अद्भुत साक्ष्य सम्पूर्ण विश्व में और कहीं नहीं उपलब्ध है ।

साहित्यशास्त्रीय चिन्तन का विशेष महत्त्व इसलिए है कि यह वेदान्तादि दर्शनों की तरह शुष्क तर्कों से जगत्प्रपञ्च की निस्सारता सिद्ध करते हुए, परम लक्ष्य तक नहीं पहुँचाता । प्रत्युत अनुभूयमान जगत् एवं जागतिक सुखों का समर्थन करते हुए भी, रसोद्रेक के माध्यम से वह हमें ब्राह्मी-स्थिति तकप हुँचा देता है । उस बिन्दु तक पहुँचकर साहित्य-शास्त्रीय चिन्तन औपनिषदिक गवेषणा का पर्याय प्रतीत होने लगता है । 'सद्यः पर निर्वृति' ही काव्य अथवा साहित्य का एकमात्र प्रयोजन है । काव्य प्रणयन से यश और अर्थ मिले या न मिले, शिवेतर क्षति हो या न हो, व्यवहार-शिक्षा मिले या न मिले दोनों ही बिकल्प सम्भव हैं । परन्तु काव्य रचना की ब्राह्मी स्थिति से कवि को और उसके अनुशीलन से पाठक को 'सद्यः परनिर्वृति' (तात्कालिक आनन्द) की अनुभूति तो होती ही है । यही आनन्द अथवा आह्लाद रस है, और यही रस परब्रह्म का स्वरूप भी है—आनन्दो वै रसः, रसो वै सः ।

साहित्यशास्त्र को ही काव्यशास्त्र अथवा अलङ्कारशास्त्र भी कहा गया है । साहित्यशास्त्रीय चिन्तन के बीज यद्यपि हमें वैदिक वाङ्मय में भी मिलते हैं, तथापि इसकी सुदृढ़ स्थापना हम सर्वप्रथम आचार्य भरत (ई० पू० चौथी शती) के नाट्यशास्त्र में पाते हैं । इस महनीय ग्रन्थ में पहली बार रस, अलंकार, छन्द, गुण एवं प्रवृत्ति जैसे काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की समीक्षा की गई । नाट्यशास्त्र की काव्यशास्त्रीय स्थापनाएँ ही

अगली दो सहस्राब्दियों तक पल्लवित एवं पुष्पित होती रहीं। मेधाविरुद्र, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, राजशेखर, कुन्तक, महिमभट्ट, रुय्यक, मम्मट, भोज, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने गूढ प्रतिभ चिन्तनों से साहित्यशास्त्र को परिपुष्ट किया तथा उसे साङ्गोपाङ्ग बनाया।

यह साहित्यशास्त्रीय चिन्तन आपातः रसगङ्गाधरकार (सत्रहवीं शती ई०) के साथ समाप्त सा परिलक्षित होता है। परन्तु है यह कोरा भ्रम ही! क्यों कि मुगल सल्तनत के बाद भी संस्कृत भाषा का वर्चस्व भारत में अक्षुण्ण रहा। अतएव काव्य एवं काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन निर्बाध गति से होता रहा। यद्यपि यह समय ब्रजभाषा-वाङ्मय के उत्थान का रहा, परन्तु उस उत्थान के मूल में भी संस्कृत-वाङ्मय ही प्रभावी था। बिहारी की सतसई पर कालिदास, अमरुक, गाथा सप्तशती एवं आर्यासप्तशती का सीधा प्रभाव परिलक्षित होता है। आचार्य भिखारीदास का 'काव्यनिर्णय' पूर्णतः संस्कृत काव्यशास्त्र का अधमर्ण सिद्ध होता है। महाकवि देव तो हिन्दी (ब्रजभाषा) के साथ ही साथ 'शृङ्गारविलासिनी' जैसा संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखते हैं। भक्ति एवं रीतिकाल के समस्त आचार्य एवं कवि संस्कृत कविता एवं काव्यशास्त्र के समज्ञ रहे होंगे—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

परन्तु पण्डितराजोत्तर संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा का ज्ञान, अरिचय के घनान्धकार से आच्छन्न था। न तो इस सन्दर्भ में किसी ने गवेषणा की और न ही जानने की उत्कण्ठा! पण्डितराज के अनन्तर कितने सर्वतन्त्र स्वतन्त्र आचार्य हुए, कितने टीकाकार हुए अथवा किन विपश्चितों ने आनुषङ्गिक रूप से काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की समीक्षा की? ये सारे प्रश्न इस शती के सातवें दशक तक प्रायः अनुत्तरित ही थे।

परन्तु मेरे प्रेष्ठ शिष्य, काव्यशास्त्रीय प्रतिभा के धनी आयुष्मान् डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव (प्रवक्ता, सी०एम०पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने अपने उच्चस्तरीय अनुसन्धान से 'पण्डितराजोत्तर काव्यशास्त्रीय चिन्तन' को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष बना दिया। इस शोधप्रबन्ध में न केवल पण्डितराजोत्तर सैकड़ों आचार्यों एवं चिन्तकों का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व निरूपित किया गया है, बल्कि गुण, अलंकार, रस, दोष, शब्दशक्ति एवं काव्यलक्षणादि के सन्दर्भ में प्रस्तुत उनके मौलिक योगदानों की गुण दोष-पुरस्सर समीक्षा भी की गई है।

आनन्द कुमार श्रीवास्तव को मैं प्रयाग नगर के संस्कृतज्ञों की नई पीढ़ी में सर्वाधिक अध्यनसायी एवं प्रबुद्ध मानता हूँ। आज के संस्कृत अध्यापक जहाँ जीविका प्राप्ति को ही विद्यार्जन का 'साध्य' मान कर, जीवन भर के लिये निश्चिन्त हुए बैठे हैं—वहीं आनन्द कुमार निरन्तर पढ़ने-पढ़ाने के साथ ही साथ, गहन सारस्वत चिन्तन में लगे हैं। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलनों तथा अन्यान्य संगोष्ठियों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। अभी भी वह अध्यापक कम, 'अधीती' अधिक हैं।

यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि जिस महनीय शोधप्रबन्ध से आनन्द कुमार जी को प्रभूत यश-कीर्ति एवं इलाहाबाद वि०वि० की डी० फिल्० उपाधि प्राप्त हुई थी—अब वह स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो रहा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के परिशीलन से काव्यशास्त्रानुरागियों को बड़ा परितोष मिलेगा। यह प्रबन्ध काव्यशास्त्र के नवीनतम विकासबिन्दुओं का संस्पर्श करता है—आचार्य डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी (काव्यालङ्कारकारिका) तथा डॉ० ब्रह्मानन्द शास्त्री (काव्य सत्यालोक) के माध्यम से ! जिन सैकड़ों अज्ञात अथवा ईषज्ज्ञात आचार्यों का, व्यक्तित्व, कर्तृत्व निरूपित कर, आनन्द जी ने उन्हें सर्वजनसंवेद्य बनाया है, उनका पुण्य उन्हें शतायुष्य प्रदान करे, यही मेरी मंगल कामना है।

**डॉ० राजेन्द्र मिश्र**
रीडर, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

# उपोद्घात

संस्कृत साहित्य की धारा वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर प्रवहमान है, किन्तु सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् का संस्कृत साहित्य प्रायः उपेक्षित रहा है, उसका उचित मूल्यांकन नहीं हुआ। विशेषतः संस्कृत साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में पण्डित-राज जगन्नाथ को अन्तिम आचार्य स्वीकार कर लिया गया और उत्तरवर्ती साहित्य-शास्त्र की आलोचना-समीक्षा नहीं की गयी। आज भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पाण्डुलिपि रूप में ही पुस्तकालयस्थ हैं, अद्यावधि अप्रकाशित हैं और जिनका प्रकाशन भी हुआ है वे आज अत्यन्त दुर्लभ हैं। आश्चर्य का विषय है कि लगभग ३०० वर्षों के इस साहित्य शास्त्र पर कोई विशेष शोध-कार्य भी सम्पन्न नहीं हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध पण्डितराजोत्तरयुगीन संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास एवं काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की आलोचना प्रस्तुत करता है। पण्डितराज के पश्चात् अनेक आचार्यों ने काव्यशास्त्र की रचना की। उन सबकी प्रतिपद समीक्षा एक प्रबन्ध में कथ-मपि सम्भव नहीं। फिर भी इतना अवश्य है कि पण्डितराजोत्तर आचार्यों पर समग्र रूप से प्रथम बार यह कार्य हुआ है।

पण्डितराजोत्तर आचार्य की बहुलता के कारण कुछ आचार्यों को, जो कि अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण हैं, उत्तरवर्ती युग का प्रतिनिधिभूत मानकर उनके योगदान की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। प्रायः प्रत्येक अध्याय में एक आचार्य को प्रमुख मानकर उसके मत की विस्तृत आलोचना एवं अन्य आचार्यों के वैशिष्ट्य मात्र का उल्लेख है।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों का अध्ययन करते समय केवल पण्डितराज के परवर्ती आचार्यों का ही नहीं अपितु उनके कुछ महत्त्वपूर्ण समकालीन आचार्यों का भी निरूपण किया गया है क्योंकि समकालीन ग्रन्थों से पण्डितराज सम्भवतः अप्रभावित रहे होंगे।

'योगदान' का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि कोई आचार्य किसी नवीन अलंकार अथवा रस की सृष्टि करता है अथवा कोई नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह तो प्रथम कोटि का योगदान है, जो पण्डितराजोत्तर आचार्यों में अत्यल्प मात्रा में उपलब्ध है। सभी आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अधिकांश ग्रहण करते हैं। इस दृष्टि से यदि हम अर्वाचीन आचार्यों को देखें तो प्रायः सभी आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से लक्षण एवं उदाहरण निस्संकोच ग्रहण किया है किन्तु उस पर पूर्ण रूप से विचार कर विषय को विशद एवं सरलतर रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया है। हमारा तो यह मत है कि यदि प्रारम्भिक स्तर पर काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर प्रभृति दुरूह ग्रन्थों का अध्ययन न करा कर इन ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाय तो

विद्यार्थी विषय-वस्तु को सरलता से समझ सकेगा और गहन ग्रन्थों के अध्ययन में समथ हो जायेगा।

पण्डितराजोत्तर आचार्य अपने पूर्ववर्ती जिस आचार्य से प्रभावित हैं तथा जिस ग्रन्थ-विशेष के आधार पर अपने लक्षण एवं भेदोपभेद का निरूपण करते हैं, उनका उल्लेख प्रायः किया गया है। इस दृष्टि से यह तुलनात्मक अध्ययन भी हो गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रत्येक अध्याय के अन्तर्गत प्रतिपाद्य विषय के इतिहास पर अत्यंत सामान्य दृष्टिपात किया गया है। यथा काव्यलक्षण, शब्दशक्ति इत्यादि के विवेचन में पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का अधिक विश्लेषण अथवा आलोचना नहीं की गयी है, पौनरुक्त्य दोष से बचने के लिये। केवल अपने प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्ध जोड़ने के लिये उस काव्यशास्त्रीय तत्त्व के उद्भव एवं विकास का संक्षेप में उल्लेख अथवा स्मरण मात्र किया गया है। पिष्टपेषण से सर्वत्र बचने का प्रयास किया गया है।

योजना की दृष्टि से सम्पूर्ण प्रबन्ध विषय-सूची के अनुसार सात अध्यायों में विभक्त है। विषय सूची में अध्यायों के अन्तर्गत प्रमुख उपशीर्षकों का भी उल्लेख है तथा अन्त में परिशीलित एवं सहायक ग्रन्थों की सूची संलग्न है। प्रस्तुत कृति में अनेक विद्वानों के ग्रन्थों का यथेष्ट अनुशीलन किया गया है किन्तु जहाँ भी किसी ग्रन्थ से विशेष सहायता ली गयी है उसका उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है। इन परोक्ष-अपरोक्ष गुरुजनों के प्रति मैं ऋणी एवं कृतज्ञ हूँ।

इस कृति का प्रकाशन-कार्य डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ प्रवक्ता संस्कृत विभाग, दौलतराम कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रेरणा से ही पूर्ण हो सका, तदर्थ मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ। अपनी पत्नी डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद के योगदान की चर्चा करना मेरे लिए आवश्यक है, जिन्होंने लेखन के सम्बन्ध में अनेकानेक परामर्शों तथा प्रूफ-पठन से मेरे कार्य को सफल बनाया।

मैं अपने श्रद्धेय गुरुवर्य एवं शोध निर्देशक डॉ० राजेन्द्र मिश्र सम्मान्य रीडर, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने अनेकविध व्यस्तताओं के पश्चात् भी अपना विद्वत्तापूर्ण निर्देशन मुझे प्रदान किया। अन्ततः ईस्टर्न बुक लिंकर्स के स्वत्वाधिकारी श्री श्यामलाल मल्होत्रा जी के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करना मेरा धर्म है जिन्होंने प्रस्तुत कृति को प्रकाशन के लिए स्वीकार किया।

सी-६३२ गुरु तेग बहादुर नगर
(करेली स्कीम)
इलाहाबाद-२११०१६
दूरभाष : ६०३११५

आनन्द कुमार श्रीवास्तव

# विषय-सूची

पञ्चम अध्याय १७४

## काव्य दोष विवेचन

काव्य दोष स्वरूप सम्बन्धी प्राचीन आचार्यों के मत। दोष भेदों का परिगणन। वर्णदोष , पददोष, वाक्य दोष, अर्थ-दोष और रसदोष।

षष्ठ अध्याय २०२

## गुण, रीति एवं वृति विवेचन

भरत मुनि, वामन एवं मम्मट के गुण सम्बन्धी मत। नृसिंह कवि, हरिदास सिद्धान्तवागीश, छज्जूराम शास्त्री, श्रीकृष्ण कवि, विश्वनाथदेव, भूदेव शुक्ल, अच्युतराय, विद्या-राम, ब्रह्मानन्द शर्मा के मत में गुण का स्वरूप । गुण-भेद—वर्ण-दोषापवाद, पददोषापवाद, वाक्यदोषापवाद, पदैकदेश-दोषापवाद, नैसर्गिकवाक्यदोषापवाद, अर्थदोषापवाद, रस-दोषापवादरूप गुण ; समस्त दोषापवादों का तीन वर्ग में विभाजन; माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण । गुणों के व्यञ्जक वर्ण।

प्रमुख प्राचीन आचार्यों के रीति सम्बन्धी मत। विद्या-राम, हरिदास सिद्धान्तवागीश, नरसिंह कवि, श्रीकृष्ण कवि, अच्युतराय, छज्जूराम शास्त्री के मत में रीति का स्वरूप। रीति-भेद—वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली, लाटी और मागधी ।

प्रमुख प्राचीन आचार्यों के वृत्ति सम्बन्धी मत। अच्युत-राय, श्रीकृष्ण कवि, विद्याराम के मत में रीति का स्वरूप। वृत्ति भेद—कैशिकी, आरभटी, सात्वती, भारती; मधुरा, परुषा और प्रौढा; पद भेद—कठोर, प्राकृत, ग्राम्य, कोमल, नागर और उपनागर; रीति, वृत्ति और रस।

प्रथम अध्याय

# पण्डितराजोत्तरयुगीन संस्कृत काव्यशास्त्र एवं उनके लेखक

ध्वनि सिद्धान्त को केन्द्र मानकर काव्यशास्त्र के इतिहास को प्रायः तीन भागों में विभक्त किया जाता है—(१) पूर्व ध्वनिकाल—भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट प्रभृति आचार्य इसके अन्तर्गत आते हैं, (२) ध्वनिकाल—जिसमें आनन्दवर्द्धन, मम्मट प्रभृति आचार्य आते हैं, और (३) उत्तर ध्वनिकाल—इसके अन्तर्गत मम्मट, विश्वनाथ, राजशेखर, जयदेव, क्षेमेन्द्र, शारदातनय, भानुदत्त, रूपगोस्वामी, अप्पय दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों की गणना की जाती है। भरत से लेकर पण्डितराज तक, लगभग दो हजार वर्षों में संस्कृत काव्यशास्त्र में रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति सम्प्रदायों का विकास हुआ।

प्रायः सभी विद्वान् पण्डितराज जगन्नाथ को ही संस्कृत काव्यशास्त्र का अन्तिम मूर्धन्य आचार्य स्वीकार करते हैं। अतएव पण्डितराज के समकालीन एवं उत्तरवर्ती आचार्यों एवं उनके काव्यशास्त्र की उपेक्षा की गयी। काव्यशास्त्र-इतिहास ग्रन्थों में पण्डितराज के निरूपण के पश्चात् या तो आधुनिक आचार्यों पर प्रकाश नहीं डाला गया अथवा उनका संक्षेप में उल्लेख कर दिया गया। अनेक ग्रन्थ अब भी पाण्डुलिपि रूप में पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं और जिनका प्रकाशन भी हुआ है वे अतीव दुर्लभ हैं।

यह सुदृढ़ तथ्य है कि पण्डितराज के पश्चात् कोई भी ऐसा लेखक नहीं हुआ जिसे मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिष्ठापक आचार्य भरत, भामह, वामन, आनन्दवर्धन एवं कुन्तक की श्रेणी में अथवा काव्यशास्त्र को समन्वित रूप प्रदान करने वाले मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज प्रभृति आचार्यों की श्रेणी में रखा जा सके। किसी टीकाकार ने भी लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों की भाँति कोई नयी व्याख्या नहीं प्रस्तुत की।

किन्तु जिस प्रकार भरत से लेकर पण्डितराज तक संस्कृत काव्यशास्त्र की अजस्र धारा प्रवाहित होती रही है, उसी प्रकार पण्डितराज के पश्चात् भी संस्कृत काव्य के विश्लेषण की अविच्छिन्न परम्परा दिखाई देती है। अनेक लेखकों ने काव्यशास्त्रीय

तत्त्वों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया। कुछ ने काव्यशास्त्र के किसी एक अङ्ग-विशेष का ही निरूपण किया तो कुछ आचार्यों ने प्राचीन अथवा अर्वाचीन ग्रन्थों की टीकायें लिख कर काव्यशास्त्र को जीवित रखने का सफल प्रयास किया।

पण्डितराज के पश्चात् तो आचार्यों में काव्यशास्त्र लिखने की प्रवृत्ति पूर्वकाल की अपेक्षा अधिक दिखाई देती है। सम्भवत: उस युग में लक्षण ग्रन्थों की रचना ही विद्वत्ता का सूचक मानी जाती थी और इसी के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करना सम्भव था। अतएव काव्यशास्त्र की रचना किसी नये सिद्धान्त की स्थापना के लिये नहीं की गयी अपितु 'बिना काव्यशास्त्र लिखे प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी' केवल इस औपचारिकतावश ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई। यही कारण है कि इन ग्रन्थों में प्राय: पिष्टपेषण ही उपलब्ध होता है।

यह ठीक है कि पण्डितराज के पश्चात् आचार्यों ने संस्कृत काव्यशास्त्र में कोई विशिष्ट मौलिक योगदान नहीं दिया, किन्तु क्या प्रवाह की अविच्छिन्नता को बनाये रखना कुछ कम है ? पुनश्च, सभी लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखकों से अधिकांश ग्रहण करते हैं और फिर उसमें परिष्कार कर अपने ढंग से नवीन रूप में प्रस्तुत करते हैं। यदि निष्पक्ष रूप से देखा जाय तो किसी भी आचार्य की स्वकीय उद्भावना अत्यल्प मात्रा में ही होती है। मम्मट, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ प्रभृति सभी आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का प्रचुर उपयोग किया है। क्या इससे उनकी प्रतिष्ठा कम हो जाती है ?

यदि आचार्य पूर्ववर्ती शास्त्रकारों का ही लक्षण प्रस्तुत करता है, तो ठीक है क्योंकि लक्षण तो भिन्न नहीं हो सकते, किन्तु लक्षण की शब्दावली, उसकी विशदता, सरलता, प्रस्तुतीकरण, यही लेखक का अपना होता है। पण्डितराजोत्तर आचार्यों के समक्ष लगभग दो सहस्र वर्षों का परिपक्व काव्यशास्त्र था। उन्होंने उसका मन्थन कर सार प्रस्तुत किया। अतएव पण्डितराज के पश्चात् काव्यशास्त्र की शब्दावलि एवं प्रस्तुति अधिक सरल एवं विशद दिखाई देती है।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों का परिशीलन करने पर कुछ सामान्य विशेषतायें दृष्टिगत होती हैं—(१) प्राय: सभी आचार्यों की ग्रन्थरचना का उद्देश्य 'बालबोधाय' रहा है। यही कारण है कि आचार्यों ने समीक्षा (खण्डन-मण्डन) शैली का आश्रय न लेकर सीधे लक्षण व लक्ष्य का स्वरूप उपन्यस्त कर दिया है और यह उचित भी था क्योंकि अनेक प्रकार से आलोचना होकर अब तक काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का स्वरूप पूर्णत: निर्धारित हो चुका था और पुनः शास्त्रार्थ में उलझने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी।

इसके विपरीत कुछ प्रगाढ पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। विश्वेश्वर पण्डितकृत अलङ्कारकौस्तुभ ग्रन्थ ऐसा ही है, जिसमें आचार्य ने नव्य न्याय की भाषा में अलङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया। पण्डितराज ने रसगंगाधर में जिस नैयायिक भाषा का बीजारोपण किया, वह विश्वेश्वर पण्डित में चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है।

(२) पण्डितराज के 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्' प्रतिज्ञा ने परवर्ती आचार्यों को अत्यधिक प्रभावित किया है। प्रायः सभी आचार्य स्वरचित लक्षण के साथ-साथ स्वरचित लक्ष्य रूप उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। इससे काव्यशास्त्र के साथ-साथ उनकी कविप्रतिभा का भी परिचय मिल जाता है और वे अनुरूपतम लक्ष्य उपस्थापित करने में भी समर्थ होते हैं। इससे पूरी कृति आचार्य की अपनी हो जाती है। स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत करने के कारण ही प्रायः आचार्य अपने नामों के आगे कवि शब्द का भी प्रयोग करते हैं, यथा—नरसिंह कवि, विद्याराम कवि, कृष्ण कवि इत्यादि।

(३) आचार्य विद्यानाथ ने काव्यशास्त्र में 'यशोभूषण' की जिस परम्परा का श्रीगणेश किया था, वह पण्डितराजोत्तरयुगीन आचार्यों की प्रवृत्ति के रूप में दिखायी देती है। काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का लक्षण लिखकर आचार्यों ने स्वरचित उदाहरणों में अपने आश्रयदाताओं का गुणगान किया है। इससे काव्यशास्त्र के साथ-साथ काव्य व नाटकादि का प्रणयन भी हो जाता है और एक ही पात्र के जीवन से समस्त उदाहरण देना, यह इन ग्रन्थों की बहुत बड़ी देन है। कुछ आचार्यों ने ग्रन्थ नाम अपने आश्रयदाताओं के नाम के आधार पर रखे, यथा—नञ्जराजयशोभूषण, रामवर्मयशोभूषण, गोदवर्मयशोभूषण, यशवन्तयशोभूषण, रघुनाथभूपालीय, रामचन्द्रयशोभूषण इत्यादि। कुछ आचार्यों ने ग्रन्थ-अभिधान सामान्य रखे पर समस्त उदाहरणों में अपने आश्रयदाताओं की ही प्रशंसा की, यथा—अलङ्कारमंजूषा, अलङ्कारकौस्तुभ (कल्याण सुब्रह्माण्य कृत), अलङ्कारग्रन्थ, काव्यकलानिधि, अलङ्कारनिकष, वृत्तालंकाररत्नावली, गुणरत्नाकर, अलंकारमंजरी, शिवार्थालंकारस्तव इत्यादि। कुछ ने आंशिक रूप से अपने आश्रयदाताओं का गुणगान किया, यथा काव्यविलासकार चिरञ्जीव भट्टाचार्य एवं प्रकाशोत्तेजिनी टीकाकार वेदान्ताचार्य। श्रीकृष्ण परब्रह्मतन्त्र प्रभृति सन्यासी आचार्यों ने स्वरचित उदाहरणों में अपने अभीष्ट देव का ही गुणगान किया है।

(४) आचार्यों के ऊपर चन्द्रालोक एवं कुवलयानन्द का प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्रायः आचार्य एक ही कारिका के पूर्वार्ध में लक्षण एवं उत्तरार्ध में लक्ष्य दोनों उपनिबद्ध करते हैं। उदाहरणार्थ-रसमीमांसा आदि।

(५) कुछ आचार्य महाकाव्यादि वाङ्मय के माध्यम से काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की व्याख्या करते हैं, यथा—मन्दारमरन्दचम्पू, रामोदयम् महाकाव्य (इलचूर रामस्वामीकृत), रामसुन्दर महाकाव्य (सुन्दरदेव वैद्य कृत) इत्यादि।

(६) पण्डितराजोत्तर युग में अलङ्कारशास्त्र व नाट्यशास्त्र की दोनों भिन्न धारायें पुनः एक हुई सी दिखाई देती है। आचार्यगण कविराज विश्वनाथ की भाँति एक ही ग्रन्थ में अलङ्कारशास्त्र व नाट्यशास्त्र दोनों का ही समान रूप से वर्णन करते हैं। कृष्णकवि ने तो मन्दारमरन्दचम्पू में अलङ्कारशास्त्र व नाट्शास्त्र के अतिरिक्त छन्दः शास्त्र एवं कवि शिक्षा का भी निरूपण किया है।

(७) प्रायः आचार्यों ने अभीष्ट मत प्रस्तुत करने के अनन्तर अन्य पूर्वाचार्यों के

मतों का भी उल्लेख किया है। इससे एक स्थल पर ही तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है।

पण्डितराज जगन्नाथ शाहजहाँ के राज्यकाल (१६२८ ई०-१६६६ ई०) में थे। अतः उनका समय १७वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित ही है। पण्डितराजकृत रसगंगाधर का रचनाकाल १६५० ई०-१६६० ई० के मध्य स्वीकार किया जाता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन का क्षेत्र इसके पश्चात् ही होना चाहिए किन्तु इस ग्रन्थ में १७वीं शती के सभी अल्पप्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध आचार्यों का सन्निवेश कर लिया गया है क्योंकि इनके ग्रन्थों का प्रभाव रसगंगाधर पर नहीं पड़ा होगा।

वैसे तो पण्डितराजोत्तरवर्ती सभी आचार्य पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अल्पप्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध की कोटि में ही आते हैं, किन्तु चूँकि प्रस्तुत अध्ययन की सीमा आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र (लगभग ३०० वर्ष) है अतएव सुगमता के लिए हमने अपेक्षाकृत प्रसिद्धि-अप्रसिद्धि के आधार पर इस अध्याय को चार भागों में विभक्त कर लिया है—

(क) **प्रसिद्ध आचार्य**—जो अपेक्षाकृत 'प्रसिद्ध आचार्य' हैं अथवा जिनके ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं अथवा जिनमें कुछ नवीनता है, उन्हें प्रसिद्ध आचार्य माना गया है। ये ही आचार्य अध्ययन के प्रमुख आधार रहे हैं। अतएव इन्हें प्रतिनिधिभूत मानकर प्रबन्ध लिखा गया है।

(ख) **अल्प प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध आचार्य**—जिन आचार्यों के ग्रन्थ अप्रकाशित हैं, केवल पाण्डुलिपि रूप में पुस्तकालयों में ही उपलब्ध हैं अथवा जिनका उल्लेख मात्र किसी ग्रन्थ में किया गया है, उन्हें इस कोटि में रखा गया है।

(ग) **टीकाकार आचार्य**—इसमें पण्डितराजोत्तरवर्ती अप्रकाशित अथवा प्रकाशित टीकाओं के रचयिता आचार्यों का संकलन है।

(घ) **अज्ञात लेखक ग्रन्थ**—इस स्तम्भ के अन्तर्गत उन ग्रन्थों का उल्लेख है जिनके आचार्यों का नाम अज्ञात है। इन चारों विभाजनों के अन्तर्गत उन्हीं आचार्यों का संकलन है जिनकी तिथि या तो सम्भावित है, अथवा निश्चित है। जिनकी तिथि अद्यावधि अनिश्चित है, उन्हें छोड़ दिया गया है। सम्भव है उनमें से कुछेक पण्डित-राजोत्तरवर्ती हों। इनमें नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों को भी सम्मिलित कर लिया गया है क्योंकि नाम मात्र से अलङ्कारशास्त्र व नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भेद कर पाना दुष्कर था।

## (क) प्रसिद्ध आचार्य

### १. राजचूडामणि दीक्षित

आचार्य राजचूडामणि का जन्म दक्षिण भारतीय संस्कृत विद्वान् कुमार भावस्वामी सोमयाजी के कुल (अतिरात्रयाजिन् वंश) में हुआ था[1] जिन्होंने अद्वैत चिन्तामणि नामक वेदान्तविषयक ग्रंथ की रचना की थी। इनके पिता का नाम सत्य मंगल रत्नखेट श्री

१. अत्र अस्मत्पितामहचरणा भवस्वामिभट्टाः (काव्यदर्पण, पृ० २८२)

निवासाध्वरी तथा माता का नाम कामाक्षी था। काणे प्रभृति विद्वानों का मत है कि श्री निवास दीक्षित एवं प्रकृत श्री निवासाध्वरी एक ही व्यक्ति हैं।[२] इन्होंने काव्य, काव्य-शास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। अपनी विद्वत्ता के कारण ही ये 'दन्तिद्योतिदिवाप्रदीप' विरुद से अलंकृत थे। इनके तीन पुत्र हुए—केशव दीक्षित, अर्धनारीश्वर दीक्षित और राजचूडामणि दीक्षित। राजचूडामणि दीक्षित के युवावस्था में ही माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण अग्रज अर्धनारीश्वर दीक्षित ने इन्हें सामान्य शिक्षा-दीक्षा दी।[३] इसीलिए आचार्य ने इन्हें गुरु कहा है।

कृष्णमाचार्य के अनुसार केशव दीक्षित एवं शेषाद्रिशेखर दीक्षित राजचूडामणि के वैमात्रेय थे किन्तु के० एस० रामस्वामी शास्त्री ने शेषाद्रिशेखर का उल्लेख नहीं किया है और न ही केशव दीक्षित को वैमात्र बतलाया है। आचार्य ने अपनी कृति के प्रत्येक उल्लास के अन्त में अपने माता-पिता एवं अग्रज का उल्लेख किया है—इतिश्री दन्तिद्योतिदिवाप्रदीपाङ्कसाग्निचिद्विश्वजिदतिरात्रयाजिसत्यमंगलरत्नखेटश्रीनिवासदीक्षिततनयस्य कामाक्षीगर्भसंभवस्य श्रीमदर्धनारीश्वरदीक्षितगुरुचरणसहजतालब्धविद्यावैशद्यस्य श्रीराजचूडामणिदीक्षितस्य कृतो काव्यदर्पणे··· (काव्यदर्पण, पृ० २७)। लेखक ने वार्त्तिकभरण तथा चतुर्दण्डिप्रकाशिका के लेखक वेंकटेश्वर मखी से मीमांसा का अध्ययन किया था। इनके अलंकारशास्त्रीय गुरु का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवत: इनकी भगिनी अप्पयदीक्षित की द्वितीय पत्नी थी।[४]

राजचूडामणि ने अपने जन्मकाल और जन्मस्थान का उल्लेख नहीं किया है। फिर भी प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि इनका जन्म तोण्डीरा में सुर-समुद्र नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता का समय १७ वीं शताब्दी निश्चित-सा है। अतः लेखक का समय १६ वीं शती का उत्तरार्ध अथवा १७ वीं शती का पूर्वार्ध ठहरता है। इसके अतिरिक्त लेखक ने तन्त्रशिखामणि नामक मीमांसा ग्रंथ के अन्त में रचनाकाल १६३६ ई० दिया है। अत: ये नीलकण्ठ विजयचम्पू (१६३६ ई०) के रचयिता नीलकंठ दीक्षित के समकालीन थे।[५] श्री आर० कृष्णस्वामी शास्त्री का मत है कि नीलकण्ठ-दीक्षित द्वारा नलचरित नाटक में प्रयुक्त बालकवि शब्द (सरसकविना यदस्तूयत बाल-कविना) राजचूडामणि के लिये ही आया है और प्रकृत लेखक यात्राप्रबन्ध के रचयिता समरपुंगव का समकालीन है।[६] राजचूडामणि ने काव्यदर्पण ग्रंथ के मंगलाचरण में

२. श्री निवास दीक्षित—He was probably the father of राजचूडामणि दीक्षित (History of Sanskrit Poetics-Kane, Pg. 441)

३. के० एस० रामस्वामी शास्त्री : काव्यदर्पण, Foreword, Pg. VIII

४. वही, Pg. X

५. वही, Pg. Ix

६. वही, Pg. IX-X.

सरस्वती देवता की स्तुति की है।[७] सम्भवतः यही आचार्य का उपास्य देवता है।

टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने राजचूडामणि विरचित कमलिनी कलहंसनाटिका की भूमिका में लेखककृत २२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) यजु:शाखाव्याख्या, (२) दशोपनिषद् व्याख्या, (३) शास्त्रदीपिका व्याख्या कर्पूरवार्त्तिका, (४) द्वादशलक्षणी व्याख्या, तन्त्रशिखामणिः,(५) संकर्ष मुक्तावलिः, (६) रुचिदत्तवृत्तिर्न्यायचूडामणिः, (७) चिन्तामणिदर्पणम्, (८) शृंगारसर्वस्वनाम भाणः भोजचम्पूपूरको युद्धकाण्डः, (९) भारतचम्पूः, (१०) वृत्ततारावलिः, (११) रत्नखेटविजयम्, (१२) मंजुभाषिणी, (१३) रामकृष्णधर्मभुवां कथात्रयी, (१४) शंकरार्य तारावली, (१५) शंकराभ्युदयम्, (१६) कंसवधम, (१७) रुक्मिणीपरिणयम्, (१८) कमलिनीकलहंसनाटिका, (१९) आनन्दराघवनाटकम्, (२०) अलंकारचूडामणिः, (२१) चित्रमञ्जरी, (२२) काव्यदर्पणम्। इसके अतिरिक्त रघुनाथभूपविजय, कान्तिमतीपरिणयम् और साहित्यसाम्राज्यम् नामक ग्रन्थ भी प्रकृतलेखककृत माने जाते हैं।[८] एम0 कृष्णमाचार्य एवं डा० कपिलदेव द्विवेदी रुक्मिणीपरिणय काव्य के स्थान पर रुक्मिणी कल्याण का उल्लेख करते हैं।[९]

लेखक ने काव्यशास्त्रविषयक दो ग्रंथों—अलंकारचूडामणि और काव्यदर्पण—की रचना की है। काणे महोदय अलंकारचूडामणि के स्थान पर अलंकारशिरोमणि का उल्लेख करते हैं।[१०] प्रथम ग्रंथ में मुख्यतः काव्यालंकारों का विवेचन है जो सम्भवतः अप्रकाशित है। द्वितीय ग्रन्थ को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री टी० के० बालसुब्रह्मण्य (श्री वाणीविलास पब्लिशिंग हाउस श्रीरंगम) को है। यह ग्रन्थ पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री के सम्पादकत्व में उपर्युक्त प्रकाशन के माध्यम से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग में प्रथम उल्लास से लेकर षष्ठ उल्लासपर्यन्त विषय-वस्तु निबद्ध है।

काव्यदर्पण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आचार्य दीक्षित, मम्मट से अत्यधिक प्रभावित हैं। उसने काव्यप्रकाश के आधार पर ही कारिकाओं की रचना कर उसकी वृत्ति लिखी। प्रायः काव्यप्रकाश और उसकी वृत्ति तथा काव्यदर्पण और उसकी वृत्ति में समानता दिखायी देती है। कहीं-कहीं मम्मट की पूरी शब्दावली ग्रहण करली गयी है और मम्मट प्रदत्त उदाहरणों का ही विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, किन्तु स्वरचित उदाहरण भी यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। चन्द्रालोक एवं कुवलयानन्द की भाँति कारिका के पूर्वार्ध में लक्षण तथा उत्तरार्ध में लक्ष्य निबद्ध है। कारिका के पूर्वार्ध में निबद्ध लक्षण

---

७. नियत्यनियतां ह्लादमयीं नवरसोज्ज्वलाम्।
कृतिं स्वतन्त्रां कुर्वाणा कवेर्जयति भारती ॥ (काव्यदर्पण, पृ० १)

८. काव्यदर्पण—Fore word Pg. VIII-IX

९. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ0 256

१०. History of Sanskrit Poetics, Pg. 403&434.

और कहीं-कहीं लक्ष्य भी प्रायः शब्दशः कृष्णशर्मन् रचित मन्दारमरन्दचम्पू से मेल खाते हैं। सम्भवतः कृष्णशर्मन् ही परवर्ती होने के कारण राजचूडामणि के ऋणी हैं। काव्यप्रकाश की भाँति ग्रन्थ का विभाजन १० उल्लास में हुआ है।

संक्षेप में, प्रस्तुत ग्रन्थ में समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्व व्याख्यात हैं। यह तथ्य है कि प्रकृत ग्रन्थ में नवीनता अथवता मौलिकता नहीं के बराबर जैसी है किन्तु इसकी विषय-प्रतिपादन शैली, नवीन उदाहरण एवं लक्षण लक्ष्य समन्वित कारिकाओं से दुरूह काव्यशास्त्रीय विषय भी सुग्राह्य हो गया है।

२. भूदेव शुक्ल

भूदेव शुक्ल का जन्मस्थान और काल अन्य आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। रसविलास ग्रन्थ के अन्त में आचार्य ने अपने निवास-स्थल, पिता एवं गुरु का परिचय दिया है। भूदेव गुजरात प्रान्त में जम्बूसर स्थल के निवासी थे। नारायण शास्त्री खिस्ते आचार्य का निवास स्थान कश्मीर में जम्मू नगर को मानते हैं।[११] इनके पिता का नाम सुकदेव अथवा शुकदेव था। इनके अलंकारशास्त्र के गुरु श्रीकण्ठ दीक्षित थे जिनसे आचार्य ने काव्यप्रकाशिका का अध्ययन किया था।[१२] इसके अतिरिक्त ईश्वरविलास ग्रंथ में आचार्य ने अपने दूसरे गुरु रामरामा का उल्लेख किया है।[१३] सम्भवतः इनसे दर्शन अथवा धर्मशास्त्र का अध्ययन किया होगा। भूदेव ने मंगलाचरण में देव-विशेष की स्तुति नहीं की है। वे नव रसों को आत्मा की अभिव्यक्ति मानते हैं।[१४]

जहाँ तक आचार्य के जन्मकाल का प्रश्न है वह निश्चितरूप से पण्डितराज का परवर्ती है। आचार्य ने रसगंगाधर के बहुत से अंशों को ज्यों का त्यों ग्रहण किया है और उन्हें पण्डितराज का मत न बताकर साहसिकाः, नव्याः और केचित् पदों से कहा है। पण्डितराज का समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित-सा है। अतः आचार्य का समय १७वीं शती का उत्तरार्ध अथवा उसके पश्चात् ठहरता है।

काणे महोदय हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स में पृष्ठ ४२७ पर रसविलास का रचनाकाल १५५० ई० लिखते हैं तो पृष्ठ ४३३ पर १६६०-१७२० ई० के मध्य मानते हैं। कुमारी प्रेमलता शर्मा ने रसविलास से ७२ ऐसे स्थलों (गद्यांशों) को खोज निकाला

---

११. Proceeding International Sanskit Conference Vol. I-Part, I, १९७५.

१२. जम्बूसरस्थितिजुषः सुकदेवसूरे—
भूदेवपण्डितकविः प्रथमस्तनूजः।
श्रीकण्ठदीक्षितगुरोर्ज्ञाता काव्यप्रकाशिका (रसविलास, पृ० ९९)

१३. श्रीरामरामाशिष्येण भूदेवेन विनिर्मितः (वही, पृ० ११८)

१४. काव्यवाक्यसमुत्पन्नमनोवृत्या विनाशिते।
अज्ञानांशे स्फुरन्नव्यादात्मा नवरसात्मकः॥ (वही, पृ० १)

है जिनका रसगंगाधर से पूर्णतः अथवा अंशतः साम्य है।[15] पण्डितराज तो 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्' वचनबद्ध हैं और इसके विपरीत भूदेव स्पष्टरूप से कहते हैं कि मैंने नया कुछ भी नहीं लिखा है।[16] अतः निश्चित है कि भूदेव शुक्ल पण्डितराज के ऋणी एवं परवर्ती है। काणे के अनुसार रसगंगाधर का समय १६४१ ई०-१६५० ई० है। प्रेमलता शर्मा का कहना है कि रसविलास की रचना १६६० ई० से पूर्व सम्भव नहीं है और जहाँ तक इसके अपर सीमा का प्रश्न है रसविलास और ईश्वरविलासदीपिका की हस्तलिखित प्रतियों में क्रमशः १७३७ ई० तथा १७२० ई० समय अंकित है। अतएव रसविलास की रचना १६६० ई०-१७२० ई० के मध्य हुई होगी।[17]

ईश्वरविलासदीपिका के अन्तिम पद्य से ज्ञात होता है कि आचार्य ने कुछ समय तक वाराणसी के मणिकर्णिका नामक स्थान में निवास किया था।[18] सम्भवतः यहीं आचार्य रसगंगाधर से परिचित हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि भूदेव प्राचीन आलंकारिकों से प्रभावित थे क्योंकि वे नव्य आचार्य पण्डितराज के मतों का उल्लेख आदरणीय शब्दों से नहीं करते हैं। कहीं-कहीं आचार्य ने रसगंगाधर के विचारों एवं उद्धरणों को ग्रहण कर लिया है किन्तु उनके परकृतित्व का उल्लेख भी नहीं किया है[19] तो कुछ स्थल ऐसे हैं जिन्हें वह भिन्न आचार्य का बताता है।[20]

आचार्य ने सम्भवतः कुल ७ ग्रंथों की रचना—(१) रसविलास, (२) रुक्मिणीविलास, (३) रामचरित, (४) धर्मविजय, (४) आत्मतत्त्वप्रदीप, (६) ईश्वरविलासदीपिका, (७) रसविलास में उपन्यस्त फुटकर पद्य। रुक्मिणीविलास एवं रामचरित काव्य हैं जिनके कुछ पद्यों का उद्धरण रसविलास में दिया गया है। धर्मविजय पाँच अंकों का नाटक है। आत्मतत्त्वप्रदीप दर्शनशास्त्र विषयक सटीक ग्रन्थ है और ईश्वरविलासदीपिका उसकी विशद टीका है। इसके अतिरिक्त रसविलास में कुछ ऐसे पद्य उद्धृत हैं जो न रुक्मिणीविलास से सम्बद्ध हैं और न ही रामचरित से। इस प्रकार भूदेव वेदान्त व अलंकारशास्त्र के पण्डित तथा नाटककार एवं कवि थे।

रसविलास ही भूदेव का एकमात्र अलङ्कारशास्त्रविषयक ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन पूना ओरियण्टल बुक हाउस, पूना से कुमारी प्रेमलता शर्मा के सम्पादकत्व में हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक का विवेच्य विषय मुख्यतः रस है और रसोपयोगी अन्य तत्त्वों की आनुष-

---

१५. वही, (पृ० १०१-११६)

१६. इत्यावेदितमस्माभिर्नवं नात्र प्रकल्पितम् (वही, पृ० ९९)

१७. वही, भूमिका, पृ० १५

१८. मोक्षाश्रमस्थितिसरोरुहकर्णिकायां
स्वापं गतस्य समये मणिकर्णिकायां। (वही, पृ० ११७)

१९. श्रीतातपादैर्विहिते………(वही, पृ० २०)

२०. पृ० १, २, ३, ४, ५, २०, २८ आदि (वही)

ङ्गिक रूप से चर्चा की गयी है। आचार्य ने कारिका व गद्य दोनों में ही लक्षण उपन्यस्त किया है। कारिकायें प्रायः पूर्व आचार्यों की ग्रहण कर ली गयी हैं। इसका विभाजन सात स्तबक में किया गया है। काणे महोदय ने भ्रमवश मात्र चार स्तबकों का ही उल्लेख किया है।[२१] इसमें प्रतिपाद्य विषय क्रमशः इस प्रकार है—१. रसविवेक, २. नवरस-विवेचन, ३. भावनिरूपण, ४. गुणनिरूपण, ५. दोषनिरूपण, ६. दोषोद्धार, ७. काव्य-लक्षण वृत्तिनिरुपण।

रसविलास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आचार्य काव्यप्रकाश, काव्यप्रदीप एवं विशेषतः रसगंगाधर से प्रभावित है। वह ग्रन्थ में पूर्व आचार्यों के मतों का ही विवेचन व विश्लेषण करता है। ऐसा कोई स्थल नहीं दिखायी देता जहाँ आचार्य ने स्वतन्त्र मत रखा हो, उसका प्रस्तुतीकरण भी अपना नहीं है। संक्षेप में, रसविलास में मौलिकता का नितान्त अभाव है।

### ३. रामदेव चिरञ्जीव भट्टाचार्य

आचार्य का वास्तविक नाम रामदेव अथवा वामदेव है।[२२] किन्तु वह अपने ताऊ द्वारा प्राप्त चिरंजीव नाम से अधिक प्रसिद्ध है।[२३] इनका जन्म प्रसिद्ध ब्राह्मण कुल में हुआ था। काव्यविलास ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय के अन्त में आचार्य ने अपने पिता का नाम राघवेन्द्र शतावधान लिखा है।[२४] राघवेन्द्र सकल विद्या निष्णात थे। आचार्य ने अपने पिता से न्याय तथा अन्य अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया था। ये मूलतः गौड देश के निवासी थे। इनके गुरु का नाम रघुदेव न्यायालंकार था जिससे उन्होंने काव्य और अलंकारशास्त्र का अध्ययन किया था।[२५] आचार्य ने काव्यविलास के मंगलाचरण में श्रीकृष्ण की वन्दना की है। सम्भवतः यही उसके अभीष्ट देव हैं।

चिरञ्जीव ने अपनी कृति काव्यविलास के वीररस एवं सहोक्ति अलंकार प्रकरण में तथा वृत्तरत्नावली में उपन्यस्त उदाहरणों में बंगाल के शुजाउद्दौला नायब दीवान यशवन्त सिंह (शक संवत् १६५३=१७३१ ई०) का गुणगान किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि यशवन्त सिंह इनके आश्रयदाता रहे होंगे। इसके अतिरिक्त लेखक के जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

---

२१. History of Sanskrit Poetics, Pg. 432.

२२. विचार्य तारकं चक्रं पिता मे करुणाकरः।
मन्नाम वामदेवेति कृतवान्नामकर्मणि ॥ (विद्वन्मोदतरंगिणी)

२३. नाम्नैव सम्बोध्य जनः कथायां सदेतमाकारयिता तदाशीः।
ताताग्रजो मामतिवत्सलत्वाच्चिरं चिरंजीवतया जुहाव ॥ (वही)

२४. द्वैताद्वैतमतादिनिर्णयविधिप्रोद्बद्धबुद्धिश्रुतो।
भट्टाचार्यशतावधान इति यो गौडोद्भवोऽभूत् कविः ॥ (काव्यविलास)

२५. इमौ भट्टाचार्यप्रवररघुदेवस्य चरणौ।
शरण्यौ चित्तान्तर्निरवधि विधाय स्थितवत् ॥ (वही पृ० १२)

लेखक ने अपने जन्म काल का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इसके लिए हमें अन्तरंग प्रमाणों पर निर्भर करना पड़ता है। चिरञ्जीव के पिता राघवेन्द्र कृपाराम के समकालीन थे। कृपाराम सम्राट जहाँगीर और शाहजहाँ के आश्रित थे। अतः राघवेन्द्र समय 17 वीं शताब्दी का मध्य निश्चित-सा है। भावध्वनि के प्रसंग में लेखक ने गुरु का रघुदेव भट्टाचार्य का उल्लेख किया है। रघुदेव भट्टाचार्य एवं रघुदेव न्यायालंकार एक ही व्यक्ति हैं। यशोविजयगणी ने अष्टसाहस्र विवरण में रघुदेव का उल्लेख किया हैं। यशोविजयगणी की मृत्यु १६१०शक संवत् में हुई। अतः रघुदेव का समय भी १७ वीं शताब्दी का मध्य ठहरता है। लेखक ने काव्यविलास में अपने अन्य ग्रन्थों एवं उनके उदाहरणों को उद्धृत किया है। अतः काव्यविलास बाद की रचना है। डा० डे के अनुसार इसकी रचना १७०३ ई० में हुई। पुनश्च, चिरञ्जीव यशवन्तसिंह (१७३१ ई०) के समकालीन थे। अतः लेखक की रचनाओं का समय १७ वीं शताब्दी के अन्त से लेकर १८ वीं शताब्दी के पूर्व तक ठहरता है।

आफ्रेट ने कैटलागस कैटलागरम में लेखक के नाम से ५ ग्रन्थों का उल्लेख किया है— (१) काव्यविलास, (२) माधवचम्पू, (३) विद्वन्मोदतरंगिणी (४) शृंगारतटिनी, (५) वृत्तरत्नावली। काव्यविलास में लेखक रचित दो अन्य ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं—(६) कल्पलता और (७) शिवस्तोत्र।[२६] माधवचम्पू में माधव और कलावती की प्रणय कथा निबद्ध है। यह कृष्ण-विषयक चम्पू काव्य है। विद्वन्मोदतरंगिणी चम्पूकाव्य के आधार पर लिखा गया एक सुन्दर ग्रन्थ है। यह 8 तरंगों में विभाजित है। प्रथम तरंग में लेखक के पारिवारिक इतिहास का और अन्य सात तरंगों में शैव, वैष्णव आदि मतों का विवेचन है। शृंगारतटिनी, कल्पलता और शिवस्तोत्र काव्य हैं। काणे महोदय ने शृंगारतटिनी को काव्यशास्त्र ग्रन्थ के अन्तर्गत उल्लिखित किया है।[२७] वृत्तरत्नावली छन्दः शास्त्रविषयक ग्रन्थ है। आचार्य ने विद्वन्मोदतरंगिणी में अपने न्याय एवं अन्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों का उल्लेख किया है, किन्तु वे अप्राप्त हैं। डा० कपिलदेव द्विवेदी ने चम्पू काव्य के अन्तर्गत माधवचम्पू एवं विद्वन्मोदतरंगिणी चम्पू के लेखक चिरंजीव का समय १६ वीं शती ई० माना है, जो भ्रामक है।[२८]

आचार्य ने काव्यशास्त्रविषयक केवल एक ही ग्रन्थ काव्यविलास की रचना की है। यह लघुकलेवर ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन पण्डित बटुकनाथ शर्मा एवं जगन्नाथ शास्त्री होशिंग के सम्पादकत्व में गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस से हुआ है।

पण्डितराजोत्तर काव्यशास्त्रों में से सर्वाधिक हस्तलिखित प्रतियाँ काव्यविलास की प्राप्त होती हैं। इससे इसकी प्रसिद्धि का पता चलता है। यह गद्य एवं कारिका दोनों में निबद्ध है। इसमें दो अध्याय हैं जिन्हें भंगी कहा गया हैं। प्रथम भंगी में काव्यस्वरूप,

---

२६. वही, पृ० ६
27. History of Sanskrit Poetics, Pg. 440.
२८. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ६१४

प्रयोजन, कारण, एवं नवरसों का निरूपण है तथा द्वितीय भंगी में अर्थालंकार व शब्दालंकार का क्रमशः विवेचन है।

लेखक ने अलंकार में मम्मट व अप्पयदीक्षित के बीच की संख्या ग्रहण की है। अलंकारलक्षण प्रायः काव्यप्रकाश अथवा चन्द्रालोक से लिये गये हैं। लक्षणों की वृत्ति एवं उदाहरण स्वरचित है। अन्त में आचार्य ने शब्दालंकारों के लक्षण व लक्ष्य को कारिका में निबद्ध कर चन्द्रालोक व कुवलयानन्द की कमी को पूरा किया है। इस प्रकार काव्यविलास में काव्यशास्त्र के प्रमुख तत्त्वों विशेषतः रस एवं अलंकार का विवेचन किया गया है।

काव्यविलास के अध्ययन से यह स्पष्ट नहीं होता कि काव्य में रस का क्या स्थान है। लेखक ने वामन और दण्डी की भाँति रस को न गौण माना है और न ही विश्वनाथ की भाँति काव्य का सार तत्व माना है। वे काव्य का सार चमत्कार को मानते हैं। यह चमत्कार रस एवं अलंकार दोनों से सम्भव है जिसे मम्मट क्रमशः ध्वनिकाव्य एव चित्रकाव्य कहते हैं। अस्तु। ग्रन्थ अनावश्यक शास्त्रीय विस्तार से रहित एवं विषय-स्वरूप मात्र बोधक है। लघुकलेवर एवं सरल व स्पष्टतर भाषा में निबद्ध होने के कारण यह साधारण अलंकारशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

### ४. विश्वेश्वर पण्डित

काव्यशास्त्रीय आचार्यों में विश्वेश्वरभट्ट का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने अलंकारकौस्तुभ नामक प्रौढ़ ग्रन्थ के आधार पर आप मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, दीक्षित प्रभृति आचार्यों की श्रेणी में गणनीय हैं। इनका जन्म उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा जिले के अन्तर्गत पटिया ग्राम में 'पाण्डिया के पाण्डे' उपनामक कुल में हुआ था। ये भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। बाल्यकाल से ही इनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर थी। इन्होंने दसवें वर्ष से ही ग्रन्थ लेखन आरम्भ किया और ४० वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हो गयी। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था जो अपने समय के न्याय, व्याकरण, मीमांसा और साहित्य इत्यादि के प्रतिष्ठित विद्वान् थे। वृद्धावस्था में विश्वनाथ भगवान् के आशीर्वाद से चूंकि लेखक आचार्य का जन्म हुआ था, अतः इनका नाम विश्वेश्वर रखा गया। लेखक ने अपने पिता से ही अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया था। यही कारण है कि लेखक ने अलंकारकौस्तुभ की टीका में पिता को गुरु रूप में प्रणाम किया।[२९] कुमाऊं की एक जनश्रुति के अनुसार विश्वेश्वर पण्डित ने अपने पिता के अतिरिक्त विश्वरूप के पुत्र यशोधर से भी अध्ययन किया था।[३०] लेखक ने मंगलाचरण में गणेश एवं स्कन्द की

---

२९. स्वगुरुप्रणाममाह—लोकेति । लोकस्वान्तघनान्धकारपटलध्वंसप्रदीपांकुरा······ श्रीलक्ष्मीधरविद्वदङ्घ्रिनलिनोदीता: परागाणवः (पृ० २)

३०. संकृत साहित्य, विशेषतः काव्यशास्त्र में विश्वेश्वर पर्वतीय का योगदान (शोध-प्रबन्ध)—अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय।

वन्दना की है, सम्भवत: ये ही उनके अभीष्ट देव हैं। इनके अग्रज उमापति थे। लेखक ने उक्त ग्रन्थ में रसगंगाधर, चित्रमीमांसा, काव्यडाकिनी आदि अर्वाचीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है। अत: इनका समय १८वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित-सा है। जगन्नाथ जोशी ने आचार्य का जीवनकाल १६७५-१७१५ ई० निर्धारित किया है। उनके अनुसार बिश्वेश्वर पण्डित के वंशज कुमाऊं के चन्द्रवंशी राजाओं के राजगुरु थे और विश्वेश्वर पण्डित ने अलंकार मुक्तावली (पृ० ११) में तत्कालीन चन्द्रवंशी नरेश उद्योतचन्द्र, (१६७८-१६९८ ई०) की एक पद्य में स्तुति की है।

विश्वेश्वर पण्डित ने कुल २४ ग्रन्थों की रचना की—(१) अलंकारकौस्तुभ सटीक (२) काव्यरत्नम् (३) अलंकारमुक्तावली (४) अलंकारप्रदीप (५) रसचन्द्रिका (६) कवीन्द्रकर्णाभरणम्, सटीक (७) व्यंग्यार्थकौमुदी अथवा समंजसा रसमंजरी-टीका (८) लक्ष्मीविलासकाव्यम् (९) रोमावलीशतकम् (१०) वक्षोजशकतम् (११) होलिकाशकतम् (१२) ऋतुवर्णनम् (१३) नवमालिका, नाटिका (१४) शृंगारमंजरी, सट्टक (१५) सिद्धान्तसुधानिधि दर्शन (१६) तत्वचिन्तामणि दीधितिप्रवेश (१७) तर्ककुतूहलम् (१८) आर्यासप्तशती (१९) काव्यतिलकम् सटीक (२०) नैषधकाव्य टीका (२१) मन्दारमंजरी गद्यकाव्य सटीक (२२) आर्याशतकम् (२३) मन्दारमंजरी कथा, उपन्यास।[३१] जगन्नाथ जोशी ने लेखक रचित दो अन्य ग्रन्थों—अभिरामराघव एवं भावप्रदीप—का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार आचार्य के ग्रन्थों का प्रणयन काल १६९४-१७११ ई० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है। इनमें से प्रथम सात ग्रन्थ अलंकारशास्त्र विषयक हैं। इस प्रकार काव्यशास्त्र के अतिरिक्त लेखक का व्याकरण, न्याय आदि पर भी अधिकार था एवं उनमें कवित्व तथा आचार्यत्व का अद्वितीय सम्मिश्रण था।

अलंकारकौस्तुभ ग्रन्थ काव्यशास्त्र का अत्यन्त प्रौढ़ एवं प्रमाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर पण्डितराज एवं दीक्षित के मतों की सारगर्भित आलोचना की गयी है। इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण विवेच्य विषय नव्य न्याय की भाषा (अवच्छेदकावच्छिन्न शैली) में निबद्ध है। इसी कारण से यह ग्रन्थ अत्यन्त जटिल हो गया है। इस ग्रन्थ में कुल ६६ कारिकायें हैं जिनमें लक्षण निबद्ध है। कारिकाओं को स्पष्ट करने के लिये वृत्ति लिखी गयी है और लक्ष्यभूत उदाहरणों को अन्य कवियों एवं स्वकीय रचनाओं से से उद्धृत किया गया है। लेखक ने ग्रन्थ की रूपक अलङ्कार तक स्वोपज्ञ व्याख्या भी लिखी है। इसमें मम्मट सम्मत ६१ अर्थालङ्कारों का आलोचनात्मक शैली में निरूपण किया गया है और तदतिरिक्त अलङ्कारों का खण्डन किया है। इसका प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस से शिवदत्त शर्मा एवं काशीनाथ शर्मा के सम्पादकत्व में काव्यमाला गुच्छक ६६ के रूप में हुआ है।

---

३१. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डा० हीरालाल शुक्ल, पृ० १५६

अलङ्कारमुक्तावली ग्रन्थ में सरल भाषा एवं संक्षेप में उक्त ६१ अलङ्कारों के अतिरिक्त रसवदादि ८ अलङ्कारों का भी निरूपण किया गया है। ये दोनों ग्रन्थ 'बालबोधाय' लिखे गये हैं। अतः इनमें प्रौढि नहीं है। रसचन्द्रिका में नायक-नायिकादि भेदों के साथ-साथ नव रसों का निरूपण है। इन ग्रन्थों का प्रकाशन काशी संस्कृत सीरीज़ पुस्तकमाला में हुआ है।

### ५. नरसिंह कवि 'अभिनव कालिदास'

नरसिंह कवि के जन्मकाल का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं मिलता। लेखक ने नञ्जराजयशोभूषण नामक अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ में नञ्जराज का चरित निबद्ध किया है। नञ्जराज ने १८वीं शताब्दी के मध्य में मैसूर के राजा कृष्णराज द्वितीय (इम्मडि कृष्णराज) के शासन में सर्वाधिकारी (वित्त एवं आय मन्त्री) के रूप में १७३९ ई०-१७५९ ई० तक महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की थी।[३२] कृष्णराज द्वितीय नाममात्र के राजा थे। मुख्यरूप से राज्यभार नञ्जराज पर ही था। यही कारण है कि अन्य आचार्यों एवं कवियों की भाँति नरसिंह कवि ने अपनी कृति राजा को समर्पित न कर राजा के मन्त्री का ही गुण-गान किया है। चूँकि नञ्जराज का समय ऐतिहासिक व्यक्ति होने के कारण १७३९ ई० निश्चित है और नरसिंह कवि उनके सभापण्डित (समकालीन) थे,[३३] अतः आचार्य का समय १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित-सा है।

महीशूर देश के अन्तर्गत चामराज नगर के परिसरवर्ती कलले नामक ग्राम को कुछ राजाओं ने अपनी राजधानी बनायी और कालान्तर में कलले ग्राम के आधार पर उस राजा के कुल का नाम कललेकुल पड़ा। इसी वंश में नञ्जराज का जन्म हुआ था।[३४] ग्रन्थ के अन्त में आचार्य ने आलूः नामक स्थान का उल्लेख किया है।[३५] कदाचित् महीशूर देश के अन्तर्गत चामराज नगर प्रान्त में आलूर नामक ग्राम ही आचार्य का निवास स्थान था।

कवि का जन्म सनगर कुल में हुआ था।[३६] इनके पिता का नाम शिवराम था।[३७] आचार्य ने अपने पिता से शास्त्रीय शिक्षा प्राप्त की जिसका उल्लेख प्रत्येकविलास के अन्त

---

३२. पं० कृष्णमाचार्य—नञ्जराजयशोभूषण, भूमिका, पृ० १४

३३. वही, पृ० १३

३४. वही, पृ० १३

३५. आलूरतिरूमलकवेरभिनवभवभूतिनामविरुदस्य।
सुहृदा नृसिंहकविना कृतिरकृतनवीनकालिदासेन॥
(नञ्जराज०, पृ० २२३)

३६. सनगरकुलेन्दोर्नरसिंहाभिधविदुषः कृतिरियभिनीयदर्शनीयेति (वही, पृ० ८७)

३७. शिवरामसुधीसूनोर्नसिंहकवेः कृतिः (वही, पृ०१)

में किया गया है।[३८] इसके अतिरिक्त इनके गुरु योगानन्द नामक संन्यासी थे।[३९] आचार्य ने मंगलाचरण में सरस्वती की स्तुति की है।[४०] सम्भवतः यही उसका अभीष्ट देवता है। आचार्य ने प्रत्येक विलास के प्रारम्भ में एवं ग्रन्थ के अन्त में कन्दर्पजनक धाम से कल्याण की प्रार्थना की है।[४१]

नरसिंह ने अपने को कवि कहा है और वह 'अभिनव कालिदास' उपाधि धारण करता है किन्तु उसकी कोई भी काव्य-कृति उपलब्ध नहीं है। मेरा मत है कि नञ्जराज-यशोभूषण नामक अलंकारशास्त्र रूप लक्षण ग्रन्थ में उदाहरण स्वरूप उपन्यस्त स्वरचित नाटक एवं काव्यादि के आधार पर ही आचार्य अपने को कवि कहता हैं। आचार्य ने षष्ठ विलास में नाटक एवं नाटकीय तत्त्वों का विवेचन करने के लिये चन्द्रकलाकल्याण नामक पाँच अंकों के एक नाटक की रचना की है। इसके अतिरिक्त एक ही व्यक्ति के जीवन से समस्त साहित्य शास्त्र विषयक उदाहरण उपन्यस्त करना नरसिंह के उत्कृष्ट कवित्व शक्ति का परिचायक है।

नञ्जराजयशोभूषण का प्रकाशन ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट बड़ौदा से ई० कृष्णा-माचार्य के सम्पादकत्व में हुआ है। यह विद्यानाथ विरचित प्रतापरुद्रियशोभूषण के अनुकरण पर लिखा गया एक उत्कृष्ट कोटि का अलंकारशास्त्र का ग्रन्थ है। आचार्य ने कारिका में लक्षण की रचना की है, किन्तु अधिकतर गद्य में ही लक्षणों का निबन्धन हुआ है। कहीं-कहीं मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के लक्षणों को ही ग्रहण कर उनका विश्लेषण किया गया है। शैली, विषय-विवेचन, विषयानुक्रम आदि दृष्टियों से यह प्रतापरुद्रियशोभूषण से पर्याप्त समानता रखता है।

यह सत्य है कि नरसिंह कवि प्रतापरुद्रिय यशोभूषण से अत्यधिक प्रभावित हैं किन्तु नञ्जराजयशोभूषण की महत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। कहीं-कहीं आचार्य की शैली विद्यानाथ से भिन्न एवं अपेक्षाकृत सुन्दर दिखायी पड़ती है तो कहीं वह विद्यानाथ से असहमति प्रकट करते हैं। विद्यानाथ ने शुद्ध ध्वनि के ५१ भेद माने हैं किन्तु नरसिंह कवि ३० भेद ही मानते हैं। इसी प्रकार आचार्य वाच्योत्प्रेक्षा के ९६ भेद करता है। इत्यलम्।

नञ्जराजयशोभूषण का विभाजन सात विलासों में किया गया है। इसमें काव्य-शास्त्र के साथ-साथ नाट्यशास्त्र के तत्त्व भी व्याख्यात हैं। प्रथम विलास में नायक-नायिकादि भेद, द्वितीय विलास में शब्दार्थ भेद वृत्ति, रीति, काव्यभेदादि, तृतीय विलास

---

३८. परमशिवावतारशिवरामदेशिकचरणारविन्दानुसन्धानमहिमसमासादित···
(वही, पृ० १३)

३९. योगानन्दयतीन्द्राय सान्द्राय गुरवे नमः (वही, पृ० १)

४०. वन्देऽहं वन्दनीयानां वन्द्यां वाचामधीश्वरम् (वही, पृ० १)

४१. करुणारसकल्लोलकलितापाङ्गवीक्षणम्।
कन्दर्पजनकं धाम कल्याणानि करोतु नः।। (वही, पृ० १४ आदि)

में गुणीभूत व्यंग्य एवं महाकाव्यादि लक्षण, चतुर्थविलास में रसभावादि, पंचम विलास में दोष एवं गुण, षष्ठ विलास में नाटकीय तत्त्व एवं सप्तम विलास में शब्दार्थालंकार की विवेचना की गयी है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अध्ययन से काव्य-नाट्यशास्त्र विषयक समस्त तत्त्वों का बोध हो जाता है।

नरसिंह कवि मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों की भाँति महाकवियों के काव्यादि से लक्ष्यस्वरूप उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते अपितु पण्डितराज की 'निर्माय नूतन-मुदाहरणानुरूपम्' सगर्व उक्ति से प्रभावित होकर स्वरचित उदाहरण ही प्रस्तुत करते हैं।

यद्यपि नरसिंह कवि अर्वाचीन आचार्य हैं, किन्तु इनकी कृति अलंकार गुण-ग्राहियों के लिए आदर्शभूत है। यह ठीक है कि नरसिंह कवि ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कोई मौलिक योगदान नहीं किया, किन्तु उनकी कृति अलंकारशास्त्र को जीवित रखते हुए उसकी परम्परा को आगे बढ़ाती है, क्या यह उसकी महनीयता नहीं है ?

**६. विद्याराम**

आचार्य विद्याराम ने अपने ग्रन्थ रसदीर्घिका की पुष्पिका में अपने विषय में पर्याप्त जानकारी दी है। उन्होंने अपने जन्म-स्थान, निवास स्थान एवं ग्रन्थ के रचना काल का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। विद्याराम मूलतः अहमदाबाद के निकट पसुंजा नामक ग्राम के निवासी थे। कालान्तर में ये उदयपुर (राजस्थान) नामक स्थान पर पहुँचे। आजीविका खोजते ये उसी प्रान्त में स्थित कोटा नामक स्थान पर पहुँचगये और वहां निवास करते हुए उन्होंने रसदीर्घिका ग्रन्थ की रचना की।[४२]

विद्याराम के पिता का नाम वेणिराम तथा पितामह का नाम व्रजपति था। ये भट्ट अवटंकयुक्त नागर ब्राह्मण थे।[४३] आचार्य ने अपने गुरु का उल्लेख नहीं किया है। रसदीर्घिका के प्रारम्भ में आचार्य ने विष्णु का आशीर्वादात्मक मंगलाचरण दो पद्यों में निबद्ध किया है[४४] और ग्रन्थ के अन्त में अपनी कृति भगवान् श्रीकृष्ण को समर्पित की

---

४२. पसुंजाख्ये ग्रामे प्रथममदाबादनिकटे,
निवासो यस्यासीत्तदुदयपुरेऽनन्तरमथो।
ततश्च श्रीकोटाभिधनगर आजीवनवशा-
दिमं विद्यारामः स किल सुभगं ग्रन्थमकरोत्॥ (रसदीर्घिका, पृ० ७६)

४३. तातो यस्याभिजातः सहृदयहृदयो वेणिरामाभिधानो।
गीर्वाणाचार्यदेश्यो व्रजपतिरिति यत् ताततातोऽथ चाभूत्।
भट्टो यस्यावटङ्को विशलनगरजब्राह्मणेषु प्रसूति-
र्विद्यारामेण तेनोदयपुरगृहिणा निर्मिता दीर्घिकेयम्॥ (वही, पृ० ७६)

४४. वही, पृ० १

है।[४५] इससे प्रतीत होता है कि विद्याराम विष्णु अथवा कृष्ण के उपासक थे। रसदीर्घिका के रचनाकाल का उल्लेख करता हुआ आचार्य कहता है कि १७०६ संवत् के ज्येष्ठ मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि को कोटा नामक नगर में यह रचना पूर्ण हुई।[४६]

विद्याराम के जीवन के विषय में इतना ही ज्ञात है। पण्डित गोपाल नारायण का मत है कि विद्याराम राज्याश्रित कवि नहीं थे अन्यथा राज्याश्रय प्राप्त कवियों की भाँति अपनी कृति में आश्रयदाता का प्रशस्ति-गान अवश्य करते।[४७]

विद्याराम कृत केवल एक ही ग्रन्थ—रसदीर्घिका प्राप्त है। अन्य किसी काव्यादि ग्रन्थ का उल्लेख कहीं नहीं मिलता किन्तु विद्याराम ने अपने को कवि बतलाया है। सम्भवत: रसदीर्घिका में लक्ष्यस्वरूप उपन्यस्त स्वनिर्मित उदाहरणों के आधार पर ही अपने को कवि मानता है।[४८] रसदीर्घिका का प्रकाशन पण्डित गोपाल नारायण बहुरा के सम्पादकत्व में राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जोधपुर (राजस्थान) से हुआ है।

विद्याराम किसी प्राचीनाचार्य-विशेष से प्रभावित नहीं दिखायी देते। वे सकल आचार्यों के सार को सरल भाषा में प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन ग्रन्थों में व्याख्यात काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का अध्ययन भेद-प्रभेद, गहनविषय-विवेचन एवं प्रौढ़ भाषा आदि के कारण आधुनिक परिस्थिति में अत्यन्त जटिल हो गया है। काव्यशास्त्र में प्रवेशेच्छु व्यक्तियों के लिए वे असाध्य-से हैं। अतएव विद्याराम ने खण्डन-मण्डन से रहित, अत्यधिक भेदोपभेदों का वर्णन न करते हुए अल्पज्ञ जिज्ञासुओं के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह अवर कृति है। रसदीर्घिका, निश्चय ही, पाठक को शास्त्रार्थ में न उलझा कर काव्यशास्त्र का सम्यक् एवं सम्पूर्ण ज्ञान कराने में समर्थ है।

रसदीर्घिका में अलंकारशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय दोनों ही तत्त्व व्याख्यात हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में रस एवं रसोपयोगी तत्त्वों की ही मुख्यत: विवेचना की गयी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ को पाँच सोपान में विभाजित किया गया है। प्रथम सोपान का नाम रस परिभाषा है और द्वितीय सोपान का नाम शृङ्गार निरूपण। इसमें आचार्य ने नायक-नायिका भेद, हाव आदि का भी निरूपण किया है। तृतीय सोपान में अन्य रसों का निरूपण है। चतुर्थ सोपान में भक्ति रस, भावसन्धि आदि तथा रीति एवं वृत्ति का विवेचन है। पंचम सोपान में काव्यलक्षण, शब्दार्थ शक्ति, अलंकार, गुण, दोषादि का उल्लेख है।

---

४५. वही, पृ० ७८

४६. षड्व्योमाद्रिमहीमितांकगणिते संवत्सरे वत्सले,
ज्येष्ठस्यासितसप्तमीभृगुदिने कोटाभिधानेपुरे।
एनां सज्जनरञ्जनाय परित: पूर्णां रसदीर्घिकां,
विद्याराम कवि: स्वयं सुललितां पर्याप्तरूपां व्यधात्।। (वही, पृ० ७६)

४७. रसदीर्घिका प्रास्ताविक: परिचय:, पृ० ३

४८. स्वकल्पितोदाहरणै: सलक्ष्यैर्विरच्यते या रसदीर्घिकैषा। (वही, पृ० १)

विषयानुक्रम देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ने विषयों को उचितक्रम से नहीं समायोजित किया। रसदीर्घिका में लक्षणों की रचना कारिकाओं में ही हुई है। केवल दो-चार स्थलों पर ही कारिका को स्पष्ट करने के लिए वृत्ति का आश्रय लिया गया है।

### ७. आशाधर भट्ट

आशाधर भट्ट (द्वितीय) का पता डॉ० बूलर ने १८७१ ई० में लगाया था। इनके व्यक्तिगत इतिहास के विषय में हमें बहुत कुछ उनके ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों से ज्ञात होता है। उन्होंने किसी भी ग्रन्थ में स्पष्टतः अपने निवास ग्राम का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु लक्षणा प्रकरण में लक्षितलक्षणा के उदाहरणों में गुर्जर शब्द का प्रयोग किया है।[४९] कुछ विद्वानों का मत है कि गुर्जर पद से आचार्य का देश सूचित है। कुछ विद्वान् इनका जन्म स्थान गुर्जर (दक्षिण गुजरात) प्रान्त के बड़ौदा जिले में स्थित 'पटपत्तन' को तो कुछ पटपत्तन के समीप स्थित 'वसो' नगर को और कुछ समीप स्थित 'पीज' नगर को मानते हैं।

आशाधर भट्ट ने अपने स्थितिकाल और ग्रन्थ रचनाकाल का कहीं निर्देश नहीं किया है किन्तु उनके अन्तः साक्ष्य के आधार पर उनका काल निर्धारित किया जा सकता है। आशाधर ने कुवलयानन्द पर अलंकारदीपिका नामक टीका लिखी है और वे भट्टोजिदीक्षितकृत सिद्धान्तकौमुदी (१७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) का उल्लेख करते हैं[५०] तथा वैयाकरणभूषणसार (१७वीं शताब्दी का मध्य) के लेखक कौण्ड भट्ट से परिचित दिखाई देते हैं। इस आधार पर अशाधर की पूर्ववर्ती सीमा १७वीं शताब्दी का मध्य भाग ठहरती है। आचार्य प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट (१६७४ ई०-१७५४ ई०) के सिद्धान्त से अपरिचित दिखाई देते हैं।

नागेश ने व्यञ्जना को शब्द शक्ति स्वीकार किया है किन्तु आशाधर कहते हैं कि वैयाकरण शक्ति और लक्षणा को दीर्घ व्यापार मानकर उसी में व्यञ्जना का अन्तर्भाव करते हैं।[५१] इससे पता चलता है कि उन्हें नागेश के द्वारा मान्य सिद्धान्त का ज्ञान नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि आशाधर नागेश के पूर्ववर्ती अथवा समकालिक हैं।

बेलवेलकर एवं के० पी० त्रिवेदी के अनुसार कोविदानन्द की एक हस्तलिखित प्रति में लिपिकाल शक संवत् १७८३ (१८६१ ई०) अंकित है और भण्डारकर के अनुसार अलङ्कारदीपिका की एक प्रति में शक संवत् १७७५ (१८५३ ई०) अंकित

---

४९. तेन निर्जरगुर्जरजर्जरादिसकलरेफद्वयान्वितशब्दसाधारणवाची न तु केवल भ्रमरपरः (त्रिवेणिका, पृ० ३०)

५०. यद्यपि सिद्धान्तकौमुद्याम्—'इह पूर्वपदं तत्सदृशे लाक्षणिकमित्युक्तम्'………… (वही, पृ० ३१)

५१. अत्र वैयाकरणाः—अत्र शक्तिरेव शब्दवृत्तिः। तस्याः प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां शक्तिलक्षणाव्यपदेशः व्यंजना तु तत्रान्तर्भवति दीर्घव्यापारादिति (वही, पृ० ३६)

है।[५२] किसी ग्रंथ की प्रसिद्धि के लिए न्यूनतम एक शताब्दी आवश्यक है। इन सब आधारों पर कहा जा सकता है कि आशाधर भट्ट का समय नागेश भट्ट के आस-पास अर्थात् १८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। यू० पी० शाह के अनुसार आशाधर का समय १७२०-१७९० ई० है और ये ब्रौच के राजा लल्लू भाई के आश्रित थे।[५३]

प्रकृत आशाधर भट्ट रुद्रट के काव्यलंकार के टीकाकार आशाधर से भिन्न हैं। उनके त्रिषष्टिस्मृतिचन्द्रिका ग्रन्थ पर अंकित समय से ज्ञात होता है कि वे 13वीं शताब्दी के थे। उनके पिता का नाम सल्लक्षण था तथा वे जैन थे। जबकि प्रकृत आचार्य के ग्रन्थों के मंगलाचरण से उनका ब्राह्मणत्व सिद्ध है।

आशाधर ने अलङ्कारदीपिका टीका के मङ्गलाचरण में अपने अभीष्ट देव, गुरु एवं पिता के नाम का उल्लेख किया है।[५४] इनके पिता का नाम राम जी भट्ट था। त्रिवेणिका एवं कोविदानन्द की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि ये व्याकरण, मीमांसा एवं न्यायशास्त्र के पण्डित थे।[५५] इनके गुरु का नाम धरणीधर था। कुछ विद्वानों का मत है कि आशाधर ने व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा का अध्ययन अपने पिता से किया होगा और धरणीधर इनके अलङ्कारशास्त्र के गुरु थे। आशाधर के अभीष्ट देव गणपति हैं। त्रिवेणिका के मंगलाचरण में भी आचार्य ने गणेश की वन्दना की है किन्तु कोविदानन्द में शिव विषयक नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण है।

आशाधर भट्ट के नाम से पाँच कृतियों का उल्लेख मिलता है— (१) कोविदानन्द, सटीक (२) त्रिवेणिका (३) अलङ्कारदीपिका (४) प्रभापटल और (५) अद्वैत विवेक अन्तिम दोनों ग्रन्थों का उल्लेख आचार्य ने त्रिवेणिका में किया है।[५६] पटल शब्द के कारण प्रभापटल तन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थ प्रतीत होता है और पाँचवां ग्रन्थ तो अद्वैतवेदान्त-विषयक ही है। प्रभापटल ग्रन्थ अनुपलब्ध है। कुन्हनराजा द्वारा सम्पादित न्यू कैटलागस कैटलागरम में अद्वैतविवेक की पाण्डुलिपियों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त यू० पी० शाह ने आचार्य रचित कुछ अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है—आशाधरी (न्याय), रसिकानन्द (अलङ्कारशास्त्र), किरातार्जुनीय पर मल्लीनाथ की टीका की वृत्ति,

---

५२. त्रिवेणिका—भूमिका, पण्डित कालिका प्रसाद शुक्ल, पृ० ३१

५३. Proceeding International Sanskrit conference, Vol. I, Part I (1975) Pg. 185.

५४. शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
आशाधरेण कविना रामजीभट्ट सूनुना॥ (त्रिवेणिका, भूमिका; पृ० २९)

५५. इति पदवाक्यप्रमाणपारावारीणश्रीरामजीभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचिता त्रिवेणिका समाप्ता (वही, पृ0 ३८)

५६. वही, पृ० १६ एवं ३८

कुवलयानन्दकारिकाटीका, व्याकरणकारिका, पुनरावृत्तिविवेचन।[५७]

आशाधर भट्ट के अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कोविदानन्द है। इसमें आचार्य ने शब्दशक्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना पर विस्तार के साथ विचार किया है। यह ग्रन्थ कारिकाओं में निबद्ध है और आचार्य ने स्वयं इस पर कादम्बिनी टीका लिखी है। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन उज्जैन से, उसके पश्चात् सरस्वती सुषमा में संवत् २०१८ में हुआ था। इसके अतिरिक्त डा0 ब्रह्म मित्र अवस्थी ने वृत्ति-समुच्चय के द्वितीय गुच्छक में इसे प्रकाशित किया है। आशाधर ने कोविदानन्द का उल्लेख त्रिवेणिका एवं अलङ्कारदीपिका में अनेकशः किया है।

त्रिवेणिका कोविदानन्द का संक्षिप्त रूप है। क्योंकि आचार्य बार-बार 'विस्तरस्तु' कोविदानन्दे द्रष्टव्यः' कहता है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन प्रिंस आफ वेल्स संस्कृत सीरीज बनारस से, तदनन्तर भारतीय साहित्य विद्यालय वाराणसी से हुआ है। कोविदानन्द के अनन्तर आचार्य ने त्रिवेणिका की रचना की। इसमें भी आचार्य ने शब्दशक्ति—अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना का निरूपण किया है तथा विषय के अनुरूप ही ग्रन्थ का नामकरण किया है। यद्यपि वेणी शब्द के केशपाशादि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु लेखक ने यहाँ प्रवाह अर्थ में प्रयोग किया है। जिस प्रकार गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम को त्रिवेणी कहते हैं उसी प्रकार इस ग्रन्थ में भी तीन वृत्तियों का समवाय उपस्थित है।

आचार्य के त्रिवेणिका नामकरण में केवल संख्या का ही साम्य नहीं है अपितु स्वरूप-सादृश्य भी है। जिस प्रकार विशुद्ध निर्मल गंगा में यमुना व सरस्वती मिलती हैं अर्थात् गंगा दोनों का आश्रय है, उसी प्रकार अभिधा वृत्ति लक्ष्य तथा व्यंग्य की प्रतीति में आश्रय होती है। यमुना नील जलवाली एवं गंगाश्रिता है। लक्षणा भी मुख्यार्थबाध होने के कारण विलम्ब से प्रतीति कराने के कारण मलिना है। जिस प्रकार संगम में सरस्वती अत्यन्त गूढ़ है और योगियों के अतिरिक्त अन्यों के द्वारा दर्शनीय नहीं है किन्तु शास्त्र प्रामाण्य से उसके अस्तित्व के विषय में कोई सन्देह नहीं है, उसी प्रकार व्यंग्य भी अत्यन्त गूढ़ है और सहृदयों के द्वारा ही प्रतीतियोग्य है। उसके अस्तित्व के विषय में अलङ्कारशास्त्रियों को थोड़ा भी सन्देह नहीं है।

त्रिवेणिका की रचना गद्य में हुई है और आचार्य ने प्रायः प्रसिद्ध एवं प्राचीन उदाहरणों की ही समालोचना की है।

अलङ्कारशास्त्र में अभिधादि वृत्तियों का प्राधान्येन निरूपण किया गया है और यह व्याकरणशास्त्र का विषय भी है। फिर प्रश्न उठता है कि केवल वृत्ति का विवेचन करने वाले ग्रन्थ को अलङ्कारशास्त्र के अन्तर्गत माना जाय अथवा व्याकरणशास्त्र के

---

57. Proceeding International Sanskrit Conference, Vol. I, Part I (1975) Pg. 185.

अन्तर्गत। इसी सन्देह के कारण कहीं कोविदानन्द व त्रिवेणिका की हस्तलिखित प्रतियाँ अलङ्कारशास्त्र में तो कहीं व्याकरणशास्त्र में उल्लिखित हैं। जहाँ तक प्रकृत ग्रन्थों का प्रश्न है, ये निश्चय ही अलङ्कारशास्त्र के अन्तर्गत आयेंगे। नागेश भट्ट को छोड़कर सभी वैयाकरणों ने व्यंजना की उपेक्षा की है और आलङ्कारिक इसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान कर भेदोपभेद सहित सविस्तर वर्णन करते हैं। प्रकृत ग्रन्थों में व्यंजना सपरिवार निरूपित है। अत: इसके अलङ्कारशास्त्र विषयक होने में लेश मात्र भी सन्देह नहीं है। पुनश्च इन्हें व्याकरण ग्रन्थ मानने पर आशाधर भट्ट ही प्रथम वैयाकरण हुये जिन्होंने व्यंजना को शब्दशक्ति माना, नागेश भट्ट नहीं। जो कि वैयाकरण सम्प्रदाय में अमान्य है। और भी, ग्रन्थों के अध्ययन से नागेश भट्ट की भाँति आशाधर का सुझाव व्याकरण की ओर प्रतीत नहीं होता।

अलङ्कारदीपिका में आचार्य कुवलयानन्द के केवल कारिका भाग पर टीका लिखी है। वृत्तिभाग की समालोचना नहीं की गयी है। आशाधर ने ग्रन्थ के अन्त में उद्दिष्ट प्रकरण के रूप में २१ कारिकाएं अपनी जोड़ दी हैं। काणे महोदय ने इसे कारिका दीपिका भी कहा है।[५८] इसका प्रकाशन निर्णय सागर प्रेस आदि से अनेक बार हो चुका है।

आशाधर भट्ट के ग्रन्थों की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ गुजरात, सौराष्ट्र और कुच्छ के भण्डार में मिलती हैं। इससे ज्ञात होता है कि विगत दो शतकों में आचार्य के ग्रन्थ विद्वानों के बीच मान्य रहे हैं। इन ग्रन्थों की मुख्य विशेषता यह है कि गम्भीर शास्त्रीय विषयों का निरूपण भी सरल भाषा में किया गया है और इसमें उपन्यस्त उदाहरणादि जनजीवन के निकट एवं सुग्राह्य हैं। कहीं-कहीं प्रसंगवश नैयायिक एवं–– वैयाकरण आदि के मतों की आलोचना की गई है। आचार्य का मौलिक स्वतन्त्र चिन्तन ग्रन्थों में पग-पग पर उपलक्षित होता है।

### ८. भट्ट देव शंकर 'पुरोहित'

आचार्य भट्ट देव शंकर पुरोहित ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ अलङ्कारमंजूषा की पुष्पिका में अपने परिवार, जन्मस्थान एवं निवासस्थान आदि का उल्लेख किया है। आचार्य का मूल नाम देवशंकर है और 'पुरोहित' उसका उपनाम है। इनके पिता का नाम नाहना भाई था। इनका जन्म रानेर नगर में हुआ था। कालान्तर में ये उर: पत्तन में निवास करने लगे।[५९] नाम एवं उपनाम से लेखक का परिवार गुजराती पुजारी प्रतीत होता है।

आर० जी० भण्डारकर ने रानेर को राण्डेर नगर एवं उर:पत्तन को ओल्पाड

---

५८. History of Sanskrit Poetics, Pg. 416

५९ उर:पत्तनकृतनिवासेन रानेरनगरजन्मभुवा पुरोहितनाहनाभायिसुतेन पुरोहितोपनामकभट्टदेवशंकरेण विरचिता अलङ्कारमंजूषा। (अलङ्कारमंजूषा, पृ० २४४)

माना है। उनका कहना है कि उर:पत्तन ओलपाड का संस्कृत रूपान्तर है। राण्डेर नगर सूरत से लगभग दो मील उत्तर की ओर है। ओलपाड भी राण्डेर और सूरत नगर के निकट एक छोटा सा नगर है।

पुरोहित के गुरु का नाम बाल कृष्णानन्द सरस्वती था।[६०] आचार्य ने अलङ्कार-मंजूषा के मङ्गलाचरण में गणेश एवं राम-सीता की स्तुति की है। इसके अतिक्ति उसने पद्य संख्या २, ३७, १३६, ३७८ एवं ३७९ में राम की तथा ४ एवं २८२ में ताराम्बा का स्मरण किया है। सम्भवत: लेखक राम एवं ताराम्बा का भक्त था। १३२ वें पद्य में आचार्य ने नील सरस्वती का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि तारादेवी का ही दूसरा नाम नील सरस्वती है और सम्भवत: तारादेवी की उपासना वंशपरम्परा से चली आ रही थी।

पुरोहित ने अलङ्कारों के उदाहरणों में एतिहासिक पुरुषों का यशोगान किया है। अतएव इस आधार पर ग्रन्थ-रचनाकाल निर्धारित करने में अधिक कठिनाई नहीं होती। इसमें पेशवा राजाओं का सामान्य रूप से और राघोबा दादा (रघुनाथ राव) माधवराव प्रथम एवं नारायणराव पेशवा राजा का विशेष रूप से गुण-गान किया गया है। कहीं-कहीं पेशवा बाजीराव प्रथम, विश्वासराव, रामशास्त्री एवं बालकृष्ण शास्त्री का भी उल्लेख हुआ है। पेशवा राजाओं पर यही एक मात्र संस्कृत रचना है।

आचार्य ने पानीपत में विश्वासराव के युद्ध एवं मृत्यु (१७६१ ई० का वर्णन किया है।[६१] अत: प्रकृत ग्रन्थ का समय ३७६१ ई० के बाद ठहरता है। आचार्य ने रघुनाथ राव के उत्तरी यात्रा, जिसका समय लगभग १६६५-६६ ई० है, का उल्लेख किया है। अत: ग्रन्थ का रचनाकाल इसके पश्चात् ही होना चाहिये। अनेक स्थलों पर आचार्य ने माधवराव प्रथम को प्रकृत राजा (Ruling King) कहकर उनके राज्य की प्रशंसा की है।[६२] अत: निश्चित है कि ग्रन्थ माधव राव प्रथम के राज्यकाल में लिखा गया। ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर ऐसा उल्लेख है कि रघुनाथ राव एवं माधव राव प्रथम राज्य के प्रशासन में सहयोगी थे। यह कथन ग्रन्थ का समय लगभग १७६७ ई० सिद्ध करता है क्योंकि इसके पश्चात् तो चाचा-भतीजे के सम्बन्ध खराब हो गये थे और भतीजे ने चाचा को चार वर्ष (१७६८-१७७२ ई०) तक कारागार में डाल दिया था। इन तथ्यों के आधार पर ग्रन्थ का रचना काल लगभग १७६५-६६ ई० सिद्ध होता है।

पुरोहित के नाम से तीन रचनाओं का उल्लेख मिलता है—(१) अलङ्कार-

---

६०. स्वामिश्रीबालकृष्णानन्दसरस्वतीगुरुचरणानां प्रसादो विजयतेतराम्।

(वही, पृ० २४४)

६१. पद्य संख्या ३४७ एवं ३५० (वही)

६२. आलोकयेऽधुना सर्वकल्कीभूयात्र माधवः।

हानिष्यति रणे म्लेच्छानिति वक्ति मुनीश्वरः॥

—(वही, पृ० ३४८)

मंजूषा, (२) विश्वासराय युद्धवर्णन और (३) अमरूशतक व्याख्या। दूसरा ग्रन्थ अप्राप्त है। अलङ्कारमंजूषा का प्रकाशन सिन्धिया ओरियन्टल सीरीज़ के अन्तर्गत उज्जैन ओरियण्टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी से पण्डित सदाशिव लक्ष्मीधर कत्रे के सम्पादकत्व में हुआ है। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें अपने आश्रयदाताओं की गुण-प्रशंसा की गयी है किन्तु प्रतापरुद्रयशोभूषण, रघुनाथभूपालीय, नंजराजयशोभूषण आदि ग्रन्थों की भाँति आश्रयदाता के नाम आधार के पर ग्रन्थ का नाम नहीं रखा गया है। इसमें केवल अर्थालङ्कारों का ही विवेचन है।

आचार्य ने अलङ्कारों की परिभाषा को कारिका में निबद्ध कर उसकी वृत्ति लिखी है। तदन्तर एक या अधिक स्वरचित पद्य उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं। कुछेक उदाहरण अल्प परिवर्तन के साथ पुनःप्रयुक्त हैं। आचार्य ने कहीं-कहीं पूर्वाचार्यों का खण्डन किया है और अपने सिद्धान्त के मण्डन के लिये तार्किक विचार प्रस्तुत किया है।

पुरोहित कुवलयानन्द से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। कारिका, वृत्ति और कुछ उदाहरणों के भाव भी कुवलयानन्द पर आश्रित हैं। एक स्थल पर तो कुवलयानन्द व चित्रमीमांसा का शब्दशः उल्लेख किया गया है।[६३] कुवलयानन्द एवं अलङ्कारमंजूषा के अलङ्कारों के क्रम में भी साम्य है। इतना होने पर भी आचार्य ने अनेक स्थलों पर स्वतन्त्र मत व्यक्त किया है। कहीं-कहीं दीक्षित के मत की आलोचना करके उसे अमान्य ठहराया गया है तो कहीं दीक्षित के मत का पूर्ण समर्थन नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ भी पुरोहित ने दीक्षित से ग्रहण किया है, वहाँ अपने विचार को सरलतर, स्पष्टतर एवं वैज्ञानिक बनाया है। कहीं-कहीं अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा से लक्षण-परिष्कार किया गया है।

दीक्षित ने ललितोपमा अलंकार की गणना पृथक् रूप से न करके उसे निदर्शना का एक भेद पदार्थवृत्तिनिदर्शना माना है किन्तु पुरोहित जयदेव की भाँति उसे पृथक् अलङ्कार स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार दीक्षित गूढोत्तर एवं चित्र अलङ्कार को एक ही अलङ्कार का दो भेद मानते हैं, जबकि पुरोहित ने इनको स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। दीक्षित ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द के अतिरिक्त अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य प्रमाणालङ्कार भी माना है। पुरोहित अन्तिम चारों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त प्रमाणालङ्कारों में ही कर देते हैं। अन्त में आचार्य ने अलङ्कार-सामान्य की परिभाषा नव्य न्याय शैली में प्रस्तुत करके विस्तार के साथ विचार किया है।

सम्पादक महोदय ने आचार्य की तीन न्यूनताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—१. कहीं-कहीं जैसे उपमा, अपह्नुति, अतिशयोक्ति आदि अलङ्कारों की परिभाषा

---

६३. अधिकं कुवलयानन्दे तत्राप्यवशिष्टं चित्रमीमासायां च द्रष्टव्यम्
—(वही, पृ० ९५)

न कर सीधे उनके भेदों की, की गयी है। यह अवैज्ञानिक रीति कुवलयानन्द से ग्रहण की गयी है। २. कहीं-कहीं प्रकृतराज्ञः, माधवराज्ञा, राघवराजनि आदि अपाणिनीय प्रयोग किया गया है। ३. कहीं-कहीं छन्दोभंग भी है। इन सबके पश्चात् भी विशाल संस्कृत काव्यशास्त्र में अलङ्कारमंजूषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रयुक्त पद्य कहीं-कहीं अत्यन्त उच्चस्तर के हैं। पुनश्च अलङ्कारमंजूषा की रचना का उद्देश्य बालव्युत्पत्ति है। इसमें लेखक को पूर्ण सफलता मिली है।

### ६. वेणीदत्त शर्मन्

आचार्य वेणीदत्त का जन्मस्थान व काल विवादास्पद नहीं है। आचार्य ने स्वरचित ग्रन्थ रसकौस्तुभ की पुष्पिका में आत्म-परिचय दिया है। जिसके अनुसार इनका जन्मस्थान तीरभुक्ति (तिरहुत) प्रदेश था और इनके पिता का नाम श्री जगन्नाथ शर्मा था। श्री जगन्नाथ शर्मा अनेक शास्त्रों के विद्वान थे।[६४] इनके छः पुत्र और तीन पुत्रियां थीं।[६५] वेणीदत्त का जन्मस्थान तीरभुक्ति (तिरहुत) के श्री १०८ मत् सिद्धेश्वरी पीठ के निकट स्थित प्रसिद्ध सरिसव ग्राम से संलग्न हाटी नामक उपग्राम था। इनके पिता जगन्नाथ शर्मा भूर्तहरिनिर्वेद नाटक, हरिहरसुभाषित प्रभृति काव्यग्रन्थों के लेखक थे। इनका जन्म हरिहर उपाध्याय के वंश में हुआ था और ये वत्सगोत्रीय थे।[६६]

बदरीनाथ झा के अनुसार वेणीदत्त अपने बहन के पुत्र मिथिला नरेश महाराज माधवसिंह (११८३ हिजरी—१२१४ हिजरी = १७७६ ई०-१८०७ ई०) के सभारत्न थे। अतः वेणीदत्त का समय १८वीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिये।

वेणीदत्त के अभीष्ट देव श्रीकृष्ण थे। रसकौस्तुभ के मंगलाचरण में आचार्य ने श्रीकृष्ण की ही वन्दना की है और अन्त में अपनी कृति राधा एवं कृष्ण को समर्पित की है। वेणीदत्त के गुरु का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः आचार्य ने अपने पिता से ही शिक्षा प्राप्त की हो।

---

६४. आसीद्यस्तीरभुक्तौ ललितकरमहावंशजश्चारुकर्मा।
चंचच्छास्त्राब्जभानुः प्रथितवरयशसाः श्रीजगन्नाथशर्मा।
चक्रे तस्यात्मजन्मा मुरहरचरणाम्भोरुहासक्तचित्तो,
वेणीदत्तः प्रयत्नादतिरुचिरतरं कौस्तुभं सद्रसानाम्॥
—(रसकौस्तुभं, पृ० १२२)

६५. वही, भूमिका पृ० २०

६६. तीरभुक्तिजनपदप्रतीकं श्री १०८ मतिसद्धेश्वरीसान्निध्यप्रसिद्ध 'सरिसव' ग्रामोपमंश्लिष्टं 'हाटी' समविधानसव्वंसथमधिवसन् भूर्तहरिनिर्वेदनाटक-हरिहर-सुभाषितप्रभृतिश्रव्यकाव्यानां प्रणेतुर्हरिहरोपाध्यायस्य........ वात्सकरमहाकुले..................। (अलंकारमंजरी, पृ० १)

आचार्य ने तीन ग्रन्थों की रचना की—(१) रसकौस्तुभ, (२) अलङ्कारमंजरी और (३) विरुदावली। प्रथम एवं द्वितीय ग्रन्थ काव्यशास्त्रविषयक है। रसकौस्तुभ में नौ रसों का विवेचन है किन्तु आचार्य ने प्रमुख रूप से शृङ्गार एवं शृङ्गार से सम्बद्ध नायक-नायिकादि भेद पर ही सर्वाधिक ध्यान दिया है। संक्षेपतः इसमें शृङ्गार रस, मानभंगोपाय, कामदशायें, विभाव, नायिका-भेद, सखी, दूती-भेद, नायकभेद, भाव, सात्त्विक, स्थायी, व्यभिचारी, अनुभाव, हाव और अन्य आठ रसों का निरूपण हुआ है।

आचार्य ने ग्रन्थ में कहीं भी खण्डन-मण्डन अथवा शास्त्रार्थ शैली नहीं ग्रहण की है। अभिमत लक्षण कारिकाओं में उपन्यस्त कर लक्ष्य प्रस्तुत किया गया है। लक्ष्यस्वरूप उपस्थापित स्वरचित उदाहरणों में आचार्य ने अभीष्ट देव श्रीकृष्ण का गुणगान किया है। इससे वेणीदत्त की उत्कृष्ट कवित्व शक्ति का परिचय मिलता है। आचार्य, भानुदत्त से प्रभावित है और भानुदत्तकृत रसमंजरी और रसतरंगिणी को आदर्शस्वरूप मानकर रसकौस्तुभ की रचना की गयी है। इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन श्रीलेखनाथ शर्मा के सम्पादकत्व में हुआ था।

द्वितीय ग्रन्थ अलङ्कारमंजरी में पहले शब्दालङ्कारों—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक एवं श्लेष—का तदनन्तर ५९ अर्थालङ्कारों का निरूपण है। इस गन्थ में भी आचार्य ने समीक्षा शैली का आश्रय नहीं लिया है। अलङ्कारों का लक्षण कारिकाओं में निबद्ध कर उदाहरण उपन्यस्त किये गये हैं। कारिकाओं के सरल होने के कारण वृत्ति नहीं लिखी गयी है। ग्रन्थ में कहीं-कहीं रसकौस्तुभ एवं विरुदावली के पद्यों को उदाहरणस्वरूप उपन्यस्त किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन बदरीनाथ (झा) शर्मा के सम्पादकत्व में मिथिला संस्कृत विद्यापीठ से हुआ है। तीसरे ग्रन्थ का उल्लेख आचार्य ने अलङ्कार-मञ्जरी में वृत्त्यनुप्रास के प्रसंग में किया है। इस माधवविरुदावली में मिथिलेश माधव सिंह का वर्णन है।

### १०. अच्युत राय शर्मन् 'मोडक'

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में अच्युतरायशर्मन् का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने स्थल-स्थल पर नवीन मतों का उपस्थापन किया है और प्राचीन मतों की समीक्षा की है। अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ साहित्यसार के आधार पर ये प्राचीन आलङ्कारिकों की पंक्ति में समारोहणार्ह है। अच्युतराय ने ग्रन्थ की पुष्पिका में अपने गुरु का नाम श्री नारायण शास्त्री 'षष्टि' लिखा है।[६७] ये अद्वैत सच्चिदानन्द सरस्वती के शिष्य थे।[६८]

---

६७. इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणक्षीरार्णवविहरण श्रीमदद्वैतविद्येन्दिरारमणषष्ट्युपनामक-श्रीमन्नारायणशास्त्रिगुरुवरचरणारविन्दराजहंसायमानेन मोडकोपनाम्नाच्युत-शर्मणा········।

६८. New Catalogus Catalogurum, pg. 59,

इनके पिता का नाम नारायण एवं माता का नाम अन्नपूर्णा था। ये नासिक (महाराष्ट्र प्रदेश) के समीप स्थित पञ्चवटी के निवासी थे। यहीं इन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना की। आचार्य ने ग्रन्थ की पुष्पिका में ग्रन्थ रचनाकाल शक १७५३ (१८३१ ई०) लिखा है।[६९] अतएव अच्युतराय का समय १९वीं शती निश्चित है। लेखक ने मंगलाचरण में शिव की वन्दना की है। अतः वे शिव भक्त भी रहे होंगे। लेखक ने अपने गुरु (पित्रादि रूप), विद्यागुरु एवं सद्गुरु (अद्वैत आत्मतत्त्वोपदेष्टा) को प्रणाम किया है किन्तु किसी का भी नाम्ना उल्लेख नहीं है।

अच्युतराय ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। जिनमें काव्यशास्त्र विषयक साहित्यसार ग्रन्थ प्रसिद्ध है। अच्युतराय ने इस पर सरसामोद नामक टीका लिखी है। लेखक ने अपनी टीका में स्वरचित भागीरथीचम्पू (१८१४ ई०), कृष्णलीलामृत, निरञ्जनमञ्जरी, अद्वैतामृतमञ्जरी, नीतिशतपत्र का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त अच्युतराय ने भामिनी विलास पर प्रणय-प्रकाश एवं पञ्चदशी टीका तथा अद्वैतराज्यलक्ष्मी, अद्वैतविद्याविनोद, अवैदिकमततिरस्कार, ईशदेशिकविवेचनमञ्जरी, गीतासीतापति, गौदालहरी, जीवनमुक्तिविवेकव्याख्या, प्रारब्धवानध्यानस्मृतिबौध्यायिकसिद्धि, महावाक्यार्थमञ्जरी, रामगीताचन्द्रिका, विष्णुपदलक्षणम्, श्रीकण्ठस्तवः, वेदान्तामृतचिद्रत्नम्, सौद्धयाज्ञकल्पद्रुम, हेरम्बचरणामृतलहरी ग्रन्थों की रचना की।

साहित्यसार में सम्पूर्ण काव्यशास्त्र तत्त्व व्याख्यात हैं। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में विभक्त है जिन्हें रत्न कहा गया है। आचार्य ने समुद्रमन्थन से प्राप्त पदार्थों के नाम के आधार पर अध्यायों का नामकरण किया है। संक्षेप में ग्रन्थ का प्रारूप इस प्रकार है – १. धन्वन्तरिरत्न-मंगलाचरण, काव्यभेद, साहित्यशास्त्रस्वरूप, 2. ऐरावतरत्न-शब्दार्थस्वरूप, त्रिविध शक्ति, ३. इन्दिरारत्न-अर्थव्यञ्जकता, ४. दक्षिणावर्तकम्बुरत्न-ध्वनिभेद, रसभेद, व्यभिचारीभावलक्षण आदि, ५. अश्ववररत्न-गौणादिव्यंग्यभेद, ६. विषरत्न-काव्यदोष, ७. गुणरत्न-काव्यगुण, ८. कौस्तुभरत्न-अर्थालङ्कार, ९. कामधेनुरत्न-अधमकाव्यभेद, शब्दालङ्कार, १०. रम्भारत्न-नायिकाभेद, ११. चन्द्ररत्न-नायकनिरूपण व भेद, १२. अमृतरत्न-उपसंहार।

आचार्य ने सरसामोद टीका में अनेकशः पण्डितराज जगन्नाथ एवं रसगंगाधर का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, सरस्वतीकण्ठाभरण, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द आदि प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्यशास्त्र का अनुसंधान कर उनका सार रूप प्रस्तुत किया है। साहित्यसार ग्रन्थ कुल स्वरचित १३१३ कारिकाओं में निबद्ध है। चन्द्रालोक-प्रभृति ग्रन्थों की भाँति पूर्वार्ध में लक्षण एवं उत्तरार्ध में स्वरचित लक्ष्य उपन्यस्त है। ग्रन्थ में समीक्षा शैली का आश्रय लिया गया है। और प्राचीन लक्षणों का परिष्कार करते हुए सरल भाषा में उन्हें निबद्ध किया गया है। इसमें

---

६९. शाकेऽग्निबाणमुनिभूमितवर्षे खरसमाह्वयेऽपि बत।
श्रावणासितदशमीज्ये पूर्णोऽभूत्पञ्चवाटिकायाम् ॥

लक्ष्यरूप उदाहरण प्रायः अद्वैतपरक ही दिए गए हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर के सम्पादन में निर्णय सागर प्रेस, बॉम्बे से हुआ है।

### ११. श्रीकृष्ण कवि

आचार्य श्रीकृष्ण कवि को कृष्ण शर्मन् एवं कृष्णावधूत भी कहा जाता है। श्रीकृष्ण कवि ने अपने ग्रन्थ मन्दारमरन्दचम्पू के प्रत्येक बिन्दु के अन्त में संक्षिप्त आत्म-परिचय दिया है। जिसके अनुसार इनका निवास स्थान गुहपुर था और इनके गुरु वासुदेव योगीश्वर थे।[७०] इसके अतिरिक्त आचार्य के कुल एवं समय के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। कृष्णशर्मन् ने अलङ्कार प्रकरण में प्रायः कुवलयानन्द से लक्षण एवं उदाहरण ग्रहण कर लिया है और कुवलयानन्द में निरूपित कतिपय नवीन अलङ्कारों का भी विवेचन ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इस आधार पर आचार्य का समय १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पश्चात् ही ठहरता है। विद्वानों ने आचार्य का समय १८३५ ई० से १९०९ ई० निर्धारित किया है। श्रीकृष्ण कवि ने मंगलाचरण में कृष्ण की वन्दना की है। सम्भवतः कृष्ण ही इनके अभीष्ट देव हैं।

श्रीकृष्ण कवि ने चार ग्रन्थों की रचना की—(१) मन्दारमरन्दचम्पू, (२) काव्यलक्षण, (३) रसप्रकाश—काव्यप्रकाश टीका, और (४) सारस्वतालंकार सूत्र एवं भाष्य।

प्रथम ग्रन्थ भी वस्तुतः काव्यशास्त्रविषयक है किन्तु आचार्य ने, लक्षणों के गद्य व पद्य दोनों में निबद्ध होने के कारण, इसका नाम चम्पू रख दिया है। इसमें छन्दःशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, एवं कविशिक्षा आदि काव्यविषयक समस्त सामग्री का निरूपण हुआ है। लक्षण व लक्ष्य स्वरचित कारिकाओं में निबद्ध है और कहीं-कहीं वृत्ति लिखी गई है। ग्रन्थ ग्यारह बिन्दुओं में विभक्त है जिनमें अधोलिखित विषयों का विवेचन हुआ है—

१. वृत्त बिन्दु-छन्द, २. सार बिन्दु-नायकवर्णन, ३. श्लिष्ट बिन्दु-श्लेष, ४. चित्र बिन्दु-यमक व चित्र, ५. बन्ध बिन्दु-बन्ध, ६. गुप्त बिन्दु-क्रियाकर्म कर्तृ सम्बन्ध गोपन, ७. नर्तन बिन्दु-नाट्यशास्त्र, ८. शुद्ध बिन्दु-नायक-नायिका वृत्ति लक्षण, ९. रम्य बिन्दु-भाव एवं रस, १०. व्यंग्य बिन्दु-अलङ्कार एवं ध्वनि निरूपण, ११. शेष बिन्दु-छन्द, दोष गुण, शब्दार्थ, पाक, काव्य, वर्ण्यावर्ण्य पदार्थ प्रकरण।

उपर्युक्त विषय-विवेचन क्रम देखने से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ का विभाजन अवैज्ञानिक रीति से किया गया है और आचार्य का उद्देश्य एक ही पुस्तक में समस्त विषयों को संकलित कर देना मात्र है। ग्रन्थ में निबद्ध लक्षण व लक्ष्य में तथा राजचूडा-

---

७०. इति श्रीमद्घटिकाशतघण्टाविहिताष्टभाषाचरणनिपुणस्य वासुदेवयोगीश्वरस्यान्तेवास्यन्यतमस्य गुहपुरवासशर्मणः स कृष्णशर्मणः कवेः कृतौ मन्दारमकरन्दे चम्पूप्रबन्धे वृत्तबिन्दुः प्रथमः समाप्तिमगमत्। (पृ० २७)

मणि दीक्षितकृत काव्यदर्पण में कहीं-कहीं शब्दश: समानता है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन काव्यमाला गुच्छक ५२ में केदारनाथ एवं वासुदेवलक्ष्मण शास्त्री प्रणशीकर के सम्पादकत्व में हुआ है।

**१२. श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल संयमीन्द्र**

इनका वास्तविक नाम कृष्णमाचार्य वकील था। संन्यास ग्रहण करने के अनन्तर इन्होंने उपर्युक्त नाम धारण किया। इन्होंने अपने ग्रन्थ अलंकारमणिहार के उपोद्घात एवं उपसंहार में आत्मपरिचय दिया है। ये महीशूर (मैसूर) के परकाल वैष्णव मठ के ३१ वें मठाधीश थे। इन्होंने सर्वतन्त्र स्वतन्त्र विरुद धारण किया। इनके पिता का नाम ताताचार्य और माता का नाम कृष्णाम्बा था।[७१] ये अमिडेला ग्राम के निवासी थे। इनका जन्म १८३९ ई० में और मृत्यु १९१६ ई० में हुई। ये वनर्पति, आत्मकूर और आनगोन्दि के राज्य में कुछ दिनों तक रहे।

श्रीकृष्ण ने कुल ६७ ग्रन्थों की रचना की जिनमें अलङ्कारमणिहार, आलङ्कारिक तत्त्वनिर्णयविधि (१८९० ई०), रंगराजविलासचम्पू, कार्तिकोत्सव-दीपिकाचम्पू, श्रीनिवासविलासचम्पू, चपेटाहस्तिस्तुति, उत्तरंगमाहात्म्य, रामेश्वर-विजय, नृसिंहविलास, मदनगोपालमाहात्म्य, पीयूषलहरी, हंससन्देश आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

अलङ्कारमणिहार का प्रकाशन गवर्नमेण्टल, लाइब्रेरी सीरीज, मैसूर से चार भागों में हुआ है। प्रथम भाग का सम्पादन एल० श्रीनिवासाचार्य ने, द्वितीय एवं तृतीय भाग का सम्पादन डा० आर० एम० शास्त्री ने तथा चतुर्थ भाग का सम्पादन डी० श्री-निवासाचार ने किया है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने १२१ अर्थालङ्कारों एवं ४ शब्दा-लंकारों का निरूपण किया है। लक्षण स्वरचित कारिकाओं में निबद्ध है और कारिका को स्पष्ट करने के लिए वृत्ति लिखी गयी है। स्वरचित उदाहरणों में अपने उपास्य देव तिरुपति के श्रीनिवास (वेंकटेश्वर) की स्तुति की गयी है। ग्रन्थ में समीक्षा शैली का आश्रय लिया गया है। प्राचीन व अर्वाचीन आलङ्कारिकों का सिद्धान्त प्रस्तुत कर उनमें मतभेद प्रदर्शित करते हुए साधुत्व व असाधुत्व का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में कुवलयानन्द, रसगंगाधर प्रभृति ग्रन्थों का उल्लेख है।

## (ख) अल्पप्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध आचार्य

**१. सुन्दरमिश्र औजागरि**—इन्होंने नाट्यप्रदीप ग्रन्थ की रचना १६१३ ई० में की। इसमें दशरूपक के एक स्थल का उद्धरण दिया गया है। इन्होंने १५९९ ई० में अभिराममणि नाटक की भी रचना की थी।

---

७१. नवदुर्गंतातदेशिककृष्णाम्बासूनुरातनोतीमम्।
श्रीशैलान्वयजन्मा कृष्णोऽलङ्कारमणिहारम्॥ (पृ० ८)

२. **विश्वनाथ देव**—इनके लिए विश्वनाथ, विश्वनाथ शर्मा एवं विश्वनाथ देव नाम प्रयुक्त हैं। इनका जन्म दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के तटवर्ती धारासुर नगर में हुआ किन्तु बाद में ये वाराणसी में निवास करने लगे। इनके पिता का नाम त्रिमलदेव था। विश्वनाथ देव ने साहित्यसुधासिन्धु के मङ्गलाचरण में शिव की स्तुति की है। अत: ये भगवान् विश्वनाथ के उपासक थे। इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १६४९ (१५९२ ई०) है। अत: इनका जन्म-काल १५५२ ई० लगभग निर्धारित किया जा सकता है।

आचार्य विश्वनाथ देव ने तीन ग्रन्थों की रचना की—(१) चित्र मीमांसा, (२) मृगांकलेखा, और (३) साहित्यसुधासिन्धु। साहित्यसुधासिन्धु ग्रन्थ ८ तरंगों में विभाजित है, जिसमें प्राय: सभी काव्यशास्त्रीय तत्त्व अधोलिखित क्रम से व्याख्यात हैं—१. काव्यप्रयोजन, लक्षण, भेद, २. शक्ति, ३. ध्वनि, ४. गुणीभूत व्यंग्य, ५. दोष, ६. गुण, ७. शब्दालंकार, ८. अर्थालंकार।

आचार्य ने अधिकांश लक्षण एवं उदाहरण स्वरचित ही उपन्यस्त किये हैं, किन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों एवं उदाहरणों को पर्याप्त मात्रा में ग्रहण किया है। ये आचार्य मम्मट से प्रभावित दिखाई देते हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन पण्डित रामप्रताप के सम्पादकत्व में भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली से १९६८ ई० में हुआ है।

३. **नरहरि**—आचार्य ने अपने ग्रन्थ नवरसमञ्जरी के प्रथम उल्लास में अपने गुरु जगद्गुरु नादमूर्ति अथवा इब्राहिम के गुणों की प्रशंसा की है। नादमूर्ति बीजापुर के निवासी थे। इन्होंने १५८० ई० से १६२७ ई० तक राज्य किया। अत: नरहरि का समय एवं निवास स्थान यही होना चाहिए। आचार्य नरहरि संगीत के उपासक थे। इन्होंने नवरसमंजरी नामक अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ ६ उल्लासों में विभक्त है—(१) गुरु-प्रशंसा (२) नायक भेद, (३) नायिका भेद, (४) नायिका उपभेद, (५) रस, और (६) भाव। आचार्य ने लक्षण तो प्राचीन आचार्यों से ग्रहण किया है, किन्तु उदाहरणों की प्रस्तुति में मौलिकता है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन पी० जी० लाल्ये के सम्पादकत्व में हैदराबाद से हुआ है।

४. **अरुण गिरि कवि**—ये कोलदेश के कौण्डिन्य गौत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शेषाद्रि और गुरु का नाम वेंकटाद्रि था। ये उत्तर बिम्बलि (वटक्कुंकूर) के राजा गोदवर्म के आश्रित थे। अत: इनका समय १६वीं शती का उत्तरार्द्ध अथवा १७वीं शती का पूर्वार्ध है। इन्होंने प्रतापरुद्रयशोभूषण के आधार पर गोदवर्मयशोभूषण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की है जिसमें ७१ अर्थालंकारों का विवेचन है। अलङ्कारों के सभी उदाहणों में गोदवर्म के गुणों की प्रशंसा की गयी है। इसका प्रकाशन दि यूनिवर्सिटी मैनसक्रिप्ट लाइब्रेरी, त्रिवेन्द्रम से हुआ है।

५. **सुधीन्द्रयोगिन् (यति)**—ये विजयीन्द्र यति के शिष्य एवं उत्तराधिकारी थे। विजयीन्द्र यति की मृत्यु १६२३ ई० में हुई। अत: आचार्य का समय १७वीं शती का

पूर्वार्ध है। इनका निवास स्थान तंजौर था। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की—(१) अलङ्कारनिकष, और (२) अलङ्कारमंजरी (स्वरचित मधुधारा टीका सहित)।[७२] सम्भवत: इन्होंने कृष्णदीक्षित रचित रघुनाथभूपालीय पर साहित्य-साम्राज्य टीका भी लिखी थी। इसके अतिरिक्त सुभद्रापरिणय नाटक का लेखक भी प्रकृत आचार्य को कहा गया है।

सुधीन्द्रयति माधवसम्प्रदाय के अनुयायी थे। प्रथम ग्रन्थ में अर्थालंकारों का विवेचन है जिसमें प्राय: प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों की परिभाषाओं को ही ग्रहण किया गया है और कारिका में निबद्ध कर गद्य में व्याख्या की गयी है। उदाहरणों में सुधीन्द्र यति के ही गुणों की प्रशंसा है। इसकी पाण्डुलिपि गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी. मद्रास में है। द्वितीय कृति के उदाहरणों में आचार्य ने अपने गुरु विजयीन्द्र का गुणगान किया है। इसकी पाण्डुलिपि तंजोर में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ पर आचार्य के उत्तराधिकारी सुमतीन्द्र ने मधुधारा टीका लिखी है।

६. **कृष्ण दीक्षित अथवा कृष्ण यज्वन्**—आचार्य ने अलङ्कारशास्त्र विषयक दो ग्रन्थों की रचना की—(१) रघुनाथ भूपालीय, और (२) अलङ्कारमुक्तावली। प्रथम ग्रन्थ प्रतापरुद्रयशोभूषण की परम्परा में आता है। इसमें आचार्य ने समस्त उदाहरणों में अपने आश्रयदाता तंजौर के राजा रघुनाथ का गुणगान किया है। रघुनाथ का समय १७वीं शताब्दी निश्चित है। अतएव आचार्य का भी यही समय है। रघुनाथभूपालीय में काव्यशास्त्र के प्राय: समस्त तत्त्व व्याख्यात हैं। यह आठ विलासों में विभाजित है, जिनमें क्रमश: 1. नायकगुण, २. काव्यस्वरूप, ३. संलक्ष्यक्रम व्यंग्य, ४. असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य, ५. गुणीभूत व्यंग्य ६. शब्दालंकार, ७. अर्थालंकार, ८. गुण का विवेचन है। इन्हें कृष्णकवि भी कहा जाता है।

७. **यज्ञनारायण दीक्षित**—इनके पिता का नाम गोविन्द दीक्षित था। गोविन्ददीक्षित तंजौर के राजा रघुनाथ नायक (१६१४ ई०-१६३३ ई०) के मन्त्री थे। अत: आचार्य का समय १७ वीं का पूर्वार्ध अथवा उत्तरार्ध होना चाहिए। ये वेंकटेश्वर मखी के गुरु एवं ज्येष्ठ भ्राता थे तथा कृष्णयज्वन्, राजचूड़ामणि दीक्षित आदि के समकालीन थे। इन्होंने (१) अलङ्कार रत्नाकर, (२) साहित्य रत्नाकर, (३) रघुनाथ-भूपविजय, और (४) रघुनाथविलासनाटक ग्रन्थों की रचना की। प्रथम ग्रन्थ में आचार्य ने लगभग सभी उदाहरणों में अपने राजा के गुणों की प्रशंसा की है। द्वितीय ग्रन्थ वस्तुत: १६ सर्गों का रघुनाथविषयक महाकाव्य है।

८. **विश्वनाथ न्याय (या सिद्धान्त) पञ्चानन**—इनके पिता का नाम काशीनाथ विद्या निवास भट्टाचार्य तथा भाई का नाम रुद्र वाचस्पति था। इन्होंने (१) अलङ्कार-परिष्कार, (२) भाषापरिच्छेद, एवं (३) पिंगल प्रकाशिका नामक ग्रन्थों की रचना की। डॉ० वर्णेकर ने न्यायसूत्रवृत्ति, नञ्वाद-टीका, पदार्थ-तत्त्वालोक, न्यासतंत्रबोधिनी,

---

72. History of Sanskrit Poetics—Kane, Pg 441.

सुबर्थतत्त्वालोक का भी उल्लेख किया है। भाषा परिच्छेद की रचना-तिथि १६३४ ई० उल्लिखित है। ये बंगाल के नवद्वीप स्थान के निवासी थे तथा रघुनाथ शिरोमणि के नव्य न्याय स्कूल के पोषक थे।

नवद्वीप स्थित विदग्धजननी परिषद् दक्ष छात्रों को तर्कचूडामणि तर्कपञ्चानन, तर्करत्न, तर्कसिद्धान्त, तर्कवागीश, सिद्धान्तवागीश, वाचस्पति, विद्यावाचस्पति, सार्वभौम, न्यायपंचानन आदि उपाधि प्रदान करती थी।

९. **बालकृष्ण भट्ट**—इनकी उपाधि तिघर थी। ये वल्लभ सम्प्रदाय के थे। इनके पिता का नाम गोवर्धन भट्ट था। आपने अलङ्कारसार नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में कुवलयानन्द एवं चित्रमीमांसा का उल्लेख किया गया है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जो डेकन कालेज पूना (संख्या २३, १८८१-८२) में है, में रचनाकाल संवत् १७५८ (१७०२ ई०) दिया हुआ है। अतः आचार्य की स्थिति १६२५-१७०० ई० के मध्य निर्धारित की जा सकती है।

अलङ्कारसार दस उल्लासों में विभाजित है जिसमें प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय तत्त्व काव्यप्रकाश के क्रम की भाँति ही व्याख्यात हैं।

१०. **कृष्णभट्ट**—आचार्य का समय १७वीं शताब्दी है। इन्होंने प्रश्नमाला नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। इसमें प्रामाणिक ग्रन्थों के पाठ्य के विषय में समस्याओं को उठाकर उनका समाधान दिया गया है।

११. **कविचन्द्र**—इनके पिता का नाम कवि कर्णपूर एवं माता का नाम कौशल्या था। ये दीर्घांक ग्राम के दत्त कुल के थे। इन्होंने (१) काव्यचन्द्रिका, (२) चिकित्सा-रत्नावली, (३) सारलहरी, (४) धातुचन्द्रिका इत्यादि अनेक ग्रन्थों की रचना की। काव्यचन्द्रिका अलङ्कारशास्त्रविषयक ग्रन्थ है, जिसमें १५ प्रकाश हैं—१. काव्यलक्षण, २. शब्दशक्ति, ३. रस, ४. भाव, ५. रस-भेद, ६. रसाभास, ७. काव्यभेद, ८. प्रमाण-निरूपण, ९. रीति, १०. गुण, ११. शब्दालङ्कार, १२. अर्थालङ्कार, १३. दोष, १४. कवितोपाय, १५. नाट्य। इस ग्रन्थ में सारलहरी एवं धातुचन्द्रिका का उल्लेख किया गया है। काणे इनका समय १६वीं शती का उत्तरार्ध मानते हैं।[७३] किन्तु चिकित्सा-रत्नावली का लेखनकाल शक १५८३ (१६६१ ई०) है। अतः आचार्य का समय १७वीं शताब्दी है।

१२. **मौनी कृष्ण भट्ट**—इनके पिता का नाम रघुनाथ भट्ट एवं प्रपितामह का नाम गोवर्धन भट्ट था।[७४] इनके जन्मस्थान, निवास-स्थान इत्यादि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इन्होंने अपने ग्रन्थ वृत्तिदीपिका के मङ्गलाचरण में श्रीकृष्ण की वन्दना की है। अतः इनके अभीष्ट देव श्रीकृष्ण हैं। वृत्तिदीपिका में अप्पयदीक्षित कृत वृत्ति-

---

७३. वही, पृ० ४०७

७४. इति श्रीमन्मौनितिलकायमानगोवर्धनभट्टात्मजरघुनाथभट्टसुत-श्रीकृष्णभट्टविरचिता वृत्तिदीपिका समाप्तिमगमत् (वृत्तिदीपिका, पृ० ४४)।

वार्तिक के कुछ स्थलों की आलोचना की गयी है, किन्तु पण्डितराज का कहीं उल्लेख नहीं है। अतः ये पण्डितराज के समकालीन प्रतीत होते हैं।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर जयपुर से हुआ है। इस ग्रन्थ में शब्दवृत्तियों के अतिरिक्त वैयाकरणाभिमत कृत्, तद्धित, समास, एकशेष, सनाद्यन्तधातुरूप पञ्च वृत्तियों पर भी विचार किया गया है। प्रसङ्गवश स्फोटादिविचार भी निहित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना गद्य में हुई है।

१३. **अकबरशाह 'बड़े साहब'**—इनके पिता का नाम शाहराज था। ये गोलकुण्डा के शासक सुलतान अबुलहसन कुतुब के गुरु थे। अकबरशाह का जन्म १६४६ ई० एवं मृत्यु १६७२-१६७५ ई० के मध्य हुई। लेखक ने शृङ्गारमंजरी अथवा अकबरसाहिशृङ्गारमंजरी नामक ग्रन्थ लिखा है। वस्तुतः यह किसी अन्य लेखक द्वारा तेलुगु भाषा में लिखे गये शृङ्गारमंजरी ग्रन्थ का संस्कृत अनुवाद है। यह ग्रन्थ रसमंजरी के आधार पर लिखा गया है। इसका मुख्य विवेच्य-विषय नायक-नायिका है प्रसंगतः शृङ्गाररस का भी निरूपण हुआ है। इसका प्रकाशन डा० राघवन के सम्पादकत्व में पुरातत्त्व विभाग, हैदराबाद स्टेट, १९५१ से हुआ है।

१४. **शौंठिमार भट्टारक**—इनका समय १७वींशताब्दी है। इन्होंने रससुधानिधिम् नामक अलङ्कारशास्त्र ग्रन्थ की रचना की।[७५]

१५. **मथुराप्रसाद दीक्षित**—इनका जन्म १८७८ ई० में भगवन्तनगर ग्राम (जिला हरदोई) में हुआ था। इनके पिता बदरीनाथ, माता कुन्ती देवी तथा पुत्र प्रसिद्ध नाटककार सदाशिव दीक्षित थे। इनकी कृतियों की संख्या २४ है। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत इन्होंने कवितारहस्यम् नामक ग्रन्थ की रचना की।[७६]

१६. **लक्ष्मीधर दीक्षित**—इन्हें लक्ष्मण सूरि भी कहा जाता है। इनके पिता का नाम यज्ञेश्वर एवं माता का नाम सर्वाम्बिका अथवा अम्बिकाम्बा था। इनका उपनाम दक्षिणामूर्ति किंकर था। ये काश्यपगोत्रीय थे। इनके भाई कोण्डुभट्ट ही इनके गुरु थे। ये आन्ध्रप्रदेश में कृष्णा नदी के समीप चेरुकूरी स्थान के निवासी थे तथा तिरुमलराज के आश्रित थे। तिरुमलराज का समय १७वीं शती का मध्य है। अतएव आचार्य का भी यही समय है। इन्होंने कुल सात ग्रन्थों की रचना की—(१) अलङ्कारमुक्तावली, (२) रसमंजरी, (३) भरतशास्त्रग्रन्थ (४) षड्भाषाचन्द्रिका (प्राकृत व्याकरण), (५) अनर्घराघवटीका, (६) प्रसन्नराघवटीका, (७) गीतगोविन्द टीका। प्रारम्भिक तीन ग्रन्थ काव्यशास्त्रविषयक हैं।

---

७५. Proceeding, International Sanskrit eonference, Vol. I Part I, 1975, Pg. 61.

७६. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डा० हीरालाल शुक्ल, पृ० १५०

१७. **रघुनाथ**—ये तंजौर की रानी दीपाबाई (१६७५ई०-१७६२ ई०) के कृपापात्र थे। इन्होंने साहित्य-कुतूहल नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें चित्रकाव्य पर विचार किया गया है।

१८. **सामराज दीक्षित**--इन्हें श्यामराज भी कहा जाता है।[७७] इनके पिता का नाम नरहरि बिन्दु पुरन्दर था। ये मथुरा निवासी थे एवं इनका समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध है। ये बुन्देलखण्ड के राजा आनन्दराय के सभा पण्डित थे। इनके पुत्र कामराज, पौत्र व्रजराज एवं प्रपौत्र जीवराज इत्यादि महाकवि एवं आचार्य थे।

आचार्य ने (१) श्रृंगारामृतलहरी (२) त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजनस्तोत्र (३) श्रीदामचरित नाटक (४) रतिकल्लोलिनी (५) अक्षरगुम्फ (६) आर्यात्रिशती ग्रंथों की रचना की। श्रीदामचरित १६८१ ई० में बुन्देल के राजा आनन्दराज के लिए लिखा गया नाटक ग्रंथ है। डा० कपिलदेव द्विवेदी धूर्तनर्तक प्रहसन का रचयिता सामराज दीक्षित को ही बताते हैं।[७८] रतिकल्लोलिनी ग्रंथ का रचना काल १७१९ ई० है। कुछ विद्वान इसके रचयिता सामराज को प्रकृत आचार्य से भिन्न मानते हैं।

प्रथम ग्रंथ का प्रकाशन काव्यमाला गुच्छक-१४ में हुआ है। इस ग्रन्थ में मुख्यतः नायक-नायिका भेद और रस, विशेषतः श्रृंगार का विवेचन किया गया है। आचार्य ने प्रतिपाद्य प्रायः स्वरचित कारिकाओं में निबद्ध किया है, किन्तु कहीं-कहीं कारिकायें नाट्यशास्त्र एवं दशरूपक प्रभृति ग्रंथों से ग्रहण कर ली गयी हैं। ग्रंथ का शीर्षक सर्वथा प्रतिपाद्य के अनुरूप ही है। समस्त रसों का भेदपरिगणन करने के पश्चात् भी केवल श्रृंगार रस एवं उससे सम्बद्ध पात्रों व अन्य पदार्थों का ही विवेचन किया गया है। संक्षेप में ग्रंथ का प्रारूप इस प्रकार है—१—रस, २—रस संख्या, ३—श्रृंगाररस भेद, ४—नायकभेद, ५—नायक सहाय, ६—नायकोपचार वृत्तियाँ, ७—नायिका, ८—नायिकावस्था, ९—नायिका सखी, १०—दूती, ११—नायिका के अलंकार, १२—वियोग में नायिका की दस अवस्थायें, १३—उद्दीपन विभाव।

१९. **गोकुलनाथ मैथिल**—इनके पिता का नाम पीताम्बर 'विद्यानिधि' और माता का नाम उमादेवी था। इनका जन्म मधुवनी के समीप मंगरौनी के फणदहा परिवार में हुआ था। ये उत्सगोत्रीय मैथिल स्मार्त और नैयायिक थे। इनका निवास स्थान बनारस था। इनके ग्रन्थों की रचना की अवधि १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक है। आचार्य ने स्वरचित मासमीमांसा ग्रंथ में रचनाकाल १६३१ शक (१७०९ ई०) लिखा है। इस ग्रंथ का निर्माण आचार्य ने प्रौढावस्था में किया था। अतः आचार्य का जन्म १६५० ई० के पश्चात् माना जा सकता है। मासमीमांसा के विषय में एक किंवदन्ति है कि मिथिला के राजा राघव सिंह के अनुरोध पर

---

७७. History of Sanskrit Poetics-Kane, Pg. 441.

७८. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ४४७

आचार्य ने इस ग्रंथ की रचना की थी। अतः यह कहा जा सकता है कि ये राघव सिंह के आश्रित थे। एकावली नामक छन्दोग्रंथ से ज्ञात होता है कि टिहरी गढ़वाल राज्य के फतेह सिंह राजा का आश्रय भी इन्हें प्राप्त था।

आचार्य ने अपने ग्रंथों के मंगलाचरण में प्रायः कृष्ण, दुर्गा, शिव आदि की वन्दना की है। इससे उनके सम्प्रदाय का ज्ञान नहीं होता। सम्भवतः वे पञ्चदेवोपासक थे जिनमें शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा और गणेश का समान स्थान रहता है। आचार्य स्वयं, उनके पिता और प्रपितामह महामहोपाध्याय पद से विभूषित थे। ये चार भाई थे— त्रिलोचन, घनंजय, गोकुलनाथ और जगद्धर।

आचार्य गोकुलनाथ प्रणीत ग्रंथों की नामावलि इस प्रकार है[७९]—(१) रश्मिचक्रम् (२) आलोकविवरणम् (३) दीधितिविद्योतः (४) न्यायसिद्धान्ततत्त्वम् (५) दिक्कालनिरूपणम् (६) लाघवगौरवरहस्यम् (७) कुसुमांजलिविवरणम् (८) बौद्धाधिकारविवरणम् (९) शक्तिवादः (१०) मुक्तिवादः (११) पदवाक्यरत्नाकर (१२) खण्डनकुठारः (१३) मिथ्यात्वनिरुक्तिः (१४) कुण्डकादम्बरी (१५) कादम्बरीप्रदीपः (१६) कादम्बरीकीर्तिश्लोकः (१७) कादम्बरीप्रश्नोत्तरमाला (१८) काव्यप्रकाशविवरणम् (१९) रसमहार्णवः (२०) शिवस्तुतिः (२१) अशौचनिर्णयः (२२) वृत्ततरंगिणी (२३) एकावली (२४) शुद्धविवेकः (२५) मासमीमांसा (२६) सूक्तिमुक्तावली (२७) मदालसा नाटकम् (२८) अमृतोदयनाटकम् (२९) आधाराधेयभाक्तत्वपरीक्षा (३०) विशिष्टवैशिष्ट्यबोधः (३१) भूयाम्यसाधनप्रकरण।

उपर्युक्त ग्रंथों में से रसमहार्णव और विवरण (काव्यप्रकाशटीका) अलङ्कारशास्त्रविषयक हैं। काणे ने प्रथम ग्रंथ का नाम रसार्णव लिखा है। इसका प्रकाशन धर्मनाथ झा एवं कुमुदनाथ मिश्र के सम्पादकत्व में कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय से हुआ है। इस ग्रंथ में केवल लक्षणा वृत्ति पर ही सूक्ष्मता के साथ विचार किया गया है।

२०. **चतुर्भुज**—इन्होंने रसकल्पद्रुम ग्रंथ की रचना की। इसका रचना-काल १७४५ संवत् (१६८९ ई०) है। इसमें कुल ६५ प्रस्ताव तथा एक सहस्र श्लोक हैं, जिनमें लगभग सभी काव्यशास्त्रीय तत्त्व व्याख्यात हैं। आचार्य ने अपने मित्र आशक खान के पुत्र शाइस्तेखान (संस्कृत कवि) की कृपा प्राप्त करने के लिए इस ग्रंथ की रचना की। उनके ६ श्लोक इसमें उद्धृत हैं।

२१. **वेंकट कृष्ण**—ये तंजौर के शाहेन्द्रशाह जी (१६८४-१७१० ई०) के कृपापात्र थे। अतः आचार्य का समय १७ वीं शती है। इन्होंने शब्दभेदनिरूपण नामक ग्रंथ की रचना की।

२२. **नरसिंह**—ये भी तंजौर के साह जी, सरफोजी (१६८४-१७१० ई०) के

---

७९. अमृतोदयम्—व्याख्याकार, रामचंद्र मिश्र, पृ० ४०

आश्रित थे। इन्होंने गुणरत्नाकर नामक ग्रंथ की रचना की। इसमें १०० अलंकारों का विवेचन है जिसके उदाहरणों में साह जी के गुणों की प्रशंसा है। इसके अतिरिक्त शिवनारायणभञ्जमहोदय ग्रंथ भी आचार्य रचित बताया जाता है।[८०]

२३. **नारायण**—ये भी तंजौर के राजा शाह महाराज जी (१६८४-१७१० ई०) के कृपा पात्र थे। अतः इनका समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिये। आचार्य ने शब्दभेदनिरूपण नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें शब्दवृत्तियों पर विचार किया गया है।

२४. **रामभद्र दीक्षित**—ये भी तंजौर के राजा शाह जी के आश्रित थे। अतः इनका समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध निश्चित है। इन्होंने शब्दशक्तिनिरूपण ग्रंथ की रचना की [८१]

२५. **वीरेश्वर पण्डित भट्टाचार्य 'श्रीवर'**—इनके पिता का नाम लक्ष्मण था। इनके पुत्र अलङ्कारचंद्रोदय एव रसिकरंजनी टीका के रचयिता वेणीदत्त थे। जी0 वी0 देवस्थली ने टीका का समय लगभग १७०८ ई० माना है। अतः वीरेश्वर पण्डित का समय १७ वीं शती होना चाहिए। आचार्य ने रसरत्नावली ग्रंथ की रचना की। इसमें मुख्यतः शृंगाररस एवं नायक-नायिका वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्योक्तिशतक ग्रन्थ भी आचार्य रचित कहा जाता है।[८२]

२६. **इन्द्रजिल**—इन्होंने १७१२ ई० में रामचन्द्रचन्द्रिका नामक अङ्कारशास्त्रीय ग्रंथ एवं वैराग्यशतक पर बालबोध-टीका तथा रसिकप्रिया (हिन्दी) ग्रंथों की रचना की।

२७. **सुखदेव मिश्र**—इनका समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने शृङ्गारलता नामक ग्रंथ की रचना की।[८३]

२८. **भाव मिश्र**—इनका भी समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध है। इनके पिता का नाम मिश्र भटक था। इन्होंने शृङ्गारसरसी ग्रंथ की रचना की।[८३]

२९. **श्रीकर मिश्र**—इनका भी समय १८ वीं शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने अलंकारतिलक ग्रंथ की रचना की।[८३]

३०. **भास्कर मिश्र**—इनका भी समय १८ वीं शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने साहित्यदीपिका ग्रंथ की रचना की।[८३]

---

८०. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ४४६

८१. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I, Pt. I. Pg. 474

८२. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ५६६

८३. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I, Pt. I, Pg. 127.

३१. **सुबुद्धि मिश्र**— इनका भी समय १७वीं शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने तत्त्व परीक्षा एवं काव्यालंकारसूत्रवृत्ति-व्याख्या लिखी।[८३]

३२. **कामराज दीक्षित**— इनके पिता का नाम सामराज दीक्षित था अतः इनका समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध ठहरता है। ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म बिन्दु पुरन्दरे कुल में हुआ था और ये मथुरा निवासी थे।[८४] इन्होंने (१) काव्येन्दुप्रकाश (नाट्यशास्त्रीय) एवं (२) रसनिर्णय (अलङ्कारशास्त्रीय) ग्रंथों की रचना की। इनके अतिरिक्त शृङ्गारकलिकात्रिशती काव्य, धूर्तनर्तकप्रहसन, चम्पक मंजरी एवं नरहरि-विजय नाटक का रचयिता भी इन्हें माना जाता है।

काव्येन्दुप्रकाश का प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत ग्रंथमाला से श्री बाबूलाल शुक्ल के सम्पादकत्व में हुआ है। इस ग्रंथ का चतुर्दशकलोल्लास एवं पञ्चदशकलोल्लास ये दो अंश ही प्राप्त होता है, किन्तु ग्रंथ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लेखक का संरम्भ षोडशकलात्मक ग्रंथ प्रणयन का था। इस ग्रंथ में वृत्ति, सन्धि, अवस्था, वस्तु, रूपकभेद आदि नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों पर विचार किया गया है।

३३. **रामानन्दपति त्रिपाठी**—पण्डित रामानन्द वाराणसी के निवासी एवं सरयूपारीण ब्राह्मण थे तथा शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह के विश्वासपात्र थे। इनके द्वारा रचित चतुर्भुजाष्टकस्तोत्र में रचनाकाल संवत् १७२३ (१६६६ ई०) उल्लिखित है। अतः आचार्य का समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध निश्चित है। ये व्याकरण, न्याय, कर्मकाण्ड, ज्योतिष, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, तन्त्र, कोष, काव्यादि विविध शास्त्रों में निष्णात थे। इसीलिए दाराशिकोह ने इन्हें 'विविधविद्याचमत्कारपारङ्गम्' पदवी से सम्मानित किया था।

इनके पिता का नाम मधुकर त्रिपाठी था। इन्होंने ३४ स्तोत्र ग्रंथों के अतिरिक्त वेदार्थमन्त्रसंग्रह, तत्त्वदीपिका, तर्कगुम्फणा, वैद्यकम्, निर्णयार्णवः, विवाहपद्धतिः, षोडशक्रियानुक्रमः आरामोत्सर्गः, जलाशयोत्सर्गः, वनोत्सर्गः, लिङ्गानुशासनम्, छन्दोरत्नाकरः विराड्विवरणम्, श्यामास्तवराजः, आद्यास्तवराजः, बगलामुखीस्तवराजः, आकाशवासिनीसपर्या, असितादिविद्यापद्धतिः, कालरात्रिविधानम्, गुह्यषोढाविवरणम्, रसिकजीवनम्, पद्यपीयूषम्, रामचरित्रम्, कटाक्षशतकम्, धन्यशतकम्, शशाङ्कशतकम्, हास्यसागरः, काशीकुतूहलम्, किरातभावदीपिका, काव्यप्रकाशप्राकृतार्थः एवं कुछ हिन्दी ग्रन्थों की रचना की।

इनमें से रसिकजीवनम् एवं काव्यप्रकाशप्राकृतार्थः अलङ्कारशास्त्र विषयक ग्रन्थ हैं। काव्यप्रकाशप्राकृतार्थः काव्यप्रकाश की टीका है। रसिकजीवन ग्रंथ में नायिकादिभेद पर विचार किया गया है प्रस्तुत ग्रन्थ से रीतिकालिक मनोवृत्ति का पर्याप्त परिचय

---

८४. काव्येन्दुप्रकाश, सम्पादक—बाबूलाल शुक्ल, उपोद्घात

प्राप्त होता है। यह ग्रंथ सात तरङ्गों में विभक्त है— नायिका-नायक निरूपण, नायक निरूपण, शृङ्गारनिरूपण, मानावस्थानिरूपण, प्रवासनिरूपण, करुणविप्रलम्भनिरूपण, भाव हावप्रभेदनिरूपण। इस ग्रन्थ में लक्षणों पर विचार न करके सीधे लक्ष्य रूप छन्दोबद्ध उदाहरण उपन्यस्त किया गया है। इसका प्रकाशन प्रो० करुणापति त्रिपाठी के सम्पादकत्व में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से 1978 ई० में हुआ है।

३४. **कृष्ण सूरि**—ये शान्तसूरि कुल के गोपालाचार्य के पुत्र थे। इनका निवासस्थान तनुकु जिले में था। इन्होंने अलंकारभीमांसा एवं साहित्यकल्पलतिका नामक ग्रंथों की रचना की। प्रथम ग्रंथ में इन्होंने रसगंगाधर की आलोचना की है। द्वितीय ग्रंथ में आन्ध्रप्रदेशीय आचार्यों का विवरण भी दिया गया है।[८५]

३५. **गदाधर भट्ट**—इनके पिता का नाम गौरीपति अथवा गौरीश और माता का नाम उमा था। इनके पितामह दामोदर भट्ट 'शंकरभट्ट' थे।[८६] इनका जन्म मिथिला के एक प्रसिद्ध कुल में हुआ था। इनके पिता ने श्रीपति-रचित आचारादर्श पर आचारादर्शबोधिनी नामक टीका की रचना १६४० ई० में की। इनके प्रपुत्र दामोदर भट्ट को सम्राट् अकबर का स्नेह प्राप्त था। काणे ने इनका काल १५वीं शती के बाद निर्धारित किया है, किन्तु आचार्य ने अपने ग्रन्थ रसिक जीवन में रसगंगाधर का उल्लेख किया है। अतः आचार्य का समय १७वीं शती के पश्चात् होना चाहिए।

रसिक जीवन ग्रन्थ का रचनाकाल १६७० ई० है। इसका प्रकाशन डा० जतीन्द्र बिमल चौधरी के सम्पादकत्व में कलकत्ता से सन् १९४४ ई० में संस्कृत कोष काव्यसंग्रह सीरिज-४ के अन्तर्गत हुआ है। इस ग्रन्थ में मुख्यतः रस का विवेचन है, किन्तु यह अलङ्कारविषयक ग्रन्थ न होकर वस्तुतः एक काव्य-संग्रह है। इसमें १० प्रबन्ध और १४७८ पद्य हैं जिनमें क्रमशः —१. देव अवतार वर्णन, २. राजवर्णन, ३. अन्योक्ति, ४. नवरस, बालावयव वर्णन, ५. नायक-नायिका वर्णन, ६. एवं ७. शृंगाररस, प्रवासादि वर्णन, ८. ऋतुवर्णन, ९. अन्य रस, १०. पण्डितप्रशंसा एवं कुपण्डितनिन्दा इत्यादि का निरूपण है।

३६. **काशी अथवा काशीकर लक्ष्मण कवि**—दास गुप्ता एवं डे ने आचार्य को काशी लक्ष्मण कवि कहा है। आचार्य ने अलङ्कारग्रन्थ अथवा शाहराजीय नामक काव्यशास्त्र की रचना की। इसके उदाहरणों में तंजौर के राजा शाह जी (१६८४-१७१० ई०) की प्रशंसा की गयी है। अतएव इनका समय १७वीं शती का अन्त अथवा १८वीं शती का पूर्व होना चाहिए।

---

८५. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I. pt. I., pg. 8.

८६. इति श्री भवानीभावनासक्त शंकरभट्टदामोदरभट्टसूनुश्रीगौरीपतिसूनुना गदाधरभट्टेन विरचिते रसिकजीवने दशमः प्रबन्धः समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

३७. **सुधाकर महाशब्दे**—ये सवाई जयसिंह द्वितीय कालीन (१६९९-१७४३ ई०) थे। इन्होंने साहित्यसारसंग्रह ग्रन्थ की रचना की। यह अप्रकाशित है।[८७]

३८. **रामचन्द्रन्यायवागीश**—इनका समय १८वीं शती है। इनके पिता का नाम विद्यानिधि था। ये बंगाली थे। इन्होंने काव्यचन्द्रिका (अलङ्कारचन्द्रिका) ग्रन्थ की रचना की।

३९. **वेणीदत्त शर्मन् तर्कवागीश भट्टाचार्य 'श्रीवर'**—इनके पिता का नाम वीरेश्वर 'श्रीवर' था। ये नागच्छत्रधर द्विजोत्तम कुल के थे। इन्होंने अलङ्कारचन्द्रोदय एवं रसतरंगिणी पर रसिकरंजनी टीका लिखी। अलंकारचन्द्रोदय ग्रन्थ ६ उल्लासों में विभक्त है जिसमें क्रमशः १. काव्य स्वरूप, २. काव्य विभाग, ३. दोष, ४. गुण, ५. अलङ्कार और ६. उपमा का विवेचन किया गया है। काणे ने आचार्य का समय १५८३ ई० माना है किन्तु जी० वी० देवस्थली रसिकरंजनी टीका को इतना प्राचीन न मानकर १८वीं शती में लगभग १७०८ ई० में उचित मानते हैं।

४०. **भीमसेन दीक्षित**—ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिवानन्द एवं पितामह का नाम मुरलीधर था। इन्होंने चार ग्रन्थों की रचना की—(१) अलङ्कारसारोद्धार, (२) सुधासागर या सुधोदधि-काव्यप्रकाश-टीका, (४) अलङ्कारस्थिति या कुवलयानन्दखण्डन, (४) रत्नावली टीका। सुधासागर की रचना विक्रम सम्वत् १७७९ (१७२३ ई०) में तथा अलङ्कारसारस्थिति की रचना जोधपुर के राजा अजितसिंह (१६८० ई०-१७२५ ई०) के राज्यकाल में हुई। आचार्य ने सुधासागर टीका में काव्यप्रदीपकार गोविन्द के आक्षेपों का खण्डन कर मम्मट का समर्थन किया है। ये वैयाकरण भी थे।

४१. **हरिप्रसाद माथुर**—इनके पिता का नाम माथुर मिश्र गंगेश तथा गंगेश्वर था। इन्होंने काव्यशास्त्रविषयक दो ग्रन्थों की रचना की –(१) काव्यार्थगुम्फ, और (२) काव्यालोक। काव्यार्थगुम्फ की एक हस्तलिखित प्रति पर संवत् १७७५ अंकित है। सम्भवतः यही इसका रचना काल है। काव्यालोक ग्रन्थ की तिथि संवत् १७३४ (१७२८ ई०) दी गयी है। यह ग्रन्थ सात प्रकाशों में विभक्त है।[८८]

४२. **जगन्नाथ मिश्र**—इनका समय १८वीं शती का पूर्वार्ध है। इन्होंने रसकल्पद्रुम ग्रन्थ की रचना की। इसका प्रकाशन उड़ीसा साहित्य एकेडमी से हुआ है।[८९]

४३. **शम्भुनाथ**—इन्होने अलङ्कारलक्षणानि ग्रन्थ की रचना की। डेकेन कालेज पूना की एक हस्तलिखित प्रति का समय संवत् १७९७ (१७४० ई०) लिखा हुआ है।

---

८७. जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन, पृ० ११

८८. भारतीय साहित्यशास्त्र भाग 2, बलदेव उपाध्याय, पृ० २६३

८९. Proceeding International Sanskrit Conference, Vol, I, Part I, 1975 Pg. 380.

४४. **चित्रधर**—महामहोपाध्याय चित्रधर का जन्म मिथिला के ब्राह्मणों के दरिहरा कुल में हुआ था। इनके पिता महामहोपाध्याय वंशधर थे। ये दरभंगा जिले के मंगरौनी ग्राम के निवासी थे। इनका समय १८वीं शती का पूर्वार्ध है। इन्होंने शृंगार-सारिणी एवं वीरतरंगिणी ग्रन्थों की रचना की। वीरतरंगिणी में लेखक ने स्वरचित दो ग्रन्थों विनायकस्तव एवं राजस्तुति पद्य का उल्लेख किया है। इनमें से शृङ्गारसारिणी अलङ्कारशास्त्र विषयक ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन डा० त्रिलोक नाथ झा के सम्पादकत्व में दरभंगा से १९६५ ई० में हुआ है।

आचार्य ने शृङ्गारसारिणी ग्रन्थ के मंगलाचरण में पार्वती को प्रणाम किया है। इस ग्रन्थ में लक्षण एवं व्याख्या पद्य में निबद्ध है तथा पूर्ववर्ती महाराज भोज, मम्मट, विश्वनाथ, भानुदत्त, गंगानन्द कवीन्द्र, जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ मुख्य रूप से शृङ्गाररस के विविध पक्षों की व्याख्या करता है। इसमें शृङ्गाररस, रति, कामदशा, मान, नायिका एवं उनके अलङ्कार इत्यादि पर विचार किया गया है तथा लक्ष्यस्वरूप उदाहदण प्रायः स्वरचित ही है।

४५. **गंगाराम जड़ी**—इनका निवास स्थान वाराणसी था। ये महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नारायण जड़ी,[९०] माता का नाम राधादेवी[९१] तथा गुरु का नाम श्रीनीलकण्ठ था। इन्होंने अपने ग्रन्थों की पुष्पिका में रचनाकाल का उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने विक्रम संवत् १७९९ से १८३० तक रचनाएँ कीं। अतएव इनका स्थितिकाल विक्रम संवत् १७७५ से १८५० के बीच निश्चित है।

इन्होंने कुल ६ ग्रन्थों की रचना की — (१) मणिमाला, अप्राप्त, (२) नौका—रसतरंगिणीटीका (विक्रम संवत् १७९९)[९२], (३) रसमीमांसा – स्वरचित छायाटीका सहित (विक्रम संवत् १८०८)[९३], (४) तात्पर्यटीका—तर्कामृतचषक टीका (विक्रम संवत् १८३०), ५. गैरिकसूत्राणि, वृत्तिसहित, ६. दिनकरी खण्डन।

इन ग्रन्थों में नौका टीका एवं रसमीमांसा अलङ्कारशास्त्रविषयक ग्रन्थ हैं। रसमीमांसा का प्रकाशन श्रीलालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली से डा० पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा के सम्पादकत्व में हुआ है। इसकी रचना गंगाराम जड़ी ने

---

९०. पदकौस्तुभभूषणं सदा चरणाक्रान्तफणीन्द्रमण्डनम्।
कविता वदनालयोद्भवं हृदि नारायण तातमाश्रये॥ रसमीमांसा, पृ० २

९१. नत्वा राधादेवीं गङ्गारामो जडीति यः ख्यातः।
सोऽहं रसमीमांसां विवृणोम्यर्थप्रबोधसिद्ध्यर्थम्॥ वही

९२. ग्रहाङ्कनगपृथ्व्यङ्के नौकाङ्गिरसि वत्सरे।
एकद्वित्रिचतुःश्लोका गङ्गारामेण पूरिताः॥ वही, भूमिका

९३. वर्षे वर्षाकाले दिग्दन्तिनभोवसुवसुधामिलिते।
व्यलिखद् गङ्गारामो गङ्गारामोभयप्रीत्यै॥ वही, भूमिका

सम्भवतः अपने गुरुपुत्र गोविन्द के आग्रह पर की थी। इस ग्रन्थ में कुल ११४ कारिकायें हैं जिनमें कुछ में केवल लक्षण है तो कुछ में चन्द्रालोक शैली में लक्षण-लक्ष्य दोनों निबद्ध हैं। इनका प्रतिपाद्य विषय रस, स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव, सात्त्विकभाव, हाव, नायिका के अलङ्कार, रसभेद आदि हैं।

४६. **सदाशिव मखिन् (दीक्षित)**—इनके पिता का नाम चोक्कनाथ और माता का नाम मीनाक्षी था। ये भारद्वाज गौत्र के थे। इनका समय १७२४ ई० से १७९८ ई० है। ये कार्तिक तिरुनाल रामवर्म कुलशेखर वंशपाल धर्मराज के आश्रित थे। इनका निवास स्थान केरल था। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की—(१) बालरामवर्मयशोभूषणम् अथवा रामवर्मयशोभूषणम्, (२) वसुलक्ष्मीकल्याणम् (नाटक)। प्रथम ग्रन्थ काव्यशास्त्रविषयक है। इसमें स्वरचित उदाहरणों में अपने राजा के गुणों की प्रशंसा की गयी है। नाटक प्रकरण में रामवर्म व वसुलक्ष्मी के विवाह विषयक वसुलक्ष्मी-कल्याणम् नाटक की रचना भी की गयी है।

४७. **कल्याण सुब्रह्मण्य सूरि**—दासगुप्ता एवं डे ने आचार्य का नाम कात्यायण सुब्रह्मण्य सूरि लिखा है। इनका जन्म दक्षिण मालाबार के पोन्नालि तालुक में पिरुंगल नामक स्थान में हुआ था। ये कार्तिक तिरुनाल रामवर्म धर्मराजा (१७२४ ई० से १७९८ ई०) के आश्रित थे। इनके पिता का नाम सुब्रह्मण्य एवं पितामह का नाम गोपाल था। ये पेरुरुकुल के थे।

इन्होंने चन्द्रालोक के अनुकरण पर अलङ्कारकौस्तुभ नामक ग्रन्थ की रचना टीका सहित की। इस ग्रन्थ में चन्द्रालोकोक्त अर्थालङ्कारों का ही विवेचन किया गया है। अलङ्कारों के उदाहरणों में आचार्य ने अपने अभीष्ट देव—अनन्त शयन (ट्रावनकोर) मन्दिर के देव—पद्मनाभ एवं अपने राजा का गुणगान किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने पद्मनाभविजय नामक ग्रन्थ की रचना की।

४८. **यशस्विन् कवि**—इनके पिता का नाम गोपाल एवं माता का नाम काशी था। इन्होंने साहित्य-कौतूहल नामक ग्रन्थ एवं उस पर उज्ज्वलपदा टीका की रचना की। इण्डिया आफिस की हस्तलिखित प्रति का समय १७३० ई० है। इसमें केवल प्रथम अध्याय ही है जिसमें प्रहेलिका एवं चित्रकाव्य की विवेचना की गयी है।

४९. **सुखलाल**—इनके पिता का नाम बाबूराय अथवा बाबूराम मिश्र एवं पितामह का नाम हृदयराम था। ये गंगेश मिश्र एवं उनके पुत्र हरिप्रसाद माथुर के शिष्य थे। आफ्रेट के अनुसार इनका समय १७४० ई० है। इन्होंने शृङ्गारमाला ग्रन्थ की रचना संवत् १८०१ में की। यह ग्रन्थ तीन विरचन में विभक्त है। इसके अतिरिक्त अपने अलङ्कारमंजरी ग्रन्थ की रचना चन्द्रालोक के अनुकरण पर की। इसमें उपमा, रूपक, परिणाम, स्मृतिमत्, भ्रान्तिमान्, सन्देह, उत्प्रेक्षा अलङ्कारों का विवेचन है। इसके पश्चात् ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

५०. **गोरनार्य**—आचार्य के पिता का नाम आयंप्रभु अथवा अयालुप्रभु तथा भाई

का नाम मितराय अथवा मितराज था। मितराय रेचर्लकुल के राजा शिगय माधव के मन्त्री थे। अतः लेखक का समय १८वीं शती ठहरता है। आचार्य ने दो ग्रन्थों की रचना की—(१) लक्षणदीपिका, और (२) प्रबन्धदीपिका अथवा पदार्थदीपिका। प्रथम ग्रन्थ में ६ प्रकाश हैं जिनमें क्रमशः १. काव्यस्वरूप, २. परिभाषा, ३. काव्यलक्षणभेद, ४. कलिकोत्कलिकादि, ५. उदाहरणभेद, ६. नायिका का विवेचन किया गया है। दूसरे ग्रन्थ में विषय सामान्य का निरूपण है।

५१. **आणिविल्ल वेङ्कट शास्त्री**—इनके पिता का का नाम आणिविल्ल यज्ञ नारायण था और ये गोदावरी जिले के समीप काकरपर्ति अग्रहार के निवासी थे। इन्हें पेद्दपुर के जगपति महाराज और दार्लपुरि के नीलाद्रि महाराज ने उपहारों के द्वारा सम्मानित किया था। इन्होंने (१)अलङ्कार सुधासिन्धु, (२) रसप्रपंच, (३)माहेश्वर-महाकाव्यम् (४) सतीशतकम्, (५) भास्करप्रशस्ति, (६) रुक्मिणीपरिणय, और (७) अप्परायशश्चन्द्रोदयम् ग्रन्थों की रचना की। आचार्य ने अन्तिम ग्रन्थ में उपन्यस्त उदाहरणों में नुजविद के जमींदार मेक वेङ्कट नरसिंह अप्पाराव के गुणों की प्रशंसा की है। जमींदार ने १७४५ ई० में आचार्य को अग्रहार प्रदान किया था। अतः आचार्य का समय १८वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित है।

५२. **आणिविल्ल नारायण शास्त्री**— इनके पिता का नाम वेंकट शास्त्री था। वेंकट शास्त्री का समय १८वीं शती पूर्वार्ध निश्चित है। अतएव नारायण शास्त्री का समय भी लगभग यही होना चाहिए। इन्होंने साहित्य कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ की रचना की जिसे नुजविद के जमींदार जगन्नाथ अप्पाराव को समर्पित किया है।

५३. **चेर्ल वेंकट शास्त्री**—इनके पिता का नाम लक्ष्मण एवं गुरु का नाम आणिविल्ल वेंकट शास्त्री (१८वीं शती का पूर्वार्ध) था। अतएव आचार्य का समय १८वीं शती का पूर्वार्ध अथवा उत्तरार्ध होना चाहिये। इन्होंने वेंकटाद्रिगुणरत्नावलीम् ग्रन्थ की रचना की।[९४]

५४. **बलदेव विद्याभूषण**—ये जयपुर के राजा जयसिंह (१८वीं शती का पूर्वार्ध) के समकालीन थे। इन्होंने जयसिंह महाराज की सभा में मालवाश्रम स्थित रामानुजीय आचार्यों से शास्त्रार्थ किया था। ये वैष्णव थे और चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनका निवास स्थान उड़ीसा था और इनका जन्म बंगदेशीय ब्राह्मण अथवा वैश्य कुल में हुआ था। इनके गुरु का नाम राधा दामोदरदास एवं गोपालदास था। इन्होंने बंगाल वैष्णववाद का नेतृत्व किया था। आचार्य ने मङ्गलाचरण में मुरारि की वन्दना की है।

आचार्य ने १९ ग्रन्थों की रचना की—(१) काव्य कौस्तुभम् (२) साहित्य-कौमुदी, (३) कृष्णानन्दिनी-साहित्यकौमुदी पर टिप्पणी, (४) प्रमेयरत्नावली, (५) कान्तिमाला-प्रमेयरत्नावलीटीका, (६) गोविन्दभाष्यटीका-सूक्ष्मा, (७) गोविन्द-

९४. Proceeding, International Sanskrit conference, Vol. I, Part I, 1975, Pg. 61.

भाष्यपीठकम्-सिद्धान्तरत्न, (८) गोविन्दभाष्यपीठक-टीका (९) गीताभूषणम्, (१०) गोपालतापनीभाष्यम्, (११) गोविन्दभाष्य-ब्रह्मसूत्रटीका, (१२) छन्द: कौस्तुभ भाष्यम् (१३) दशोपनिषद्भाष्यम्, (१४) नामार्थसुधासहस्रनामभाष्य, (१५) वैष्णवी-भागवतटीका, (१६) सारंगरंगदा-लघुभागवतामृतटीका, (१७) सिद्धान्तदर्पण, (१८) सिद्धान्तदर्पणटीका, (१९) स्तवमालाभाष्यम्। इस प्रकार आचार्य ने दर्शन-शास्त्रीय एवं अनेक वैष्णव ग्रन्थों की रचना की।

काव्यकौस्तुभ ग्रन्थ ९ प्रभा में विभक्त है जिनमें क्रमशः काव्यफलादि, शब्दार्थ-वृत्ति, रस, गुण, रीति, दोष, ध्वनिभेद, मध्यमकाव्य और शब्दार्थालङ्कार का विवेचन है। साहित्यकौमुदी, काव्यप्रकाश की टीका है। इसमें केवल कारिका भाग की ही व्याख्या की गयी है। लेखक ने काव्यप्रकाशीय कारिकाओं को ग्रहण कर उस पर स्वरचित वृत्ति लिखी है। मम्मट की कारिकाओं को भरतसूत्र कहा गया है। अतएव आचार्य अपनी टीका को भरतसूत्रवृत्ति कहते हैं। इस टीका पर भी आचार्य ने कृष्णानन्दिनी नामक टिप्पणी लिखा है। विषय-क्रम दशम पच्छेद तक काव्यप्रकाश जैसा ही है पर अन्त में शब्दार्थालंकारों पर अतिरिक्त ग्यारहवाँ अध्याय लिखा गया है जिसमें भाषासमक, बिन्दुच्युतक, च्युतदत्ताक्षर, क्रियागुप्तादि शब्दालंकारों एवं उल्लेख, निश्चय, हेतु, अनुकूल, विध्याभास, विचित्र, विकल्प, अर्थापत्ति, पूर्वरूप, परिकरांकुर, प्रहर्षण, मिथ्याध्यवसिति, परिणाम, अनुज्ञा अनुगुण आदि अर्थालंकारों का निरूपण है। आचार्य ने स्वरचित उदाहरणों में कृष्ण (चैतन्यदेव) का गुणगान किया है। इसका प्रकाशन शिवदत्त एवं के० पी० परब के सम्पादकत्व में काव्यमाला गुच्छक में १८९७ ई० में हुआ है।

५५. **शिवराम त्रिपाठी**—इनके पिता का नाम कृष्णराम और पितामह का नाम त्रिलोक चन्द्र था। आचार्य ने रसरत्नहार (स्वरचित लक्ष्मीविहारटीका सहित), अलङ्कारसमुद्गक, विषमपदी—काव्यप्रकाशटीका, वासवदत्ता टीका, काव्यलक्ष्मी प्रकाश या विहार (छन्दःशास्त्र), विद्याविलास—सिद्धान्तकौमुदी टीका, रावणपुरवध आदि ३४ ग्रन्थों की रचना की है। इन सभी ग्रन्थों का उल्लेख आचार्य ने रावणपुरवध ग्रन्थ के अन्त में किया है। आचार्य ने अपने ग्रन्थ में परिभाषेन्दु शेखर और रसमंजरी एवं उसकी टीका व्यंग्यार्थकौमुदी का उल्लेख किया है। अतः इनका समय १८वीं शती निश्चित है।

रसरत्नहार में कुल १०२ पद्य हैं जिनमें प्रारम्भिक दो पद्यों में मङ्गलाचरण एवं अन्तिम दो पद्यों में आत्म परिचय है। किन्तु परिचयात्मक पद्यों से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। अवशिष्ट ९८ पद्यों में कवि ने क्रमशः रस, शृङ्गार, नायिका-प्रभेद, सखी दूती, नायक-प्रभेद, सहायक, विप्रलम्भ, स्त्री अलङ्कार, व्यभिचारीभाव, सात्त्विकभाव, रीति, आठ अन्य रस, रसदृष्टियाँ आदि का निरूपण किया है। इस ग्रन्थ में कोई नवीनता नहीं है। आचार्य ने ग्रन्थ का प्रतिपाद्य प्रायः दशरूपक एवं रसमंजरी से ग्रहण किया है

किन्तु उसे स्वरचित कारिकाओं में व्यक्त किया है। प्रत्येक विषय एवं उसके भेद-प्रभेद के लिए स्वरचित उदाहरण दिये गये हैं।

५६. **गोपीनाथ कविभूषण**—इनका जन्म खिमुन्दि के करण वंश में हुआ था। इनका समय १८वीं शती का मध्य है। इन्होंने कविचिन्तामणि नामक ग्रन्थ की रचना की।[९५]

५७. **रामेश्वर पौण्डरीक**—ये सवाई पृथ्वी सिंह कालीन (१७६७ई०-१७७८ई०) थे। इन्होंने रससिन्धु नामक ग्रन्थ की रचना की।[९६]

५८. **वेंकप्रभु (वेंकसूरिचन्द्र)**—ये प्रधान वेंकप्पा नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनकी माता का नाम बाबाम्बिका व पिता का नाम हम्पार्यं था। ये भार्गववंशी ब्राह्मण थे तथा श्रीरामपुर के निवासी थे। ये सन् १७६३ से १७८० तक मैसूर के राजा कृष्णराज द्वितीय नञ्जराज तथा चामराज के मन्त्री थे। इन्होंने संस्कृत भाषा में १६ तथा कन्नड़ में तीन रचनायें कीं। अलङ्कारमणिदर्पण इनका साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ है।

५९. **बलदेव**—इनके पिता का नाम केशव था। इन्होंने शृङ्गारहार नामक ग्रन्थ लिखा है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति में समय संवत् १८४५ (१७८९-९० ई०) दिया हुआ है।

६०. **घासी अथवा घासीराम पण्डित**—ये गौतम वंश के थे। इन्होंने अलङ्कार-शास्त्रविषयक दो ग्रन्थों की रचना की—(१) रसचन्द्र, और (२) रसकौमुदी। प्रथम ग्रन्थ में चार अध्याय है जिनमें क्रमशः नायिकागण भेद, नायकसंघ, अनुभावादि गण और रसदशक का विवेचन किया गया है। द्वितीय ग्रन्थ में नौ रसों पर विचार किया गया है। पी० के० गोड ने ग्रन्थ की रचना-तिथि १८वीं शती का उत्तरार्ध माना है।[९७] इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य ने पद्यमुक्तावली ग्रन्थ की भी रचना की।

६१. **चर्ल भाष्यकार शास्त्री**—इनका जन्म लोहित्य गोत्र में हुआ था और ये आन्ध्र प्रदेश में पश्चिमी गोदावरी के समीप स्थित काकरर्पाति अग्रहारम् स्थान के निवासी थे। वेंकट शास्त्री (१८वीं शती का पूर्वार्ध) इनके पूर्वज थे। अतः आचार्य का समय १८वीं शती उत्तरार्ध अथवा इसके पश्चात् होना चाहिए।

आचार्य ने मेकाधीश शब्दार्थकल्पतरु नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। आचार्य ने 'मेकाधीशा' शब्द में भिन्न-भिन्न प्रकार से योग-विभाग करके अनेक अर्थों की उद्भावना की है एवं इसके द्वारा प्रतापरुद्रयशोभूषण में निरूपित काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का उदाहरण प्रदर्शित किया है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने मेकाधीश रामायण, कंकण-बन्ध रामायण एवं विनायकचरित ग्रन्थों की रचना की।

६२. **रघुनाथ 'मनोहर'**—इनके पिता का नाम भिकं भट्ट तथा पितामह का

---

९५. वही, पृ० ३८०

९६. जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन, पृ० १२

९७. कलकत्ता ओरियण्टल जनरल, तृतीय, पृ० ३५-३७

नाम कृष्ण था।[९८] इनका समय १७५८ ई०-१८२० ई० है। इनका निवास स्थान चम्पावती (बम्बई से दक्षिण) था। आचार्य ने कविकौस्तुभ ग्रन्थ की रचना की। पी० के० गोड ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६७५ ई०-१७०० ई० के मध्य माना है।[९९] इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री फतह सिंह के सम्पादकत्व में राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से हुआ है। इस ग्रन्थ में केवल काव्यदोषों पर विचार किया गया है। इसके अतिरित आचार्य ने छन्दोरत्नावली ग्रन्थ की भी रचना की।[१००] पी० के० गोड इन्हें ही वैद्यविलास का रचयिता मानते हैं।

६३. **वेंकटाचार्य (किरीटि वेंकटाचार्य) 'तर्कालंकार वागीश्वर'**—इनके पिता का नाम अण्णय्याचार्य दीक्षित था। इनका जन्म तिरुमल बुक्कपटणम् श्री शैलकुल में हुआ था। ये सुरपुर (मैसूर) के निवासी थे। इनके भ्रातृव्य रसमञ्जरी एवं तत्त्वमार्तण्ड के लेखक श्रीनिवासाचार्य थे। ये पामिनायक के पुत्र वेंकट नायक के कृपापात्र थे, जिनकी मृत्यु १८०२ ई० में हुई थी। आचार्य का समय लगभग १७७० ई० है। ये विश्वगुणादर्श के रचयिता वेंकट से भिन्न हैं। इन्होंने अलंकारकौस्तुभ की रचना की जिसमें ६ शब्दालङ्कारों एवं १०८ अर्थालङ्कारों का विवेचन है। डॉ० वर्णेकर ने गणसूत्रार्थ, कृष्णभावशतक स्तोत्र, शृंगारलहरी, दशावतार स्तोत्र, हयग्रीवदण्डक स्तोत्र, यतिराजदण्डक स्तोत्र, झंझामारुतदर्शन, श्रीकृष्ण शृंगारतरंगिणी और अचलात्मजा परिणयमु (तेलगु) ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है।

✓६४. **गंगाधर कविराज**— इनका समय १७९८-१८८५ ई० है। ये मुर्शिदाबाद (बंगाल) के निवासी थे। ये व्यवसाय से वैद्य थे किन्तु इन्होंने आयुर्वेद के अतिरिक्त काव्य, व्याकरण एवं अलङ्कारशास्त्र विषयक कुल २४ ग्रन्थों की रचना की। आचार्य ने प्राच्यप्रभा नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की, जो अग्निपुराण पर आधारित है।

६५. **श्रीनिवास दीक्षित**—इनका समय १८०० ई० लगभग है। ये सम्भवतः राजचूडामणि दीक्षित के पिता थे। इनके पिता का नाम भावस्वामी, माता का नाम लक्ष्मी एवं गुरु का नाम केशव परिव्राजकाचार्य था। इनके नाम से चार ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है—(१) अलङ्कारकौस्तुभ, (२) काव्यदर्पण, (३) काव्यसारसंग्रह, और (४) साहित्य सूक्ष्म सरणि। कुछ विद्वानों का मत है कि काव्यदर्पण वस्तुतः राजचूडामणि दीक्षित विरचित है, किन्तु भ्रमवश ग्रन्थ सूचियों में आचार्यरचित मान लिया गया है। तृतीय ग्रन्थ में तीन अध्याय हैं जिनमें क्रमशः १. काव्यलक्षणसंग्रह, २. वर्णसंग्रह,

---

९८. इतिकविकौस्तुभे महाकाव्ये कविकुलावतंसमनोहरोपनामककृष्णपण्डित सूनुश्रीमद्भिकम्भट्टसुतसूरिश्रीमद्रघुनाथपण्डितकृतौ ··· (कविकौस्तुभ, पृ० १९)

९९. वही, अपेण्डिक्स, पृ० १०

१००. वही, पृ० १

एवं ३. सुभाषित संग्रह हैं। के०एस० रामस्वामी शास्त्री ने श्रीनिवास दीक्षित रचित ग्रन्थों की सूची में उपर्युक्त किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार राजचूडामणि दीक्षित के पिता रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित ने साहित्यसंजीवनी आदि काव्यशास्त्र, शतकन्धरविजय आदि काव्य, भावनापुरुषोत्तम आदि नाटक, वेदान्तरत्नावली, वेदतारावली, मणिदर्पण, अद्वैतकौस्तुभ आदि दर्शनशास्त्रविषयक ग्रन्थों की रचना की।[१०१]

६६. **सदाजी**—इनके पिता का नाम बल्लाल था। ये रत्नगिरि जिले के संगमेश्वर स्थान के निवासी थे। इन्होंने साहित्यमञ्जूषा नामक ग्रन्थ की रचना १८२५ ई० में की। इसमें कुल ४५५ पद्य हैं। इस ग्रन्थ में शिवाजी का चरित्र एवं भोसलेवंश का इतिहास उल्लिखित है।

बाजीपन्त के पुत्र ने इस पर कुंचिका नामक टीका लिखी है।

६७. **दामोदरशास्त्री**—इन्होंने वाणीभूषणम् नामक ग्रन्थ की रचना १८.३ ई० में की।[१०२]

६८. **बलभद्र सिंह**—इन्होंने वृत्तिबोधनम् नामक ग्रन्थ की रचना १८३३ ई० में की।[१०३]

६९. **स्वाति तिरुनालमहाराजा**—ये केरल निवासी थे और दक्षिण भोज नाम से जाने जाते थे। इनके पिता का नाम राजराजवर्म कोइतम्बुरान एवं माता का नाम लक्ष्मी था। १८३४ ई० से इनका नाम कुलशेखर तिरुनाल पड़ा। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अपरिप्पाट कुच्चु पिल्ला से हुई। इन्हें हिन्दी, तेलुगु, कन्नड़, परशियन एवं अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं का ज्ञान था एवं साहित्य व संगीत से विशेष प्रेम था। इनका समय १८१३-१८४७ ई० है। ये १८२९ ई० में राजा बने एवं १८ वर्षों तक राज्य किया।

आचार्य ने ११ ग्रन्थों की रचना की—(१) प्रासव्यवस्था, (२) भक्तमञ्जरी (३) स्यानन्दूरपुरवर्णनचम्पू, (४) श्रीपद्मनाभशतकम्, (५) अन्यापदेशशतकम् (६) कुचेलोपाख्यानम्, (७) अजामिल मोक्ष, (८) गीत—१९७ गीत, (९) कीर्तन—१५० कीर्तन, (१०) राग माला, (११) उत्सव प्रबन्ध (गीति-काव्य)। प्रथम ग्रन्थ में गीतों के लिये प्रासों की व्यवस्था का वर्णन है।[१०४]

७०. **मुरारिदान चरण**—इनका जन्म १८३७ ई० में हुआ था। ये जोधपुर के निवासी थे। इन्होंने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भाषा-भूषण का संस्कृत रूपान्तर यशवन्त यशोभूषणम् किया है।

---

१०१. काव्यदर्पण—फोरवर्ड, पृ० ८
१०२. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डा० हीरालाल शुक्ल, पृ० १४९
१०३. वही
१०४. वही, पृ० १९४

७१. **कृष्ण सुधी**—इनके पिता का नाम शिवराम एवं पितामह का नाम उपदेष्टृ पण्डित नारायण था। ये कांची के समीप चेय्यारतट पर स्थित उत्तरमेरूर (टोण्ड-मण्डलम्) के निवासी थे। इन्होंने १८४५ ई० में काव्यकलानिधि नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। इसमें दस कुसुम हैं जिनमें प्रायः समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्व व्याख्यात हैं। आचार्य ने उदाहणों में अपने आश्रयदाता कोल्लम नरेश रामवर्मन के गुणों की प्रशंसा की है। किन्तु डा० एस० वेंटिक सुब्रमोनिया अय्यर के अनुसार इसमें कोल-ट्टुनाड (केरल) के राजा रविवर्मा के गुणों की प्रशंसा है।[१०५]

७२. **सीतारामभट्ट पर्वणीकर**—ये सवाई जयसिंह तृतीय कालीन (१८१८ ई०-१८३४ ई०) थे। इन्होंने (१) लक्षणचन्द्रिका, (२) काव्यप्रकाशसार, (३) नायिका-वर्णनम्, (४) साहित्यसार, (५) साहित्य सुधा, (६) साहित्यतत्त्वम्, (7) साहित्या-र्णवः, (८) साहित्यतरंगिणी, (९) शृङ्गारलहरी, (१०) काव्यतत्त्वप्रकाश, और (11) साहित्य चिन्तमणि ग्रन्थों की रचना की।[१०६]

७३. **अनन्तार्य अथवा अनन्ताचार्य**—दास गुप्ता एवं डे ने आचार्य का नाम अनन्तराय लिखा है।[१०७] इनका जन्म दक्षिण भारतीय शेषाचार्य वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम शृङ्गाराचार्य था। काणे ने पिता का नाम शिंगराचार्य लिखा है।[१०८] ये मैसूर प्रदेश के यादवगिरि अथवा मेलकोट के निवासी थे एवं कृष्णराव वोदेयार तृतीय (१८२२ ई०-६२ ई०) के राज्याश्रित कवि। ये विशिष्टाद्वैतवादी थे। इन्होंने कवि-समयकल्लोल, अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। इसमें आचार्य रचित कृष्णराज-यशोडिण्डिम काव्य का उल्लेख है। इन्होंने अनेक वादों की रचना की जो वेदान्त वादा-वली में प्रकाशित है।

डा० कपिलदेव द्विवेदी ने एक अनन्ताचार्य जिनका जन्मकाल १८७४ ई० माना है, की दो कृतियों का उल्लेख किया है—(1) मंजुभाषिणी (पत्रिका) और संसारचक्र (गद्यकाव्य)।[१०९] आचार्य ने कविसमयकल्लोल में नरसिंह कविरचित नंजराज यशो-भूषण का उल्लेख किया है। अतएब इनका समय १९वीं शताब्दी निश्चित है।

७४. **राजगोपाल चक्रवर्ती**—आचार्य का समय १८८२-१९३८ ई० है। इन्होंने ९ ग्रन्थों की रचना की जिनमें कविकार्यविचार ग्रन्थ[११०] साहित्यशास्त्र विषयक है।

---

१०५. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I, Part I, 1975, Pg. 298.

१०६. जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन, पृ० १३

१०७. History of Sanskrit Literature, Vol. I, Pg. 566

१०८. History or Sanskrit Poetics, Pg. 399

१०९. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, पृ० ५१८

११०. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डा० हीरालाल शुक्ल, पृ० १५०

७५. **इलत्तूर रामस्वामी**—ये केरल प्रदेश के तिरुवितांकुर जिले के इलत्तूर ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम शंकर नारायण शास्त्री था। इनका समय १८२४ ई०-१९०७ ई० है। इन्होंने ३३ ग्रंथों की रचना की[१११]—१. रामोदयम्, २. सुरूपाराघवम् (महाकाव्य), ३. अन्यापदेश द्वित्यप्तति: (काव्य), ४. कीर्तिविलासचम्पू ५. पुण्डरीकपुरेशस्तवम्, ६. शिवाष्टप्रासम् (स्तोत्र), ७. वृत्तरत्नावली, ८. श्रीकृष्ण-विलास पर मञ्जुभाषिणी टीका, ९. गौणसमागमः (प्रशस्ति), १०. काशी यात्रानुवर्णनम्, ११. तुलाभारं प्रबन्धम्, १२. जलन्धरा सुखदम् (छाया नाटक), १३. कैवल्यवल्लीपरिणयविलासम् (नाटक), १४. शाकुन्तलं चम्पू, १५. अम्बरीषचरितम् (नाटक), १६. पार्वतीपरिणय (नाटक), १७. गान्धारचरितम् (नाटक), १८. अष्टप्रासशतकत्रयम् १९. देवीवर्ण मुक्तावली (स्तोत्र), ३०. श्रीकृष्णादण्डकम् (गद्यस्तोत्र), २१. त्रिपुरसुन्दरी गीति, २२. ललितास्तवम् (स्तोत्र), २३. कार्तिकेयाष्टकम्, २४. कालीशमनस्तोत्रम्, २५. धर्मसंवर्धिनी (स्तोत्र), २६. अश्वत्थगणनाष्टकम् २७. हनुमदष्टकम्, २८. श्रीकण्डेशस्तवम् (स्तोत्र), २९. भूतनाथाष्टकम्, ३०. मधुनाथाष्टकम्, ३१. योगानुशासनम् (व्याख्यान), ३२. क्षेत्रतत्त्वदीपिका (संस्कृत में ज्यामिति) ३३. धर्मसंवर्धिनी माहात्म्य, ३४. मृगमोक्षम् (व्याख्यान)। इनमें से प्रथम ग्रंथ अलंकारशास्त्र-प्रधान महाकाव्य है।

७६. **रत्नभूषण**— ये पूर्व बंगाल के निवासी थे। काणे महोदय एक स्थल पर इनका समय १८ वीं शती का पूर्वार्ध तथा दूसरे स्थल पर १९ वीं शती का मध्य मानते हैं।[११२] इन्होंने काव्यकौमुदी नामक ग्रन्थ की रचना १८५९ ई० में की। यह दस परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें क्रमशः नाम, लिंगादि, धातु-प्रत्यय, काव्यलक्षण, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य, गुण, अलंकार, दोष का विवेचन किया गया है। इसमें प्रथम तीन परिच्छेद व्याकरणात्मक हैं।

७७. **नृसिंह शास्त्री** —ये आन्ध्रप्रदेशीय ब्राह्मण थे। इनका जन्म मैसूर में बंगलौर के निकट यरालतिया गांव में हुआ था। आचार्य नृसिंह का समय १८३० ई०-१८७० ई० है। इन्होंने काव्यांगसंशोधनम् नामक ग्रन्थ की रचना की।[११३]

७८. **चन्द्रकांत तर्कालंकार**— इनका जन्म कलकत्ता में हुआ था। ये बंगाली पण्डित थे। इनका समय १८३० ई०-१९०९ ई० है। ये महामहोपाध्याय पद से विभूषित थे। इन्होंने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता में संस्कृत काव्यशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र का अध्यापन संवत् १८८३ से १८८७ तक किया था। इन्होंने सात ग्रन्थों की रचना की[११४] —१. सतीपरिणयम् (महाकाव्य), २. चन्द्रवंश (महाकाव्य), ३. कौमुदीसुधाकरम्

---

१११. वही, पृ० २०६

११२. History of Sanskrit Poetics, Pg. 108 & Pg. 430

११३. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डा० हीरालाल शुक्ल, पृ० २१०

११४. वही, पृ० २१३

(प्रकरण), ४. अलंकारसूत्राणि, ५ स्मृतिचन्द्रिका, ६. कान्तत्रछन्द प्रक्रिया, ७. मीमांसा सिद्धांत संग्रह। इनमें अलंकारसूत्राणि काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ है। इन्होंने गोभिल गृह्यसूत्र (१८७१-८० ई०) प्रकाशित किया।[११५]

७९. **गदाधरनारायण भञ्ज** - ये क्योंझर के प्रशासक थे। इनका समय १८३१ ई०-१८६१ ई० है। इन्होंने रसमुक्तावली ग्रन्थ की रचना की।[११६]

८०. **अनुरथमण्डन**—इन्हें रत्नमण्डनगुरु अथवा रत्नमण्डन गणि भी कहा जाता है। काणे ने अणुरत्नमण्डन नाम लिखा है। ये तपगच्छा के जैन रत्नशेखर सूरि के शिष्य थे। काणे के अनुसार रत्नशेखर सूरि की मृत्यु १४६०-६१ ई० में हुई। अतः लेखक का समय १५ वीं शताब्दी है। दासगुप्ता एवं डे ने इनके समय की सम्भावना १६वीं शताब्दी मानी है। कुछ विद्वान् रत्नशेखर सूरि का मृत्युकाल १८६१ ई० मानते हैं। तब आचार्य का समय १९ वीं शताब्दी ठहरता है। इन्होंने अलंकारशास्त्र विषयक दो ग्रन्थों की रचना की—१. जल्पकल्पलता, और २. मुग्धमेधाकर। प्रथम ग्रन्थ कवि शिक्षा है और दूसरे में मुख्यतः अलंकारों का विवेचन है।

८१. **रामाचार्य**—ये मध्यप्रदेश के निवासी थे तथा कोल्हापुर के निवासी कान्ताचार्य (१८५६ ई०-१८९२ ई०) के मातामह एवं गुरु थे। इन्होंने रद्दोभेदिनी नामक काव्यशास्त्रीय एवं परिभाषेन्दुशेखर-व्याख्या (१८७० ई०) ग्रन्थों की रचना की।[११७]

८२. **कोल्लूरि राजशेखर** - ये आन्ध्रप्रदेशीय थे। इनका निवासस्थान गोदावरी जिले के सोमनाथपुर गाँव में था। ये पेशवा माधवराव (१७६० ई०-१७७२ ई०) के कृपापात्र थे। डा० हीरालाल शुक्ल इनका अनुमानित समय १८४० ई० मानते हैं।[११८] इन्होंने चार ग्रन्थों की रचना की—१. अलंकारमकरन्द, २. साहित्यकल्पद्रुम, ३. शिवशतक, और ४. भागवतचम्पू या श्रीचम्पू। आचार्य ने प्रथम ग्रन्थ के उदाहरणों में अणिपिडि वंश के रामेश्वर की प्रशंसा की है।

८३. **मुदुम्बई नरसिंह आचार्य**—ये विजगापट्टम् जिले के विजय नगर के महाराज विजयराम गजपति और आनन्द गजपति के कृपापात्र थे। अतएव इनका समय १८४२ ई०-१९२८ ई० है। इनके पिता का नाम वीरराघव व माता का नाम रंगाम्बा था। ये वत्सगोत्रीय थे। इन्होंने १८ ग्रन्थों की रचना की[११९]—१. काव्योपोद्घात, २. काव्यप्रयोगविधिः, ३. काव्यसूत्रवृत्तिः, ४. अलंकारमाला, ५. विक्टोरियाप्रशस्तिः ६.

---

११५. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास—डा० कपिलदेव द्विवेदी, पृ० १३

११६. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I, part I, 1975, Pg. 380.

११७. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डा० हीरालाल शुक्ल, पृ० १९१

११८. वही, पृ० २३०

११९. वही, पृ० २३६

दैवोपलम्भः (काव्य), ७. नरसिंहाट्टहासः (काव्य), ८. जयसिंहाश्वमेधीयम् (खण्ड-काव्य), ९. युद्धप्रोत्साहनम् (खण्ड-काव्य), १०. रामचन्द्रकथामृतम् (महाप्रबन्ध), ११. भागवतम् (महाप्रबन्ध), १२. खालवहेलनम् (खण्डकाव्य), १३. नीतिरहस्यम् (खण्डकाव्य), १४. उज्ज्वलानन्दचम्पू, १५. चित्सूर्यालोकम् (नाटक), १६. राजहंसीयम् (नाटक), १७. गजेन्द्रव्यायोगः, १८. वासवीय पाराशरीयप्रकरणम्। इनमें से प्रारम्भिक चार ग्रन्थ काव्यशास्त्रविषयक हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य ने अनेक स्तुतियों की रचना भी की।

८४. **कच्छपेश्वर दीक्षित**—इनके पिता का नाम वासुदेव यज्वन् और पितामह का नाम कालहस्तीश्वर था। ये ब्रह्मदेश के निवासी थे। इन्होंने अलंकारशास्त्रविषयक रामचंद्रयशोभूषण ग्रन्थ की रचना की। इसमें उल्लिखित उदाहरणों में कार्वेट नगर के बोम्मराज जमींदार [१९ वीं शती का पूर्वार्ध] की शूरता-वीरता की प्रशंसा की गयी है। इस ग्रंथ में तीन परिच्छेद हैं जिनमें क्रमशः १. शृंगाररस, २. अन्य आठों रस, एवं ३. भाव का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त आचार्य ने भागवत पर टीका भी लिखी।

८५. **कान्तिचंद्र मुखोपाध्याय**— इन्होंने काव्यदीपिका नामक अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना १९ वीं शताब्दी में की। इसमें प्रारम्भिक काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन है। इसका प्रकाशन कलकत्ता से हुआ है। आचार्य ने काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्य दर्पण आदि ग्रन्थों से लक्षण उद्घृत कर उस पर स्वरचित वृत्ति सरलभाषा में लिखी है तथा रघुवंश, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, उत्तररामचरित, वेणीसंहार आदि काव्यों से उदाहरण उद्धृत किये हैं। यह ग्रन्थ आठ शिखाओं में विभक्त है और परिशिष्ट के रूप में नवम शिखा—अष्टमशिखालोक—भी है, जिनमें क्रमशः १. काव्य-प्रयोजन, लक्षण, २. शब्दशक्ति, ३. काव्यभेद, रसभेद व ध्वनिभेद, ४. दृश्य-श्रव्य काव्य, नाटकोपयोगी वस्तु, ५. दोषस्वरूप व भेद, ६. गुणस्वरूप व भेद, ७. रीति-स्वरूप भेद, ८. अलंकारस्वरूप व भेद, ९. अर्थालंकार का विवेचन है।

८६. **भास्कराचार्य** (**भाष्यकाराचार्य**)—ये चिंगलेपट जिले के श्रीपेरुम्बुदूर अथवा भूतपुरी स्थान के निवासी थे। इनका जन्म श्रीवत्सगोत्र के वरदगुरु के वंश में हुआ था। आचार्य का समय सम्भवतः १९ वीं शती है। इन्होंने साहित्यकल्लोलिनी नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें लगभग समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्व एवं नृत्यशास्त्र व्याख्यात है। इस ग्रन्थ में काव्यादर्श, काव्यप्रकाश एवं रसार्णवसुधाकर आदि ग्रन्थों की कारिकाओं को ग्रहण किया गया है। इसकी पाण्डुलिपि मद्रास ग्रन्थालय में सुरक्षित है।[१२०]

८७. **चण्ड मारुताचार्य**—इनका उपनाम कोमल मारुताचार्य था। आपका जन्म

---

१२०. Proceeding, International Sanskrit Conference Vol. I, Part I, 1975 Pg. 474.

कांजीपुरम् के आलिसूर ग्राम में हुआ था। ये वत्स गौत्र के थे। आपके पिता का नाम वेंकटरंग परिमल था। इनका समय १८५० ई० —दिसम्बर १८९९ ई० है।

आचार्य ने कुल पाँच ग्रन्थों की रचना की[121] —१. चित्रमीमांसोद्धार (१८९० ई०), २. लघुरसकुसुमाञ्जलि: या लघुरसकुसुमावलि:, ३. विधुरविलाप व्याख्यान, ४. अलिनराजकथा, ५. सुभाषितम् (निबन्ध)। प्रथम दो ग्रंथ काव्यशास्त्रविषयक हैं। प्रथम ग्रन्थ में चित्रमीमांसा पर पण्डितराज द्वारा किये गये आक्षेपों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। यह अमुद्रित है।

८८. **चावलि रामशास्त्री**—आचार्य ने कुवलयामोद एवं अलङ्कारमुक्तावली ग्रन्थों की रचना की। प्रथम ग्रन्थ में समस्त उदाहरणों में आचार्य ने अपने आश्रयदाता पेद्दपुर के राजा सिंहाद्रि जगपतिराव (१८५३ ई०-१९११ ई०) के गुणों की प्रशंसा की है। अत: आचार्य का समय १९ वीं शती का परार्ध है।

८९. **इन्चूर केशव नम्बूदरी**—इनका जन्म इन्चूर में हुआ था तथा पिता का नाम केशव नम्बूदरी एवं माता का नाम सावित्री अन्तर्जन था। आचार्य का समय १८५५ ई०-१९३२ ई० है। इन्होंने कुलशेखरीयम् ग्रन्थ की रचना की। इसमें अलङ्कारों का निरूपण है। इसमें निबद्ध उदाहरणों नें कुलशेखर पिरुमल श्रीमूल तिरुनाल के गुणों की प्रशंसा की गयी है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने विधुवंशचम्पू ग्रन्थ की रचना की।[122]

९०. **रंगाचार्य रंगनाथाचार्य** – ये आन्ध्रप्रदेश में तिरुपति स्थान के निवासी थे। इनका जन्म कपिस्थल गोत्र में हुआ था। इनका समय १८५६ ई०-१९१९ ई० है। इन्होंने आठ ग्रन्थों की रचना की—(१) अलङ्कारसंग्रह, (२) सुभाषितशतकम्, (३) श्रृङ्गारनायिकातिलकम्, (४) पादुकासहस्रावतार कथासंग्रह (पद्य), (५) गोदाचूर्णिका, (६) रहस्यत्रयसाररत्नावली, (७) सन्मतिकल्पलता, (८) हंससन्देशम्।[123]

९१. **अम्बिकादत्त व्यास**—इनका समय १८५९ ई०-१९०० ई० है। इन्होंने साहित्यनलिनी नामक ग्रन्थ की रचना की।[124]

९२. **छविलाल सूरि**—ये नेपाल के निवासी थे और इनका जन्म १८६० ई० में हुआ था। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की—(१) वृत्तालंकार, और (२) विरक्तितरंगिणी शतकम्। प्रथम ग्रन्थ में प्रत्येक पद्य में छन्द व अलङ्कार का लक्षण है।[125]

९३. **नारायण शास्त्री**—आचार्य का समय १८६०ई०-१९११ ई० है। इनके पिता रामस्वामी यज्वा, माता सीतांबा थीं। इनका निवास स्थान तंजोर जिला के अन्तर्गत नेडुकावेरी था। इन्होंने महाकाव्य, चम्पू, आख्यायिका, ९१ नाटक, २१ महाप्रबन्धों

---

१२१. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डा० हीरालाल शुक्ल, पृ०२६८

१२२. वही, पृ० २८४

१२३. वही, पृ० २८५

१२४. वही, पृ० १४९

१२५. वही, पृ० २९९

की रचना की। साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत इन्होंने विमर्श (६ भाग) [१२६] तथा काव्य-मीमांसा (२ अध्याय) की रचना की।

९४. **अनन्दाचरण तर्कचूडामणि**—इनका जन्म वंग प्रांत के नोआखाली मण्डल के अन्तर्गत सोमपाड़ा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम कालीकिंकर ठाकुर था। इन्होंने कलकत्ता एवं वाराणसी में अध्ययन किया। ये महामहोपाध्याय उपाधि से अलंकृत थे तथा हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक थे। आपका समय १९ वीं शताब्दी (जन्मकाल-१८६२ ई० अनुमानतः) है। आपने रामाभ्युदयम् (महाकाव्य), ऋतुचित्रम् तथा काव्यचन्द्रिका (सरला टीका सहित) नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त २७ अन्य ग्रन्थों की रचना भी की।[१२७] आपने 'सुप्रभातम्' नामक पत्रिका का सम्पादन किया।

९५. **राम सुब्रह्मण्य**—इन्हें राम सुब्बा भी कहा जाता है। इनके पिता का नाम रामशंकर एवं पितामह का नाम अश्वरथनारायण था। ये तिरुविसलोर के निवासी थे। इनका जन्म १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ था और इनकी मृत्यु १९२२ ई० में हुई। ये शिवराम के शिष्य थे। इन्होंने अलङ्कारशास्त्रसंग्रह अथवा अलंकारशास्त्रविलास ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में आचार्य ने विद्यानाथ की काव्यपरिभाषा की आलोचना की है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना भी की। ये उपनिषद् के व्याख्याकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

९६. **वेंकट 'बाल कालिदास'**—ये नारायण के पुत्र एवं वेंकटशास्त्री (१८ वीं शती का पूर्वार्ध) के प्रपौत्र थे। अतएव बाल कालिदास का समय १९ वीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। इन्होंने (१) चित्रचमत्कारमञ्जरी, एवं (२) सूर्यस्तव ग्रन्थों की रचना की। आचार्य ने प्रथम ग्रन्थ पेद्दपुर के श्रीवत्सवायि तिम्म जगपति महाराज को समर्पित किया है।

९७. **सुब्रह्मण्य शास्त्री**—इनका समय १९ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इन्होंने यशवन्तयशोभूषण नामक ग्रन्थ की रचना की जिसके उदाहरणों में मेवाड़ (राजस्थान) नरेशयशवन्त सिंह का गुण-गान किया है।[१२८]

९८. **हरिदास सिद्धान्त बागीश**—इनका जन्म पूर्व बंगाल के फरीदाबाद जिले में उनाशिया गाँव में शक १७९८ (१८७६ ई०) कार्तिक सप्तमी को काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम गंगाधर विद्यालंकार, माता का नाम विधुमुखी एवं पितामह का नाम काशीचन्द्र था। इनके गुरु जीवानन्द विद्यासागर थे। इन्होंने—(१) काव्यकौमुदी, (2) कुसुम प्रतिमा, साहित्यदर्पण टीका, (३) कंसवधम्,

---

१२६. वही, पृ० १४९

१२७. महेशचन्द्र तर्कचूडामणिः तदीयकृतीनां विशिष्टाध्ययनम्-जगदीश प्रसाद मिश्र, पृ० २२२

१२८. काव्यादर्श-सम्पादक आचार्य रामचन्द्र मिश्र, भूमिका, पृ० १२

(४) जानकीविक्रमम् नाटक, (५) विराजसरोजिनी नाटिका, (६) वंगीयप्रतापम् नाटक, (७) मिवारप्रतापम् नाटक, (८) शिवाजीचरितम्, (९) सरला, (१०) कंसवधचम्पू, (११) शंकरसम्भवम् खण्डकाव्य, (१२) वियोग-वैभवम्, (१३) रुक्मिणीहरणम्, महाकाव्य, (१४) महाभारत (सम्पादित), (१५) नैषध-टीका, (१६) शिशुपालवध-टीका, (१७) कादम्बरी-टीका, (१८) दशकुमारचरित-टीका, (१९) किरातार्जुनीय-टीका, (२०) रघुवंश-टीका, (२१) कुमारसम्भव-टीका ग्रन्थों की रचना की।[१२९]

आचार्य ने काव्यकौमुदी ग्रन्थ की रचना शक संवत् १८४२ में की।[१३०] इस ग्रन्थ में लक्षण, सूत्रों में निबद्ध है। यह ग्रन्थ पन्द्रह कलाओं में विभाजित है, जिसमें समस्त काव्यशास्त्रीय तत्त्व व्याख्यात हैं—१. काव्यप्रयोजन स्वरूप, २. दृश्यकाव्य, ३. श्रव्यकाव्य, ४. ध्वनि, ५. गुणीभूतव्यंग्य, ६. शक्तित्रय, ७. रस, ८. नायकादि, ९. नायिकादि, १०. दोष, ११. गुण, १२. रीति, १३. शब्दालंकार, १४. चित्रादि अलंकार, १५. अर्थालंकार। आचार्य ने लक्ष्यरूप उदाहरण स्वरचित एवं माघ आदि ग्रन्थों से निबद्ध किया है तथा अपने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि का उल्लेख किया है।

काव्यकौमुदी ग्रन्थ का प्रकाशन भवेश चन्द्र भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में कलकत्ता से १३६३ वङ्गाब्द में हुआ है।

**९९. मथुरानाथ शास्त्री**—इन्होंने १९०० ई० में काव्यकलारहस्य ग्रन्थ की रचना की। विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र ने एक भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री का उल्लेख किया है जिन्होंने रसगंगाधर पर टीका लिखी थी। उनके अनुसार इनका जन्म १९०६ विक्रम संवत् में जयपुर में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री द्वारकानाथ शास्त्री था। रसगंगाधर टीका के अतिरिक्त इन्होंने साहित्यवैभवम् (काव्य), जयपुरवैभवम् (काव्य), गोविन्दवैभव (काव्य), कादम्बरी 'चषकवृत्ति' टीका, गाथारत्नसमुच्चय संस्कृतसुबोधिनी (द्विखण्डात्मिका), ईश्वरविलास काव्यम् (विलासिनी टीका सहित), पद्यमुक्ता-

---

१२९. अवाप पूर्ववङ्गेषु भूरिसूरिषु जन्म यः।
कोटालिपाड़ोनशिया ग्रामे बहु द्विजन्मनि॥
माता विधुमुखी देवी पिता गंगाधर सुधीः।
पितामहः काशीचन्द्रो गोत्रञ्च यस्य काश्यपम् (काव्यकौमुदी, पृ० १७९)

१३०. पक्षाब्धिनागेन्दुमिते शकाब्दके,
सौराश्विने तेन चतुर्दशे दिने।
विनिर्मिता श्रीहरिदासशर्मणा,
समाप्तिमाप्ता किल काव्यकौमुदी॥ (वही, पृ० १७९)

वली, वृत्तमुक्तावली, गीतगोविन्द, आदर्शरमणी (लघूपन्यास), सुलभं संस्कृतम् ग्रन्थों की भी रचना की।[१३१]

१००. **शिवदत्त शर्मा**- आचार्य ने १९०३ ई० में काव्यरसायनम् ग्रन्थ की रचना की।[१३२]

१०१. **जगन्नाथ प्रसाद वर्मा**—इन्होंने १९०४ ई० में भावनिदर्शिका नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें अलंकारों का निरूपण है।[१३३]

१०२. **नरसिंह आचार्य**—इन्होंने १९०८ ई० में पाश्चात्यशास्त्रसार ग्रन्थ की रचना की।[१३४]

१०३. **मणिशंकर गोविन्द**—इन्होंने १९०९ ई० में अलंकारमणिमाला ग्रन्थ की रचना की।[१३५]

१०४. **रामावतार शर्मा**—आचार्य का समय १८७४ ई०-१९२९ ई० है। इन्होंने साहित्यरत्नावली ग्रन्थ की रचना की।[१३६]

१०५. **कालीपदतर्काचार्य**—इनका समय १८८८ ई०-१९७२ ई० है। ये कान्य-कुब्ज मिश्र थे और इनका जन्ज फरीदपुर जिले के कोटलिपारा उनशिया ग्राम में हुआ था। ये मधुसूदन सरस्वती तथा हरिदास सिद्धान्त वागीश के वंशज थे। इनके पिता सर्वभूषण हरिदास शर्मा तथा गुरु म० म० पण्डित शिवचन्द्र सार्वभौम थे। इन्हें तर्काचार्य, विद्या-वारिधि, तर्कालंकार, महाकवि इत्यादि उपाधियों से सम्मानित किया गया था। इन्होंने १९१९ ई० में काव्यचिन्ता नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की।[१३७] इसके अति-रिक्त इन्होंने नाटक, महाकाव्य, दर्शनशास्त्र, आदि विषयों पर भी लगभग २६ ग्रन्थों की रचना की। इनका उपनाम 'काश्यपकवि' था।

१०६. **यदुनाथ झा**—इनका जन्म सन् १८८५ ई० में सोदरपुर के सरिस्वा कुल में हुआ था। ये लालगंज के निवासी थे। इनकी मृत्यु १९२८ ई० में हुई। इन्होंने व्यञ्जनावाद ग्रन्थ की रचना की। इसमें व्यञ्जना की स्थापना नवीन ढंग से की गयी है।[१३८]

१०७. **सीताराम शास्त्री**—इन्होंने साहित्योद्देश नामक ग्रन्थ की रचना की।

१३१. सागरिका, ऽिङ्वशवर्षे प्रथमोऽङ्कः २०३८ विक्रमसंवत्सरे, पृ० ३७-३८

---

१३२. आधुनिक संस्कृत साहित्य-डा० हीरालाल शुक्ल, पृ० १४९
१३३. वही, पृ० १४९
१३४. वही, पृ० १५०
१३५. वही, पृ० १५०
१३६. वही, पृ० १५०
१३७. वही, पृ० १५०
१३८. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I, Part. I, 1975, Pg. 132-133

इसका प्रकाशन स्नातक शंकर एवं शिवनारायण शर्मा के सम्पादकत्व में १६८० विक्रम संवत् में हुआ है। यह ग्रन्थ भारद्वाज यज्ञेश्वर शर्म मिश्र शास्त्री की टिप्पणी से अलंकृत है। आचार्य का मत है कि प्राचीन अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ कठिन एवं जटिल हैं तथा उनका विषय क्रम अवैज्ञानिक है जिससे अलङ्कारशास्त्र के सामान्य ज्ञान में वे अनुपयोगी हैं। अतः उन्होंने 'बालबोधाय' इस ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ के पाँच भाग हैं—१. पदार्थोद्देश काव्य, शब्द, अर्थ, वृत्ति, गुण, दोष, अलङ्कार, रस, भाव, स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारीभाव। २. काव्यभेद, ३. नाट्यपदार्थ-विभास, ४. नाटकरचना-प्रणाली, और ५. परिशिष्ट संचय।

१०८. **लेखनाथ**—आचार्य का समय १८८६ ई० —अप्रैल १९६५ ई० है। ये सरिस्वा ग्राम के निवासी थे। इनके गुरु बेलारी के कपिलेश्वर ऊहा थे और ये दरभंगा के महाराजाधिराज सर कामेश्वर सिंह के आश्रित थे। आचार्य ने (१) रसचन्द्रिका, (२) वर्षाहर्ष (काव्य), (३) मानसपूजा (काव्य), ग्रन्थों की रचना की तथा रसकौस्तुभ एवं गोविन्ददामोदरस्तोत्र का सम्पादन किया।

प्रथम ग्रन्थ में आचार्य ने नायक एवं नायिका-भेदों पर विचार किया है। इसमें स्वरचित लक्षण एवं लक्ष्य को कारिकाओं में व्यक्त किया गया है।[१३९]

१०९. **हरिशास्त्री दाधीच**—इनका जन्म जयपुर में १८९३ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम दामोदर दाधीच था। आपने अलङ्कारकौतुक, अलङ्कार लीला आदि लगभग १९ ग्रन्थों की रचना की।

११०. **गिरिधरलाल व्यास शास्त्री** इनका जन्म २ अप्रैल, १९८४ ई० को उदयपुर (मेवाड़) में हुआ था। इनके पिता का नाम गोवर्धन शर्मा था इन्होंने छः ग्रन्थों की रचना की, जिनमें अभिनव काव्यप्रकाश (प्रथम व द्वितीय भाग) तथा काव्य-सुधारक (चन्द्रालोक वृत्तिरूप) साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ हैं।

१११. **शितिकण्ठ वाचस्पति**—इनका समय २० वीं शती है। इन्होंने अलङ्कार-दर्पण ग्रन्थ की रचना की।

११२. **श्वेतारण्यम् नारायण यज्वन्**—इनका समय २० वीं शताब्दी है। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की—(१) वृत्तालंकाररत्नावली, सटीक (२) शिवार्थालंकारस्तव। प्रथम ग्रन्थ में छन्द एवं अलङ्कारों के उदाहरणों में राम की स्तुति है तथा दूसरे में शिव की स्तुति।[१४०]

११३. **छज्जू रामशास्त्री विद्यासागर**—विद्यासागर का समय २० वीं शताब्दी है। आपका जन्म संवत् १९५२ में हुआ था। आधुनिक आलंकारिकों में इनका महत्त्वपूर्ण

---

१३९. वही, पृ० १३१-१३२

१४०. वही, पृ० ४७५

स्थान है। इनका निवास स्थान शेखपुर लावला, करनाल (कुरुक्षेत्र) था।[१४१] ये गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मोक्षराम, माता का नाम मामकी, ज्येष्ठभ्राता का नाम मूलचन्द था। ये गणेश के उपासक थे।[१४२] इन्होंने कुल सोलह ग्रन्थों की रचना की— १. सुलतानचरितम् (महाकाव्य), २. दुर्गाभ्युदय (नाटक), ३. छज्जूरामायण (नाटक), ४. कुरुक्षेत्रमाहात्म्य, ५. कर्मकाण्डपद्धति, ६. साहित्यबिन्दु, ७. मूलचन्द्रिका (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-टीका), ८. सरला (न्याय-दर्शन-टीका), ९. सारबोधिनी (वेदान्तसार-टीका), १०. परीक्षा (महाभाष्य के प्रथम दो आह्निक की टीका), ११. सारबोधिनी (निरुक्त के पाँच अध्याय की टीका), १२. साधना (लघुसिद्धान्त-कौमुदी-टीका), १३. परीक्षा अथवा विद्या सागरी (काव्यप्रकाशटीका), १४. विबुध-रत्नावली (पद्यमय संस्कृत साहित्य का इतिहास), १५. परशुराम दिग्विजय, १६. प्रत्यक्षज्योतिषम्। डा० ब्रज बिहारी चौबे ने लेखक रचित दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है—छज्जूरामशतकत्रय (काव्य) और रसङ्गाधरखंडन।[१४३]

साहित्यबिन्दु अलङ्कारशास्त्रविषयक ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन मेहरचन्द लछमनदास, देहली से १९६१ में हुआ है। इस ग्रन्थ के दोष प्रकरण में समस्त उदाहरण श्रीहर्षरचित नैषधीयचरित से दिये गये हैं। यह अत्यन्त विद्वतापूर्ण ग्रन्थ है। यह चार भागों में विभक्त है—कारिका, वृत्ति, उदाहरण और उदाहरण विवरण। इनमें कारिका, वृत्ति और विवरण लेखकरचित हैं, उदाहरण नब्बे प्रतिशत स्वरचित हैं किन्तु कहीं-कहीं अन्य भी हैं। लेखक का यह प्रयास रहा है कि प्राचीन साहित्य ग्रन्थों के अश्लील उदाहरण न उपस्थापित कर शिक्षाप्रद उदाहरणों द्वारा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का बोध हो। यह ग्रन्थ पाँच बिन्दुओं में विभक्त है—१. प्रथम बिन्दु—काव्यलक्षण, फल, कारण, भेद, रूपक आदि, २. द्वितीय बिन्दु—शब्दार्थ त्रैविध्य, रस आदि, ३. तृतीय बिन्दु—दोषप्रकरण, ४. चतुर्थ बिन्दु —रीति, गुण, और ५. पञ्चम बिन्दु—अलङ्कार निरूपण।

११४. **कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा**—ये श्री वेंकटेश्वर प्राच्य महाविद्यालय तिरुपति में प्राध्यापक थे तथा व्याकरण एवं साहित्य के विद्वान् थे। इन्होंने १९४५-४६ ई० में साहित्य-विमर्श ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ तीन परिच्छेदों में विभक्त है—१. शास्त्रलक्षण, साहित्य पदार्थ प्रतिपादनम्, २. काव्यलक्षण, हेतु, प्रयोजन, काव्य-दूषण, ३. काव्यात्मवाद। इस ग्रन्थ में प्राच्य एवं पाश्चात्त्य सम्मत नवीन रीति से काव्य-

---

१४१. जिन्दपुर्यां रविक्रोशे जामणीग्रामसन्निधौ।
कुरुक्षेत्रमध्यवर्ति-रिटोली-ग्रामवासिना॥—साहित्यबिन्दु, पृ० २

१४२. श्रीगणेशं नमस्कृत्य मामकीं नाम मातरम्।
पितरं मोक्षरामाह्वं मूलचन्द्रं च सोदरम्॥—वही, पृ० २

१४३. Proceeding International Sanskrit conference, Vol. I, Part I, 1975, Pg. 403.

शास्त्र का प्रतिपादन किया गया है। इसका प्रकाशन श्री वेंकटेश्वर ओरियण्टल इंस्टीट्यूट से १९५१ ई० में हुआ है।

११५. **ब्रह्मानन्द शर्मा**—डा० शर्मा का जन्म ११ फरवरी, १९२३ को पंजाब के फीरोजपुर जिले में अबोहर के पास दुतारांवाली नामक गाँव में हुआ। आपके पिताजी का नाम पण्डित लाघूराम जी पारीक तथा माता का नाम अमरी देवी था। आपने आरम्भ से अन्त तक सभी कक्षाओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया। आपके गुरु संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री विद्याधर शास्त्री थे। आपने 'संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विकास' शीर्षक विषय पर राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इस समय आप विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत Re-assessment of Rasa-theory' शीर्षक शोधयोजना पर राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में कार्य कर रहे हैं।

डा० शर्मा ने कुल छः ग्रन्थों की रचन की है—१. वस्त्वलङ्कारदर्शनम्, २. अभिनवरसमीमांसा, ३. काव्यसत्यालोक, ४, तत्त्वशतक, और ५. A Critical Study of Sanskrit Poetics. ६. रसालोचनम्

काव्यसत्यालोक का प्रकाशन नसीराबाद रोड, अजमेर से हुआ है। संक्षेप में ग्रन्थ का विवेच्य विषय इस प्रकार है– १. प्रथम उद्योत-सत्यनिरूपण। २. द्वितीय उद्योत—धर्मसूक्ष्मताधान, ३. तृतीय उद्योत—व्यापारयोग, ४. चतुर्थ उद्योत—भावयोग, ५. पञ्चम उद्योत—काव्यलक्षणादि विवेचन। वस्त्वलंकारदर्शनम् में अलङ्कारों का वैज्ञानिक एवं अभिनव विवेचन है। काव्यसत्यालोक संस्कृत काव्यशास्त्र में पण्डितराज जगन्नाथ के बाद एक नयी सरणि प्रस्तुत करती है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त आपके शोध सम्बन्धी लेख विभिन्न शोध-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं।

११६. **रेवा प्रसाद द्विवेदी**—आचार्य द्विवेदी का जन्म नर्मदा तट पर स्थित ऐतिहासिक स्थान नादनेर ग्राम (भूपाल के निकट) में २२ सितम्बर, १९३५ में हुआ था। इनका मूल निवासस्थान कड़ा (इलाहबाद के निकट) था किन्तु कालान्तर में ये लोग मध्य प्रदेश के स्थायी निवासी हो गये। ये जिझोतिया ब्राह्मण हैं। इनके पिता ज्योतिषाचार्य पण्डित नर्मदा प्रसाद द्विवेदी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने मुख्य रूप से काशी के विद्वान् सर्वतन्त्र कवितार्किक चक्रवर्ती पण्डित महादेव शास्त्री से संस्कृताध्ययन किया। आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत साहित्य में आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० उपाधि अर्जित की। सम्प्रति आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय में साहित्य विभागाध्यक्ष हैं।

आचार्य द्विवेदी ने अधोलिखित ग्रन्थों की रचना की—१. सीताचरितम्—महाकाव्य, २. यूथिका—नाटक, ३. कांग्रेसपराभवम्—नाटक, ४. कालिदासः मानवशिल्पी, ५. काव्यालङ्कारकारिका, विवृति सहित ६. साहित्यसन्दर्भाः' ७. रघुवंश दर्पणः

एक परिचय ८. आनन्दवर्द्धन ९ अलङ्कार सिद्धान्त, १०. नाट्यवार्तिक। इनके अतिरिक्त आचार्य ने रघुवंश दर्पण, कालिदास ग्रन्थावली, व्यक्तिविवेक सव्याख्यान, अलङ्कार सर्वस्व, विमर्शिनी सहित, अभिधावृत्तमातृका, शब्दव्यापार विचार, रसार्णवसुधाकर इत्यादि ग्रन्थों का सम्पादन एवं टीका तथा कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

काव्यालङ्कारकारिका काव्यशास्त्रविषयक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें काव्यशास्त्रीय तत्त्वों पर नवीन ढंग से विचार किया गया है। अतएव ग्रन्थ का उपशीर्षक 'अभिनवं काव्यशास्त्रम्' उपयुक्त है। आपका काव्यदर्शन प्रत्ययवादी (Idealistic) है। इस ग्रन्थ में काव्यशास्त्र या कविता के दर्शनशास्त्र का सम्यक् विवेचन हुआ है। आपका काव्यदर्शन प्रमातृमूलक न होकर प्रमेयमूलक है। प्राचीन आचार्यों विशेषत: ध्वनि-मार्गी आचार्यों के सिद्धान्तों का प्रबल युक्तियों द्वारा खण्डन किया गया है। इस ग्रन्थ में कुल १८४ मूल कारिकायें हैं जिन पर आचार्य ने संस्कृत एवं आंग्ल भाषा में टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त संग्रह एवं उपस्कार कारिकायें भी हैं। इसका प्रकाशन चौखम्बा सुर-भारती वाराणसी से १९७७ ई० में हुआ है।

आचार्य द्विवेदी अलङ्कारवादी हैं। उनके अनुसार काव्य की आत्मा अलङ्कार है और अलङ्कार का लक्षण पर्याप्ति है। उन्होंने काव्य के छ: प्रस्थानों—रस, रीति, अलङ्कार, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य—की अलङ्कारवादी समीक्षा की है। इनमें से रस, रीति और औचित्य का अन्तर्भाव तो ध्वनि में हो जाता है और वक्रोक्ति का अल-ङ्कार में। अन्तत: दो प्रस्थान ध्वनि और अलङ्कार बचते हैं। आचार्य द्विवेदी के अनुसार ध्वनि का अन्तर्भाव भी अलङ्कार में हो जाता है। अतएव अलङ्कार ही काव्यात्म तत्त्व है। जिस प्रकार अग्नि सोम को निगल जाती है उसी प्रकार अलङ्कार ध्वनि को।[१४४]

## (ग) पण्डितराजोत्तर टीकाकार

१. **गदाधर चक्रवर्ती भट्टाचार्य**—ये हरिराम तर्कालङ्कार के शिष्य थे। इनके पिता भी प्रसिद्ध नैयायिक थे तथा नवद्वीप (बंगाल) के प्रसिद्ध नव्य नैयायिकों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका समय १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इन्होंने ५२ ग्रन्थों की रचना की। काव्यप्रकाश टीका काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ है।

२. **शुभ विजय गणि**—ये अकबरशाही के राज्यकाल में थे। इनके गुरु तपागच्छ के हीर विजयसूरि थे। इन्होंने विजयदेव सूरि के अनुरोध पर काव्य-कल्पलता व इसकी वृत्ति कवि शिक्षा पर मकरन्द नामक टीका संवत् १६६५ (१६०८-९ ई०) में लिखी।

३. **कमलाकर भट्ट**—कमलाकर भट्ट (प्रथम) का समय १७वीं शताब्दी है।

---

१४४. अस्मन्मते त्वलङ्कार: काव्यस्याङ्गस्य वीक्षणे।
ध्वनिं सोमं यथा वह्नि: कवलीकृत्य राजते॥

इनका ग्रन्थ लेखनकाल १६१० से १६४० ई० माना जाता है। इनके पिता का नाम रामकृष्ण भट्ट एवं माता का नाम उमा था। ये मीमांसक एवं बनारस के मराठा ब्राह्मण थे तथा न्याय, व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त, साहित्यशास्त्र, वेद और धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने (१) निर्णयसिन्धु (१६१२ ई०), (२) विवाद ताण्डव, (३) राम-कौतुक-कविता, (४) गीतगोविन्द-टीका, (५) काव्यप्रकाश टीका तथा धर्मशास्त्र इत्यादि विषयक ग्रन्थों की रचना की।

४. **हरिनाथ**—इनके पिता का नाम विश्वधर एवं अग्रज का नाम केशव था। इनका समय १५७५ ई० से १६७५ ई० के मध्य है। इन्होंने काव्यादर्श पर मार्जन नामक टीका लिखी।

५. **रामनाथ 'विद्यावाचस्पति'**—इनका समय १७वीं शती है। ये बंगाली थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर रहस्य प्रकाश टीका लिखी। इनके अतिरिक्त भवदेवकृत संस्कार-पद्धति पर भी १६२३ ई० में टीका लिखी। काव्यरत्नावली, कारकरहस्य, त्रिकाण्ड-विवेक और त्रिकाण्डरहस्य भी आचार्यरचित ग्रन्थ हैं।

६. **प्रेमचन्द्र तर्कवागीश**—ये कलकत्ता में संस्कृत महाविद्यालय में काव्या-लङ्कारशास्त्र के प्राध्यापक थे। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इनके शिष्य थे। इन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना की—(१) नैषधचरित-टीका, ८ सर्ग, २. शब्दकल्पसार एवं काव्यादर्श-टीका।[१४५]

७. **वामनाचार्य ज्ञानप्रमोदगणि**—इन्होंने वाग्भटालङ्कार पर ज्ञानप्रमोदिका टीका संवत् १६८१ (१६२४-२५ ई०) में लिखी।

८. **विजयानन्द**—इन्होंने काव्यादर्श एवं काव्यप्रकाश पर टीकायें लिखीं। हस्त-लिखित प्रतियों का समय संवत् १६८३ (१६२६ ई०) है।

९. **सिद्धिचन्द्र गणि**—ये प्रसिद्ध जैन भिक्षु थे इनका समय १५८७ ई० से १६६६ ई० है। इन्होंने (१) काव्यप्रकाश खण्डन, (2) बृहती-काव्यप्रकाश टीका, (३) तर्कभाषा-टीका, (४) सप्तपदार्थ टीका, (५) अनेकार्थ सर्गवृत्ति, (६) धातु-मञ्जरी, (७) आख्यातबाद टीका, (८) लेखलेखन पद्धति ग्रन्थों की रचना की।[१४६] प्रथम ग्रन्थ में पहले व्याख्या की गयी है तदनन्तर खण्डन किया गया है। इसमें सभी आलोचनायें उपयुक्त नहीं हैं। चूंकि सिद्धि चन्द्र नव्य थे। अतः वे नये काव्यसिद्धान्त की स्थापना करना चाहते थे।

१०. **समय सुन्दर**—इनके गुरु का नाम सकल चन्द्र था। इन्होंने अहमदाबाद में रहते हुये १६३६ ई० में वाग्भटालङ्कार टीका एवं रघुवंश टीका लिखी।

---

१४५. महेशचन्द्रतर्कचूडामणिः, तदीयकृतीनां विशिष्टाध्ययनन्—जगदीश प्रसाद मिश्र, पृ० १५

१४६. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I, Part I, 1975.

११. **पण्डितराज 'रघुनन्दन'**—इनका उल्लेख रत्नकण्ठ ने किया है। इन्होंने काव्यप्रकाश पर टीका लिखी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति का समय १६३७ ई० है।

१२. **राजानक रत्नकण्ठ**—इनका जन्म कश्मीर के धौम्यायन कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम शंकर कण्ठ था। ये राजानकानन्द अथवा आनन्दराजानक के मित्र थे। इन्होंने (१) सारसमुच्च—काव्यप्रकाश टीका, (2) रत्नशतक या चित्रभानुशतक, (३) स्तुतिकुसुमांजलि टीका, (४) युधिष्ठिरविजय काव्य-टीका, (५) हरविजय-काव्य-टीका की रचना की। प्रथम ग्रन्थ की रचना आचार्य ने १६४८ ई० से १६८१ ई० के मध्य की। इसमें आचार्य ने जयन्ती आदि पूर्ववर्ती टीकाओं से पर्याप्त ग्रहण किया है।

१३. **भवदेव**—ये मिथिला निवासी थे। इनके पिता का नाम कृष्णदेव एवं गुरु का नाम भवदेव ठक्कुर था। ये शाहजहाँ के राज्यकाल में हुए थे। इन्होंने (१) लीला-काव्यप्रकाश टीका (१६४९ ई०), (२) वेदान्तसूत्र टीका की रचना की।

१४. **गागाभट्ट 'विश्वेश्वर'**—इनके पिता का नाम था। इनका समय १६२० ई० से १६८५ ई० है। इन्होंने १६७४ ई० में शिवाजी का राज्याभिषेक किया था। इनका निवास स्थान बनारस था और ये मराठी थे। लेखक ने दो ग्रन्थों की रचना की—(१) राकागम या सुधा—चन्द्रलोक टीका, (2)समय-नय। द्वितीय ग्रन्थ इन्होंने राजा संभा जी को १६८०-८१ ई० में समर्पित किया था।

१५. **नरसिंह ठक्कुर**—इनका जन्म गोविन्द ठक्कुर के वंश में हुआ था। ये नैयायिक थे। भीमसेन दीक्षित (१७वीं शती का उत्तरार्ध) ने इनका उल्लेख किया है। अत: इनका समय १६२० ई० से १७०० ई० होना चाहिए। इन्होंने काव्य प्रकाश पर नरसिंहमनीषा टीका लिखी है। इस टीका में मधुमतीकार रवि और कमलाकर का उल्लेख किया गया है। अत: ये कमलाकर भट्ट के समकालीन अथवा उनके पश्चात् हुये होंगे।

१६. **देवनाथ 'तर्कपञ्चानन'**—ये बंगाल निवासी थे। इनके पिता का नाम गोविन्द था। इन्होंने काव्यप्रकाश पर काव्यकौमुदी नामक टीका संवत् १७१७ (१६६०-६१ ई०) में लिखी। इसके अतिरिक्त रसिकप्रकाश ग्रन्थ भी आचार्य रचित बताया जाता है।

१७. **आनन्द राजानक**—इन्हें राजानकानन्द भी कहा गया है। ये कश्मीर निवासी एवं शिव भक्त थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर निदर्शना अथवा शितिकण्ठ-विबोधन टीका लिखी, जिसका रचनाकाल गतकलि ४७६६ (१६६५ ई०) दिया हुआ है। अतः आचार्य का समय १७वीं शताब्दी है। कृष्णमाचारी ने इस टीका का समय १७६५ ई० माना है। आचार्य ने इस टीका में काव्यप्रकाश के आलंकारिक अर्थ के अतिरिक्त इसमें निहित शिव रहस्य की भी व्याख्या की है। इसलिये टीका का नाम शितिकण्ठ-विबोधन रखा गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने सम्भवत: नैषधचरित पर भी टीका लिखी।

१८. **अनन्त पण्डित**—इनके पिता का नाम त्र्यम्बक पण्डित था। ये गोदावरी तीर पर पुण्यस्तम्भ नामक स्थान के निवासी थे। इन्होंने बनारस में रहते हुये रसमञ्जरी पर व्यंग्यार्थकौमुदी टीका लिखी। इनका समय १६३६ ई० है। यह बनारस संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इनके नाम से मुद्राराक्षसपीठिका, गोवर्धन-सप्तशती टीका, स्वानुभूति नाटक भी उपलब्ध होता है।[१४७]

१९. **अप्पदीक्षित, द्वितीय**—ये आच्चान दीक्षित के द्वितीय पुत्र थे। इन्होंने अलंकारतिलक ग्रन्थ की रचना की।[१४८]

२०. **अतिरात्रयज्वन्** —ये नारायण दीक्षित के पाँचवें पुत्र थे। नारायण दीक्षित के पिता आच्चान दीक्षित अप्पय दीक्षित के भाई थे। इन्होंने चित्रमीमांसा पर दोषोद्धार अथवा चित्रमीमांसादोषधिक्कार नामक टीका लिखी जिसमें पण्डितराज द्वारा की गयी चित्रमीमांसा की आलोचनाओं को गलत ठहराया गया है और अप्पयदीक्षित के मत का समर्थन किया गया है।

२१. **गोपीनाथ**—इन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना की—(१) सुमनोमनोहरा-काव्यप्रकाशटीका, (२) प्रभा—साहित्यदर्पणटीका और (३) रघुवंशटीका (१६७७ ई०)।

२२. **वैद्यनाथ तत्सत्**—इनके पिता का नाम रामचन्द्र एवं पितामह का नाम विट्ठल था। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की—(१) प्रभा—गोविन्दठक्कुरकृत काव्य-प्रकाशप्रदीप पर टीका, (२) उदाहरणचन्द्रिका—इसमें काव्यप्रकाश के उदाहरणों की व्याख्या की गयी है। इसकी रचना संवत् १७४० (१६८३-८४ ई०) में हुई थी। यह काव्यमाला गुच्छक में प्रकाशित हुआ है।

२३. **गुरिजालशायिन् 'रंगशायिन्'**—इनका समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इन्हें गुरुजालरंगशायी भी कहते हैं। इनका जन्मस्थान चिलकुमरी था। इनके पिता चिलकुमरी कुल के धर्माचार्य थे। ये अनन्ताचार्य के शिष्य थे। इनका परिवार वैष्णव मतावलम्बी था। इन्होंने दो ग्रन्थ लिखे—(१) आमोदसरमञ्जरी टीका, और (२) शृंगार लहरी। प्रथम ग्रन्थ में आचार्य ने कुवलयानन्द एवं भट्टोजिदीक्षितकृत प्रौढ-मनोरमा का उल्लेख किया है।

२४. **देवपाणि** - आचार्य ने दशरूप पर टीका लिखी। इस टीका का उल्लेख रंगनाथ ने अपनी विक्रमोर्वशीय टीका (१६५६ ई०) में किया है।

२५. **लोकनाथ चक्रवर्ती**—इन्होंने कविकर्णपूरकृत अलंकारकौस्तुभ पर टीका लिखी।

२६. **वृन्दावन चन्द्र तर्कालंकार चक्रवर्ती**—इनके पिता का नाम राधाचरण

---

१४७. The number of Rasas —V. Raghavan, Pg. 39.

१४८. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I, Part I, 1975, Pg. 473.

कवीन्द्र चक्रवर्ती था। इन्होंने कविकर्णपूरकृत अलंकारकौस्तुभ पर दीधितिप्रकाशिका टीका लिखी।

२७. **शिवनारायण दास**—इनके पिता का नाम दुर्गादास था। ये बंगाल के निवासी थे। इनका समय १७वी शताब्दी का पूर्वार्ध है। इन्होंने काव्यप्रकाश पर दीपिका टीका लिखी।

२८. **जगदीश तर्कपञ्चानन भट्टाचार्य**—ये नैयायिक थे और १७वीं शती के प्रारम्भ में नवद्वीप स्थान में रहते थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर रहस्यप्रकाश नामक टीका लिखी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जो इनके शिष्य द्वारा लिखी गयी है, पर लेखन काल शक १५७९ (१६५७ ई०) दिया हुआ है।

२९. **महादेव मिश्र** - इनका समय १७वीं शताब्दी है। इन्होंने रसमञ्जरी एवं रसतरंगिणी पर व्याख्या लिखी है।[१४९]

३०. **यशोविजय** इनका समय १७वीं शताब्दी है। इन्होंने काव्यप्रकाश टीका लिखी है।[१५०]

३१. **बालकृष्ण पायगुण्ड**—इन्होंने चित्रमीमांसा पर गूढार्थप्रकाशिका टीका लिखी है। ये अलंकारसार के लेखक बालकृष्ण भट्ट से भिन्न हैं।

३२. **महेश्वर न्यायालंकार**—ये बंगाली थे। इनका समय १७वीं शती के मध्य से पूर्व है। इन्होंने काव्यप्रकाश पर भावार्थचिन्तामणि या आदर्श नामक टीका लिखी। इसका प्रकाशन जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता से हुआ है। इन्होंने दायभाग पर भी टीका लिखी। एक महेश्वर भट्ट ने साहित्यदर्पण पर विज्ञप्रिया टीका लिखी है। संभवतः दोनों व्यक्ति एक ही हैं। कृष्णमाचारी ने इनका समय १६वीं शताब्दी माना है।

३३. **लक्ष्मी नाथ भट्ट**—आचार्य ने सरस्वतीकण्ठाभरण पर दुष्करचित्र प्रकाशिका टीका १७ वीं शती के मध्य के पूर्व लिखी।

३४. **कुरविराम**—ये कोर्वतिनगरम् के जमींदारों के राज्य में निवास करते थे। इन्होंने चार ग्रन्थों की रचना की - (१) कुवलयानन्द-टिप्पण, (२) दशरुपकपद्धति, (३) अनन्तभट्टकृत चम्पूभारत पर टीका, (४) वेंकटाध्वरी के विश्वगुणादर्श पर टीका। वेंकटाध्वरी अप्पयदीक्षित के पौत्र हैं। अतएव आचार्य का समय १७ वीं शती के मध्य के पश्चात् होना चाहिये। कुछ विद्वान् पद्धति को धनञ्जयकृत दशरूपक की टीका मानते हैं तो कुछ लोग इसे स्वतन्त्र नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ मानते हैं। श्री के० लक्ष्मण शास्त्री[१५१] दशरूपकपद्धति के स्थान पर दशरूपकवर्त्म का उल्लेख करते हैं।

३५. **जयराम न्यायपञ्चानन**—ये कृष्ण नगर (बंगाल) के राजा रामकृष्ण के कृपा पात्र थे। इनके गुरु रामभद्र भट्टाचार्य सार्वभौम थे। जैसा कि नाम से स्पष्ट

---

१४९. वही, पृ० १२७

१५०. वही, पृ० १५०

१५१. वही, पृ० ६१

है, ये नैयायिक थे। इन्होंने (१) न्यायकुसुमाञ्जलि, (२) न्यायसिद्धान्तमाला, (३) तत्त्वचिन्तामणिदीधिति (रघुनाथशिरोमणिरचित) टीका, और (४) तिलक अथवा जयरामी—काव्यप्रकाश टीका ग्रन्थों की रचना की। न्यायसिद्धान्तमाला का रचनाकाल संवत् १७५० (१६९४ ई०) है। अतः आचार्य का समय १७ वीं शती है।

३६. **गणेश**—इनके पिता का नाम अनन्त भट्ट तथा गुरु का नाम भास्कर था। इन्होंने वाग्भटालंकार पर टीका लिखी। इसकी पाण्डुलिपि १७१३ ई० में तैयार हुई। गणेशकृत एक अन्य टीका रसोदधि की हस्तलिखित तिथि १६९८ ई० है।

३७. **रामचरण 'तर्कवागीश'**—ये चट्टोपाध्याय ब्राह्मण थे। इनका निवास स्थान पश्चिम बंगाल में वर्धमान जिले के अन्तर्गत रायवाटी था। इन्होंने (१) साहित्य-दर्पण-विवृति (१७०० ई०), तथा (२) कुवलयानन्द-टीका (१७०१ ई०) ग्रन्थों की रचना की। प्रथम ग्रन्थ का प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस बाम्बे से हुआ है। इस टीका के अनेक बंगाल संस्करण प्रकाशित हुये हैं।

३८. **नारायण दीक्षित**—इनके पिता का नाम रंगनाथ दीक्षित था। रंगनाथ ने विक्रमोर्वशीय पर टीका १६५६ ई० में समाप्त की। अतः दीक्षित का समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिये। इन्होंने काव्यप्रकाश पर टीका लिखी।

३९. **गुणरत्न गणि**—इनका समय १७ वीं शती का उतरार्ध है। इन्होने काव्य-प्रकाश पर सारदीपिका नामक टीका लिखी।[१५२]

४०. **गंगाधराध्वरी या गंगाधर वाजपेयी** ये चिंगलिपुट जिला के अन्तर्गत तिरवालंगाडु स्थान के निवासी थे। इनके पिता वाधूल कुल के देवसिंह सुमति थे। इन्हें तंजौर के राजा शाह जी (१६८४ ई०-१७११ ई०) का राज्याश्रय प्राप्त था। ये अप्पय दीक्षित के शिष्य के भाई के पौत्र थे। इन्होंने कुवलयानन्द पर रसिकरञ्जनी नामक टीका लिखी। इसका प्रकाशन हालास्यनाथ शास्त्री के सम्पादकत्व में कुम्भकोणम् से हुआ है। इनके अतिरिक्त इन्होंने दर्शनशास्त्र पर भी टीकायें लिखीं।

४१. **वेदान्ताचार्य**- इनका निवास स्थान कांची था। इन्होंने काव्यप्रकाश पर प्रकाशोत्तेजिनी अथवा सर्वटीकाभञ्जिनी नामक टीका-ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के दसवें अध्याय के उदाहरणों में कोचीन के राजा रविवर्मन् के गुणों की प्रशंसा की गयी है। अतः इस अध्याय को रविराजयशोभूषण कहा जाता है।[१५३]

४२. **सुमतीन्द्र**—ये माधव सम्प्रदाय के आचार्य और राघवेन्द्र मठ के स्वामी थे। तंजौर के राजा शाह जी (१६८४ ई०-१७११ ई०) ने इनका सम्मान किया था। इन्होंने सुधीन्द्रयतिविरचित अलंकारमञ्जरी पर मधुधारा टीका लिखी है।[१५४]

---

१५२. वही, पृ० १५०
१५३. वही पृ० ४७५
१५४. वही, पृ० ४७५

४३. **नेमिशाह**—इन्हें महाराजाधिराज कहा गया है। इनके पिता का नाम भीमशाह था। इन्होंने १. साहित्यसुधा अथवा काव्यसुधा—रसतरंगिणीटीका, २. उज्ज्वलनीलमणि-टीका, ३. आगमचन्द्रिका, ४. आगमप्रबोधिका, ५. आनन्द टीका, ग्रन्थों की रचना की।

४४. **विश्वनाथ चक्रवर्ती**—आचार्य का समय १७ वीं शती का उत्तरार्ध अथवा १८ वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित है। इनका जन्म बंगाल में हुआ और ये गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के थे। इन्होंने तीन ग्रन्थों की रचना की - १. आनन्दचन्द्रिका या किरण—उज्ज्वलनीलमणिटीका (शक १६१८=१६९६ ई०), २. सारबोधिनी—कविकर्णपूरकृत अलंकारकौस्तुभ-टीका, ३. सारार्थदर्शिनी—भागवतटीका (शक १६२६=१७०४ ई०) ग्रन्थों की रचना की। डॉ० वर्णेकर ने इनके अतिरिक्त श्रीकृष्णभावनामृत, निकुंजकेलि-विरुद्धावली, गौरांगलीलामृत चमत्कारचन्द्रिका ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है।

४५. **गोपाल भट्ट या लौहित्य भट्ट गोपाल**—इनके पिता का नाम हरिवंश भट्ट द्रविड था। इन्होंने १७५० ई० में काव्य प्रकाश पर साहित्य-चूडामणि नामक टीका लिखी। इसका प्रकाशन त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज से हुआ है। कुमारस्वामी ने एक गोपाल भट्ट का उल्लेख किया है। यदि प्रकृत आचार्य वही है तब इनका समय १५ वीं शताब्दी से पूर्व होना चाहिये। काणे ने एक स्थल पर साहित्य चूडामणि का काल १७५० ई० तथा दूसरे स्थल पर १६४० संवत् लिखा है[१५५] आचार्य ने कुल तीन टीकाओं की रचना की—१. साहित्यचूडामणि—काव्य-प्रकाशटीका, २. रूद्रटकृत शृङ्गारतिलक-टीका, और ३. रसमञ्जरी-टीका।

४६. **नागेश भट्ट (नागोजी भट्ट)**—आधुनिक काव्यशास्त्रियों एवं वैयाकरणों में नागेश भट्ट का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। हालाँकि नागेश भट्ट ने काव्यशास्त्र में किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं की किन्तु अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर लिखी गयी टीकायें इतने उच्च स्तर की हैं कि उनमें निहित मौलिकता के कारण वे अभिनवगुप्तप्रभृति आचार्यों की श्रेणी में समारोहणार्ह हैं। नागेश भट्ट का जन्म काले कुल में हुआ था। ये महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शिव भट्ट तथा माता का नाम सती था। ये वाराणसी के निवासी थे तथा शृंगवेरपुर (इलाहाबाद के समीप) के राजा रामसिंह के कृपा पात्र थे। इनके गुरु भट्टोजिदीक्षित के प्रपौत्र हरिदीक्षित थे। भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेष कृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर के शिष्य पण्डितराज जगन्नाथ थे। इस प्रकार पण्डितराज एवं नागेश भट्ट में दो पीढ़ियों का अन्तर था। अतः नागेश भट्ट का समय १८ वीं शती का प्रारम्भ ठहरता है।

नागेश भट्ट ने अधोलिखित ग्रन्थों की रचना की—१. गुरुमर्मप्रकाश—रस-गंगाधर टीका, २. बृहत् एवं लघु उद्योत—काव्यप्रकाश पर गोविन्द ठक्कुर की टीका 'प्रदीप' की व्याख्या, ३. उदाहरणदीपिका अथवा प्रदीप—काव्यप्रकाश-टीका, ४. अलं-

---

१५५. History of Sanskrit Poetics, Pg. 412 & 435

कारसुधा एवं विषमपद व्याख्यान षट्पदानन्द—कुवलयानन्द टीका, ५. प्रकाश-रसमंजरी टीका, ६. रसतरंगिणी टीका, ७. परिभाषेन्दुशेखर, ८. लघुशब्देन्दुशेखर, ९. बृहच्छब्देन्दुशेखर, १० भाष्यप्रदीपोद्योत, ११. परमलघुमञ्जूषा, १२. लघुमञ्जूषा १३. बृहन्मञ्जूषा, १४. प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, १५. सापिण्ड्यनिर्णय, १६. सांख्यसूत्रवृत्ति, १७ योगसूत्रवृत्ति, १८. न्यायसूत्रवृत्ति, १९. वैशेषिकसूत्रवृत्ति, २०. मीमांसासूत्रवृत्ति, २१. वेदान्तसूत्रवृत्ति, २२. वृत्तिसंग्रह, २३. सप्तशतीस्तोत्र टीका, २४. स्वगुरुनाम्ना शब्दरत्नम्, २५. स्वशिष्यनाम्ना अध्यात्मवाल्मीकीयरामायणयोः टीकाद्वयम्।[१५६]

४७. **व्रजराजदीक्षित 'हरदत्त'**—इनके पिता का नाम कामराज दीक्षित था। इनका समय १८ वीं शती का पूर्वार्ध है। इन्होंने रसमञ्जरी पर रसिकरंजन नामक टीका लिखी। इसके अतिरिक्त शृङ्गारशतक, सद्रत्नवर्णन, आर्यात्रिशती मुक्तक अथवा रसिकरंजन काव्यों का रचयिता भी इन्हें ही कहा जाता है।[१५७]

४८. **मथुरानाथ शुक्ल**—ये मालव प्रदेश में पाटलिपुत्र के निवासी थे। आफ्रेट ने आचार्यरचित ६४ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इन्होंने दलचन्द्र राजा की आज्ञा पाकर १७८३ ई० में ज्योतिःसिद्धान्तसार ग्रन्थ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त इन्होंने साहित्य-दर्पण टिप्पण और कुवलयानन्द-टीका लिखी।

४९. **वैद्यनाथ 'पायगुण्ड'**—इनके पिता का नाम रामभट्ट एवं गुरु का नाम नागेश भट्ट था। ये महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इन्होंने १. रमा—चन्द्रालोकटीका, २. अलंकारचन्द्रिका—कुवलयानन्द-टीका, ३. चिदस्थिमाला—शब्देन्दुशेखर-टीका, ४. गदा—परिभाषेन्दुशेखरटीका, ५. भावप्रकाशिका शब्दरत्न-टीका ६. छाया—महाभाष्य प्रदीपोद्योत-टीका। ७. कला व्याकरणसिद्धान्तमञ्जूषा-टीका, ८. लक्ष्मी—याज्ञवल्क्य-मिताक्षरा-टीका, एवं ९. वाममार्गखण्डनम् नामक ग्रन्थों की रचना की।

५० **सार्वभौम**—ये विश्वनाथ चक्रवर्ती (१७ वीं शती का उत्तरार्ध अथवा १८ वीं शती का पूर्वार्ध) के शिष्य थे। इन्होंने कविकर्णपूरकृत अलंकारकौस्तुभ पर टीका लिखी।

५१. **जीवराज**—ये व्रजराज दीक्षित 'हरदत्त' के पुत्र और सामराज दीक्षित के प्रपौत्र थे। इन्होंने रसतरंगिणी पर सेतु अथवा सेतुप्रबन्ध नामक टीका लिखी। इस टीका में आचार्य ने गंगाराम जडी कृत नौका टीका का उल्लेख किया है। अतः आचार्य का समय १८ वीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिये। इसके अतिरिक्त इन्होंने गोपालचम्पू ग्रन्थ की रचना की।[१५८]

५२. **तिरुवेंकट**—ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम चिन्नतिम्म था। इन्होंने काव्यप्रकाश पर टीका लिखी। इसमें भट्ट गोपाल की टीका

---

१५६. श्री रसगंगाधर मर्मप्रकाशमर्मोद्घाटनम्—जग्गू वेंकटाचार्य, पृ० २

१५७. काव्येन्दुप्रकाश—सम्पादक श्री बाबूलाल शुक्ल, भूमिका, पृ० ६

१५८. वही, पृ० ६

(१७५० ई०) का उल्लेख किया गया है। अतः इनका समय १८ वीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिये।

५३. **धरानन्द**—ये भरतपुर निवासी तथा वसिष्ठगोत्रीय श्रीरामबल मिश्र के पुत्र थे। इनके गुरु का नाम परमानन्द था। इन्होंने सर्वप्रथम चित्रमीमांसा पर सुधा नामक टीका लिखी। इस टीका में पद-पद पर विश्वेश्वरपण्डित कृत अलंकारकौस्तुभ (१८ वीं शती पूर्वार्ध) के मत का उल्लेख किया गया है। अतः धरानन्द का समय १८ वीं शती का उत्तरार्ध या इसके पश्चात् होना चाहिये। सुधा टीका की विशेषता यह है कि अप्पय दीक्षित ने जिस स्थल की सम्यक् आलोचना नहीं की अथवा संक्षेपतः आलोचना की, उसका भी विशद विवेचन किया गया है और पण्डितराजप्रभृति आचार्यों द्वारा किये गये आक्षेपों का उत्तर भी दिया गया है। यह ग्रन्थ कालिका प्रसाद शुक्ल के सम्पादकत्व में वाणीविहार, वाराणसी से १९६५ ई० में प्रकाशित हुआ है।

५४. **जीवानन्द विद्यासागर**—इनका समय १९ वीं शती है। इन्होंने ९ नाटकों की व्याख्या, ८ काव्यों पर टीका तथा एक संकृत काव्यसंग्रह की रचना की। इनके अतिरिक्त साहित्यदर्पण पर इन्होंने विमला नामक टीका लिखी।

५५. **दुर्गा प्रसाद त्रिपाठी**—आचार्य का समय १९ वीं शती है। इनका निवास स्थान एकडलाग्राम था। इनके पिता कोदीराम तथा गुरु छोठक मिश्र थे। इन्होंने ज्योतिष, कर्मकाण्ड आदि विषयों पर मूल ग्रन्थ तथा व्याकरण ग्रन्थों पर टीकायें लिखीं। इनके अतिरिक्त इन्होंने रसमञ्जरी पर टीका लिखी।

५६. **महेशचन्द्र 'न्यायरत्न'**—आचार्य का समय २२ फरवरी १८३८—अप्रैल १९०५ है। ये हावड़ा जिले के नारीट गाँव के निवासी थे। इनका जन्म भट्टाचार्य कुल में हुआ था। इनके पिता हरिनारायण तर्कसिद्धान्त एवं पितृव्यद्वय गुरु प्रसन्नपञ्चानन एवं ठाकुरदासचूड़ामणि प्रसिद्ध विद्वान् थे। ये न्यायरत्न, महामहोपाध्याय एवं सी० आई०ई० पद से विभूषित थे एवं १८६४ ई० में गवनमेण्ट संस्कृत कालेज में प्राध्यापक थे। इन्होंने ६ ग्रन्थों की रचना की—१. काव्यप्रकाश टीका, २. मीमांसादर्शनम्, ३. कृष्णयजुर्वेदः, ४. दयानन्दसरस्वतीवेदभाष्येऽभिप्रायम्, ५. मृच्छकटिकप्रणेतृनिर्णय. (आलोचना), ६. लुप्तसंवत्सरम्।[१५९]

५७. **जग्गू वेंकटाचार्य**—ये कर्णाटक (मैसूर) में दक्षिणबदरिकाश्रम नामक यादवगिरि (मेलुकोट) क्षेत्र में स्थित वेदवेदान्तबोधिनी संस्कृत पाठशाला में प्राध्यापक थे। इन्होंने दो ग्रन्थों की रचना की—(१) कुवलयानन्दचन्द्रिकाचकोर—वैद्यनाथ 'पायगुण्ड' कृत कुवलयानन्द की टीका चन्द्रिका की व्याख्या, (२) श्रीरसगंगाधरमर्मप्रकाशमर्मोद्घाटनम्—नागेशभट्टकृत रसगंगाधर की टीका मर्मप्रकाश की संक्षिप्त व्याख्या। इन ग्रन्थों का प्रकाशन बंगलौर से हुआ है। इनमें आचार्य ने नागेश भट्ट की आलोचना की है।

---

१५९. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डा० हीरालाल शुक्ल, पृ० २२२

५८. **दशरथ द्विवेदी**—ये उत्तर प्रदेश में एटा जनपद के अन्तर्गतसोरो (प्राचीन शूकर क्षेत्र) के निवासी थे। इनका समय १९ वीं शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने १. काव्यालंकारसूत्र-भाष्य, २. कातन्त्रचन्द्रिका, ३. श्लोकबद्धलघुसिद्धान्तकौमुदी, ४. सर्प-चिकित्सा, ५. विषोपविषमीमांसा, ६. विधानमार्तण्ड, ७. समस्यापूर्ति, ८. पिङ्गल-छन्दःसूत्रभाष्य, ९. भगवद्भक्तिरहस्य' १०. संस्कारविधिपर्यालोचन।[१५९]

५९. **मानवल्लि गंगाधन शास्त्री**—आचार्य का समय १८५३ ई०-१९१३ ई० है। इनके पिता का नाम नृसिह शास्त्री मानवल्लि तथा पितामह का नाम सुब्रह्मण्य था। इनका जन्म वाराणसी में संवत् १९१० में हुआ था। इनके गुरु राजारामशास्त्री एवं बालशास्त्री थे। ये १८७९ ई० में वाराणसी संस्कृत कालेज में प्राध्यापक पद पर रहे। इन्होंने रसगंगाधर की टीका टिप्पणी लिखी। इसके अतिरिक्त २. अलिविलाससंलाप (खण्डकाव्य), ३. हंसाष्टक (कविता), ४. सभावर्णनम् (श्लोक), ५. राजारामशास्त्री-जीवनवृत्तम् (चम्पू), ६. बालशास्त्रीजीवनचरितम् (चम्पू), ७. शाश्वतधर्मदीपिका, ८. पदमञ्जरी (टीका), ९. सिद्धान्तलेश टीका, १०. वाक्यपदीय टीका, ११. तन्त्रवार्तिक टीका, १२. न्यायभाष्यम् (टीका), १३. ड्यूक आफ एडनबरा की प्रशस्ति (८ श्लोक), १४. प्रिंस आफ वेल्स की प्रशस्ति (श्लोक) मानसोपायनम् की रचना की।[१६०] डॉ० वर्णेकर ने आचार्य रचित काव्यात्मक संशोधन ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है।

६०. **रायम्पेटा वेंकटेश्वर कृष्णमाचारियर**—इनके पिता का नाम वेंकटेश्वर था। इनका समय १८७४ ई०-१९४४ ई० है। इन्होंने चित्रमीमांसा पर टीका लिखी। इसके अतिरिक्त इन्होंने चौबीस अन्य ग्रन्थों की भी रचना की।[१६१]

६१. **वामन भट्ट झलकीकर**—इनका समय १९ वीं शती का अन्त भाग है। ये महाराष्ट्र निवासी थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर बालबोधिनी नामक टीका लिखी।

६२. **रामनाथ चतुर्वेदी**—इनके पिता का नाम कुञ्जन लाल चतुर्वेदी था। ये जालौन (उत्तर प्रदेश) जिले के कौंच नामक ग्राम के निवासी थे। इनका समय १८९६ ई०-१९३४ ई० है। इन्होंने १. रसमञ्जरी-टीका, २. गीतिसंग्रह, ३, पथपेटिका, ४. नवदुर्गास्तव, ५. जुहोतिया परिचय ग्रन्थों की रचना की।

६३. **राम पिशारडी**—इनका जन्म कुच्चि के इरंगाल कुडा महाक्षेत्र के समीप पिशारट में हुआ था। इनके पिता का नाम वेल्लागंलूर वाटपल्लि तथा माता का नाम कुच्ची पिशारस्यार था। इशके गुरु शठकोपाचार्य थे। इनका समय २० वीं शताब्दी है। इन्होंने १. कुवलयानन्द-चन्द्रिका की व्याख्या, २. ध्वन्यालोकलोचन की बालप्रिया

---

१५९. Proceeding, International Sanskrit Conference, Vol. I, Part I, Pg. 500.

१६०. आधुनिक संस्कृत साहित्य—डॉ० हीरालाल शुक्ल, पृ० २७५-२७६

१६१. वही, पृ० ३८७

व्याख्या, ३. चित्रमीमांसा की बालप्रिया व्याख्या, ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त सोलह अन्य ग्रन्थ भी आचार्यरचित बताये जाते हैं।[१६२]

६४. **खुद्दी झा**—इनका समय २० वीं शताब्दी है। इन्होंने काव्यप्रकाश व्याख्या लिखी है।[१६३]

६५. **चण्डिका प्रसाद शुक्ल**—आपका जन्म प्रयाग जनपद में अठखरिया ग्राम में २४ अगस्त, १९२१ में हुआ था। आपका गोत्र कृष्णात्रेय है तथा आप शुक्लवंशीय सरयूपारीण ब्राह्मण हैं। आपके पिता स्व० रामकिशोर शुक्ल ज्योतिष, धर्मशास्त्र एवं पुराण के पण्डित तथा काव्य-साहित्य के मर्मज्ञ थे। आपने संस्कृत व्याकरण का अध्ययन अपने पितृव्य पण्डित भानुप्रसाद शुक्ल से किया था तथा वाराणसेयसंस्कृत विश्वविद्यालय से व्याकरण में मध्यमा एवं साहित्याचार्य की उपाधि तथा प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत एवं प्राचीन इतिहास विषयों में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की किन्तु साहित्य-विषयक अभिरुचि के कारण संस्कृत में शोध कार्य सम्पन्न किया। आपको प्रयाग विश्वविद्यालय से नैषधचरित पर १९५३ ई० में डी० फिल्० उपाधि तथा शृंगार रस के शास्त्रीय विकास विषय पर १९७१ ई० में डी०लिट्० उपाधि प्राप्त हुई। आपने १९८२ ई० में संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रोफेसर एवं अध्यक्षपद से अवकाश ग्रहण किया।

आपने आठ ग्रन्थों की रचना की—१. नैषधचरित—हिन्दी अनुवाद, २. शिशुपालवध-टीका—प्रथम एवं द्वितीय सर्ग, ३. वेदमञ्जरी—(सम्पादित, १९५३ ई०), ४. नैषध परिशीलन—आलोचनात्मक ग्रन्थ, ५. मुक्ताफल—संस्कृत के पाँच महाकाव्यों का हिन्दी पद्यानुवाद, ६. माघ कवि—शोध निबन्ध (१९८३ ई०); ७. शृंगार परिशीलन (१९८३ ई०), ८. दीपशिखा—धन्यालोक-टीका (१९८३ ई०)।

दीपशिखा का प्रकाशन विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से हुआ है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनवगुप्त की लोचन टीका से सर्वथा पृथक् अपनी मान्यता स्थापित की है और यह सिद्ध किया है कि अभिनवगुप्त अनेक स्थलों पर आनन्दवर्धन-सम्मत अभिप्राय के प्रकाशन में असमर्थ रहे हैं।

## (घ) अज्ञात लेखक ग्रन्थ

**१. काव्य लक्षण विचार—**

लेखक ने इस ग्रन्थ में रसगंगाधर एवं चित्रमीमांसा का उल्लेख किया है अतः

---

१६२. वही, पृ० ३४३

१६३. Proceeding International 'Sanskrit Conference, Vol. I, Part I, 1975, Pg. 128.

इसका रचनाकाल १७ वीं शती के उत्तरार्ध के पश्चात् होना चाहिये। इसकी पाण्डुलिपि मद्रास पुस्तकालय में है।[१६४]

**२. अलंकारमञ्जरी—**

इस ग्रन्थ में निबद्ध उदाहरण विजगापट्टम जिले के काकर्लपूरि वंश के जमींदार रामचन्द्र (१८ वीं शती) की प्रशंसा में लिखे गये हैं।

**३. रसकौमुदी—**

पी० के० गोड के अनुसार इस ग्रन्थ की सम्भावित तिथि १८ वीं शती का उत्तरार्ध है।

**४. साहित्यकौमुदी-टीका—**

यह आचार्य बलदेव विद्याभूषण (१८ वीं शती पूर्वार्ध) रचित साहित्यकौमुदी ग्रन्थ की व्याख्या है। अतः टीकाकार का समय १८ वीं शती का उत्तरार्ध अथवा उसके पश्चात् होना चाहिये।

—०—

१६४. History of Sanskrit Poetics, kane, Pg. 413.

द्वितीय अध्याय

# गौण काव्यशास्त्रीय विषयों का व्याख्यान

## काव्य-लक्षण

प्राचीन आचार्यों ने काव्य की परिभाषा करने के लिए काव्य की आत्मा को खोजने का प्रयास किया और भिन्न-भिन्न आचार्यों ने रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य को आत्म तत्त्व स्वीकार कर तत्परक ही काव्यलक्षण प्रस्तुत किया।

काव्यस्वरूप के प्रतिपादन में हमें प्राचीनकाल से ही दो धारायें दिखाई देती हैं। व्यास, दण्डी, जयदेव, विश्वनाथ एवं पण्डितराज प्रभृति आचार्य शब्द को काव्य मानते हैं तो भरत, भामह, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, कुन्तक, भोज, महिमभट्ट, मम्मट, हेमचन्द्र, रुय्यक, वाग्भट, विद्याधर इत्यादि आचार्य शब्द-अर्थ उभय की समष्टि को काव्य स्वीकार करते हैं।

भरतमुनि ने एक स्थल पर काव्य की ओर संकेत करते हुए कहा है कि गूढ शब्द और गूढ अर्थ से रहित काव्य होना चाहिए। इससे इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य शब्दार्थ समष्टि को काव्य मानने के पक्ष में हैं। दण्डी की काव्य परिभाषा पर व्यास का प्रभाव स्पष्टरूप से दिखाई देता है। व्यास के अनुसार अभीष्ट अर्थ को संक्षेप में प्रकट कर देने वाले पद-समूह को काव्य कहते हैं।[1] लगभग यही बात दण्डी भी स्वीकार करते हैं।[2] किन्तु यदि दण्डी के लक्षणगत 'व्यवच्छिन्न' का तात्पर्य परिमाप्य-परिमापकभाव से है तो काव्य में शब्द और अर्थ की समान स्थिति हो जाती है। आचार्य भामह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने स्पष्टरूप से शब्द और अर्थ के साहित्य (सहितभाव) को काव्य कहा।[3] किन्तु भामह इस साहित्य अर्थात् सहितभाव की व्याख्या नहीं करते हैं। वे अपने ग्रन्थ में अनेक दोषों एवं अलङ्कार की सविस्तर चर्चा करते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता

---

१. ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद् वाङ्मयं मत्म (अग्निपुराण, ३३७/१) एवं संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (वही, ३३७/६)

२. शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली (काव्यादर्श, पृ० ६)

३. शब्दार्थौं सहितौ काव्यं, गद्यं पद्यं च तद् द्विधा (काव्यालङ्कार)

है कि वे शब्दार्थ को दोषरहित एवं सालङ्कार मानने के पक्षपाती हैं। वामन ने अलङ्कार को अनित्य धर्म स्वीकार करते हुए रीति अथवा गुण को ही काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार किया[४] और काव्य लक्षण में सर्वप्रथम अदोष पद का सन्निवेश किया। आचार्य आनन्दवर्धन ने अलङ्कार, गुण, रीति, आदि को काव्य का शरीर बताते हुये ध्वनि तत्त्व को काव्यात्म रूप में प्रतिष्ठित किया। हालाँकि उन्होंने स्पष्ट रूप से काव्यलक्षण नहीं किया किन्तु अभाववादियों के मत के विश्लेषण में आनन्दवर्धन ने शब्दार्थ में काव्यत्व स्वीकार किया है।[५] राजशेखर वाक्य को काव्य मानते हैं और वाक्य तो पद-समूह ही है किन्तु राजशेखर के अनुसार पद का अर्थ शब्द नहीं अपितु शब्दार्थ-उभय है।[६] इस अंश में राजशेखर ने कविराज विश्वनाथ को प्रभावित किया है। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य को जीवित बताते हुये शब्द-अर्थ को काव्य स्वीकार किया।[७] भोजराज के अनुसार काव्य का वैशिष्ट्य है—दोषराहित्य, गुणयुक्तता, सालंकृति एवं सरसत्व।[८] आचार्य मम्मट ने भामह से लेकर अपने समय तक प्रचलित सभी काव्यलक्षणों का समन्वय प्रस्तुत किया। उनके अनुसार दोषहीन, सगुण एवं सालंकार शब्दार्थयुगल को काव्य कहते हैं।[९] मम्मट ने रस के अपकर्षक तत्त्वों का दोष कहा और इन्हीं मुख्य दोषों की हीनता ही उन्हें काव्य में मान्य है, क्षुद्र दोषों की सत्ता से काव्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। ध्वनिमार्गी होने के कारण मम्मट का आग्रह गुण और अलङ्कार में से गुण पर ही अधिक है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ अलङ्कार का अभाव होने पर भी काव्यत्व विद्यमान रहता है और जहाँ गुण-धर्म एवं रस-सम्पत्ति की सत्ता न हो वहाँ कभी-कभी अलङ्कार का चमत्कार भी शब्दार्थ को काव्य बनाने की क्षमता रखता है। मम्मट 'अनलंकृति पुनः क्वापि' कहते

---

४. रीतिरात्मा काव्यस्य, विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दायोर्थवर्तते (काव्यालङ्कारसूत्राणि, पृ० १४, १५, ३)

५. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति। शब्दार्थशरीरं तावत् काव्याम्। सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव हि काव्यलक्षणम् (ध्वन्यालोक, पृ० ३९)

६. व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दो, निरुक्तनिघण्ट्वादिभिर्निर्दिष्टस्तदभिधेयोऽर्थस्तौ पद्म। पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्। तदेव वाक्यं स्फुटालंकारगुणविशिष्टं दोषवर्जितं काव्यम्। गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम् (काव्यमीमांसा, पृ० ५४, ५६, ६२)

७. शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।। (वक्रोक्तिजीवित, पृ० १७)

८. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।। (सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३)

९. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (काव्यप्रकाश, पृ० १९)

हुए काव्य में अलङ्कार की सत्ता चाहते हैं—'सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कार-विरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।'

मम्मट के काव्यलक्षण की काव्यशास्त्र जगत् में पर्याप्त आलोचना हुई। कविराज विश्वनाथ ने विशेषणांश पर आपत्ति उठायी तो पण्डितराज जगन्नाथ ने विशेष्यांश पर। काव्यप्रकाश के टीकाकार चण्डीदास के अनुसार मम्मट शब्दार्थ-युगल को काव्य कहते अवश्य हैं किन्तु उनका शब्द पर विशेष आग्रह है इसीलिए उन्होंने 'अर्थशब्दौ' न कहकर अभ्यर्हित होने के कारण शब्द का पूर्व निपात किया है। इस प्रकार मम्मट के मत में भी काव्य में अर्थ की अपेक्षा शब्द की प्रधानता सिद्ध होती है। कदाचित् चण्डीदास के इसी विवेचन से पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रभावित होकर सीधे ही शब्द को काव्य मान लिया।

हेमचन्द्र,[१०] विद्यानाथ[११] एवं वाग्भट[१२] ने मम्मट के ही काव्य-लक्षण को पूर्णतः स्वीकार कर लिया। जयदेव आपाततः वाक् (शब्द) में काव्यत्व स्वीकार करते हैं किन्तु उच्यते इति वाक् अर्थः, वक्ति इति वाक् शब्दः व्युत्पत्ति के अनुसार वाक् शब्द और अर्थ दोनों का बोधक है। अतएव शब्दार्थ में काव्यत्व जयदेव सम्मत ही है। जयदेव ने काव्य-लक्षण में मम्मट के विशेषणों के अतिरिक्त अक्षरसंहृति आदि लक्षण, वैदर्भी आदि रीति, शृङ्गारादि रस, मधुरादि वृत्ति—सभी काव्य तत्त्वों का समावेश कर लिया।[१३]

कविराज विश्वनाथ ने काव्य में सीधे रस की सत्ता को ही स्थान दिया और शब्दार्थ-युग्म के स्थान पर वाक्य में काव्यत्व स्वीकार किया।[१४] वाक्य का अर्थ है—पद-समूह। इस प्रकार आपाततः विश्वनाथ भी शब्द को ही काव्य मानते हुए दिखायी देते हैं, किन्तु आगे चलकर वे काव्य के दो भेद करते हैं—श्रव्य और दृश्य। दृश्य तो अर्थ ही होता है, शब्द नहीं। यदि शब्द को ही काव्य माना जायगा तो अर्थरूप दृश्यकाव्य की हानि हो जायेगी। पुनश्च मम्मट के काव्यलक्षण की आलोचना में विश्वनाथ ने 'अदोषौ, 'सगुणौ' एवं 'अनलंकृती पुनः क्वापि' विशेषणों पर आपत्ति उठायी है; किन्तु 'शब्दार्थौ' पर आक्षेप नहीं किया। दशम परिच्छेद में कविराज विश्वनाथ ने सविस्तर अर्थालङ्कार का विवेचन किया है। इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि वे भी शब्दार्थ की समष्टि को ही काव्य मानने

---

१०. अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यानुशासनम्, पृ० १९)

११. गुणलङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥　　　(प्रतापरुद्रीय,)

१२. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम् (वाग्भटालङ्कार)

१३. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ (चन्द्रालोक, पृ० ६)

१४. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् (साहित्यदर्पण, पृ० २३)

के पक्षपाती हैं। विश्वनाथ की काव्य परिभाषा पर आचार्य शौद्धोदनि का प्रभाव स्पष्ट है। शौद्धोदनि के अनुसार रसादि से युक्त वाक्य को काव्य कहते हैं—रसादिमत् वाक्यं काव्यम्। 'आदि' पद से आचार्य को अलङ्कार अभीष्ट है। इस प्रकार रस एवं अलङ्कार समकक्ष हो जाते हैं। विश्वनाथ ने अलङ्कारबोधक 'आदि' पद को हटाकर संक्षिप्त काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया।

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट रूप से शब्द में ही काव्यत्व स्वीकार किया। उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत शब्दार्थ समष्टि में काव्यत्व का निराकरण करके रमणीय अर्थ की प्रतिपत्ति कराने वाले शब्द को काव्य कहा।[१५] पण्डितराज के अनुसार रमणीय अर्थ उसे कहते है जिससे लोकोत्तर आह्लाद की प्रतीति होती है और लोकोत्तर का तात्पर्य है आह्लाद में रहने वाला चमत्कारत्व जाति, जिसका अनुभव सहृदय सामाजिक को होता है।

काव्य हेतु के प्रतिपादन में प्रसंगवश प्रतिभा का स्वरूप निरूपण करते हुये पण्डितराज ने कहा है कि काव्य निर्माण के अनुकूल शब्द एवं अर्थ दोनों की उपस्थिति को प्रतिभा कहते हैं। पण्डित मधुसूदन शास्त्री का कहना है कि यदि पण्डितराज को काव्यत्व शब्दनिष्ठ ही अभिप्रेत है तो शब्दरूप काव्य रचना के अनुकूल शब्द की उपस्थिति ही कहना चाहिये, अर्थ की उपस्थिति नहीं। यदि यह कहा जाय कि निरर्थक शब्द तो काव्य होगा नहीं तब भी काव्य रचना के अनुकूल सार्थक शब्द की उपस्थिति को प्रतिभा कहना चाहिए, न कि काव्य-रचना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति इसलिए पण्डितराज के हृदय में 'शब्दार्थौ काव्यम्' ही प्रविष्ट है।[१६]

इस प्रकार कुछ आचार्य शब्द को काव्य कहते है और कुछ शब्द-अर्थ उभय को। शब्द में काव्यत्व स्वीकार करने वाले आचार्यों का कहना है कि काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यं श्रुतम्, इत्यादि लोकव्यवहार में प्रयुक्त वाक्यों से शब्द ही काव्य ठहरता है, क्योंकि पठन, श्रवण इत्यादि क्रियाओं का कर्म अर्थ नहीं हो सकता। उच्चारण एवं श्रवण तो शब्द का ही सम्भव है। शब्दार्थ समष्टि में काव्यत्व स्वीकार करने वाले आचार्यों का कहना है कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है और कवि स्वगत भावों (अर्थों) का वर्णन ही शब्द के माध्यम से करता है, इसलिए दोनों की समष्टि को काव्य मानना चाहिए।

पण्डितराज के परवर्ती आचार्य प्रायः मम्मट के काव्य-लक्षण से प्रभावित दिखायी देते हैं। कुछेक आचार्यों ने तो मम्मट के लक्षण को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, तो कुछ ने थोड़े से परिष्कार के साथ उसे स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने नवीन पदावली में भी काव्यस्वरूप का प्रतिपादन किया है।

आचार्य राजचूडामणि दीक्षित मम्मटीय काव्यलक्षण के एक विशेषण 'अनलं-

१५. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (रसगंगाधर, पृ० १३)
१६. रसगंगाधरालोचन—मधुसुदन शास्त्री (वही, पृ० ३६)

कृती पुनः क्वापि' के स्थान पर 'सदलंकृती' पद का सन्निवेश करते हैं—'काव्यं ह्यदुष्टौ सगुणौ शब्दार्थौ सदलंकृती' (काव्यदर्पण, पृ० ६०)।

अदुष्टौ पद की सार्थकता प्रतिपादित करते हुए राजचूड़ामणि कहते हैं कि वस्तुतः अदुष्ट ही उत्तम काव्य होता है, अन्यथा काव्य और काव्याभास में विवेक न हो। यदि यह कहा जाय कि दोषाभाव को विशेषण मानने पर काव्यत्व व्यवहार प्रविरल विषय हो जाएगा तो राजचूडामणि का कहना है कि काव्यत्व व्यवहार की प्रविरल विषयता ही इष्ट है, जैसा कि ध्वनिकार का कहना है कि समस्त संस्कृत साहित्य में दो-तीन ही कवि हैं और दो-तीन ही काव्य।[१७]

राजचूडामणि काव्य में अलंकार की स्थिति आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि शब्दालंकार और अर्थालंकार यथायोग्य रस के अभिव्यंजक शब्द-अर्थ के उपस्कार होते हैं और उपस्कार न होने पर यथेष्ट रसाभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इसलिए सालकारत्व विशेषण उपयुक्त है।[१८] मम्मट ने भी काव्यलक्षण की वृत्ति में 'स्फुटालंकारविरहेऽपि' कहा है. जिससे स्पष्ट है कि काव्य में अस्फुट रूप से ही सही, अलंकार सदैव वर्तमान रहता है।

आचार्य विश्वनाथ देव काव्यलक्षण में दोषाभावत्व, गुणत्व और अलंकारत्व इत्यादि का उल्लेख नहीं करते। वे कविराज विश्वनाथ के समान वाक्य को काव्य कहते हैं। उनका कहना है कि जिस काव्य के श्रवणमात्र से ब्रह्मानन्द सदृश आनन्द की अनुभूति होती है, उसे काव्य कहते हैं—

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते॥

—साहित्यसुधासिन्धु, पृ० ७

इस काव्यलक्षण में 'श्रवणमात्रेण' पद के सन्निवेश से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शब्द को काव्य मानने के पक्षधर हैं। आगे वे इसी मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कवि के द्वारा सम्पाद्य वस्तु को ही काव्य कहा जा सकता है और कवि कामिनी, चन्द्र, चन्द्रिका इत्यादि अर्थों का निर्माण नहीं करता। ये अर्थ तो ब्रह्मानिर्मित

---

१७. वस्तुतस्तु अदुष्टमेवोत्तमं काव्यम्, अन्यथा काव्यतदाभासविवेको न स्यात्। प्रविरलविषयता च काव्यत्वव्यहारस्येष्टैव, यदाहुर्ध्वनिकृतः—'अतएव द्वित्रा एव कवयो द्वित्राण्येव काव्यानि' इति (काव्यदर्पण, पृ० १२)

१८. शब्दालंकाराणामर्थालङ्काराणां च यथाकथं रसाभिव्यंजकशब्दार्थोपस्कारकत्वेनालङ्कारत्वादुपस्कारकाभावे च न रसाभिव्यक्तिपौष्कल्यमिति सालङ्कारत्वमप्यावश्यकम् (वही, पृ० 13)

हैं। अतः कविनिर्मेय पदरचना में ही काव्यत्व सम्भव है। इस प्रकार शब्द समूह रूप वाक्य ही काव्य है।[१९]

विश्वनाथ देव काव्यलक्षण में अदोषी इत्यादि पदों के सन्निवेश के विरोधी हैं। उनका कहना है कि दोषयुक्त काव्य में भी रसप्रतीति होती है, अतः 'अदोषौ' पद का अभिप्राय 'यथाशक्तिदोषराहित्य' होने पर भी लक्षण में इसका निबन्धन नहीं होना चाहिए।[२०]

नरसिंह कवि की काव्य-परिभाषा है—**'कविसमयानुरोधेन निबद्धौ शब्दार्थौ काव्यम्'** (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १४)। यह काव्य लक्षण की अपेक्षा काव्य की प्रशस्ति अधिक प्रतीत होती है। नरसिंह कवि मात्र कमनीय शब्द अथवा कमनीय अर्थ को काव्य नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि कुसुमसौरभ न्याय से शब्द और अर्थ मिलकर आह्लादजनक होते हैं।[२१]

काव्यलक्षण में 'कविसमयानुरोध' पद के समावेश से शब्द मात्र प्रधान वेद और अर्थमात्रप्रधान पुराणादि में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वेद व पुराण कविसमया-नुरोधी नहीं है। शब्दार्थ के साधारण होने पर भी कवि समय के अनुरोध से ग्रथित होने पर चमत्कृति उत्पन्न हो जाने के कारण उनमें काव्यत्व आ जाता है।

इस काव्यलक्षण से यह स्पष्ट नहीं होता कि काव्य में अलंकार, गुण, रस इत्यादि का क्या स्थान है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि नरसिंह कवि ध्वनिमार्ग के उपासक हैं क्योंकि उन्होंने 'कविसमय' में कविसम्प्रदाय में प्रचलित मान्यताओं के अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार का भी समावेश किया है।[२२] आगे चलकर आचार्य ने स्पष्ट रूप से सरस शब्दार्थ को काव्य कहा है।[२३] अतः हम कह सकते हैं कि कविसमयानुरोध निबन्धन में आचार्य का आग्रह विशेष रूप से सरसशब्दार्थ निबन्धन रहा है। यहाँ नरसिंह कवि कविराज विश्वनाथ से प्रभावित दिखायी देते हैं।

---

१९. कविनिर्वाह्यं काव्यम्। न ह्यर्थः कविना निर्वाह्यो, कामिनीचन्द्रचन्द्रिकादीनां ब्रह्मणैव निर्वाहितत्वात्। अपितु कविनिर्वाह्या पदगुम्फना। सैव काव्यम् (साहित्यसुधासिंधु, पृ० १२)

२०. अदोषाविति यथाशक्तिदोषहानम्, परं न तु लक्षणप्रविष्टम्, दुष्टेष्वपि रसोद्बोधात् (वही, पृ० १४)

२१. कुसुमसौरभन्यायेन सम्भूयाह्लादकारित्वात् (नञ्जराजयशोभूषण; पृ० १४)

२२. पर्वतमात्रे सिंहशरभा इत्यादि द्रव्यकल्पनम्, प्रतापशृंगारादौ अरुणत्वमित्यादि गुण-कल्पनम्, चकोरेषु चन्द्रिकापानमित्यादि क्रियाकल्पनम् व्यञ्जनारूपशब्दव्यापार-कल्पनञ्चेति कविसमयः (वही, पृ० १४)

२३. यल्लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेः सरसशब्दार्थसङ्घटनात्मकं कर्म तत् काव्यम् (वही, पृ० १४)

आचार्य राजशेखर के अनुसार कवियों द्वारा वर्णित अशास्त्रीय, अलौकिक और केवल परम्पराप्रचलित अर्थ को कविसमय कहते हैं।[२४] अन्य आचार्यों ने भी कवि समय की यही परिभाषा दी है और किसी ने भी कविसमय के अन्तर्गत व्यञ्जना व्यापार का समावेश नहीं किया है। कविसमय तो कविसम्प्रदाय में एक रूढ शब्द है। अतः नरसिंह कवि के द्वारा कविसमय में व्यञ्जना व्यापार का सन्निवेश चिन्त्य है।

वस्तुतः राजशेखरकृत कविसमय के लक्षण से यह परिभाषा अव्याप्तिदोषग्रस्त सिद्ध होती है, क्योंकि काव्य में उपर्युक्त कविसमय का प्रयोग अल्पमात्रा में ही उपलब्ध होता है। इस अव्याप्ति दोष से बचने के लिए ही नरसिंह कवि ने कविसमय के अन्तर्गत द्रव्य, गुण, क्रिया की कल्पना के अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार का भी समावेश किया है।

श्रीकृष्ण शर्मन् का काव्यलक्षण राजचूडामणि एवं नरसिंह कवि के काव्यलक्षणों का समन्वय है। वे दोषरहित, गुणयुक्त एवं सालंकार शब्दार्थ को काव्य कहते हैं किन्तु साथ ही साथ वह कविसमयानुरोध से निबद्ध होना चाहिए—

सालंकारगुणौ काव्यं शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
तथा कवीनां समयानुरोधेन निबन्धितम्॥
—मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १८६

सकल विशेषणों के प्रयुक्त होने पर भी आचार्य का कवि-समय से क्या अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है और प्रत्येक काव्य में कवि-समय का प्रयोग भी विभावनीय है। इस परिभाषा में भी राजचूडामणि दीक्षित की भाँति आचार्य मम्मट के 'सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः' कथन के 'सर्वत्र सालंकारौ' अंश को प्रायः आवश्यक तत्त्व के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

आचार्य विद्याराम भिन्न शब्दावली में राजचूडामणि दीक्षित के ही काव्यलक्षण को उपन्यस्त करते हैं—

यस्तु शब्दार्थसन्दर्भश्चमत्कारकरोऽनघः।
काव्यं तद् गुणवच्चान्यत्काव्याभासमुदीर्यते॥
—रसदीर्घिका, पृ० ५५

विद्याराम के अनुसार काव्य में चमत्कारजनकता रस और अलंकार से ही आती है तथा अनघ का तात्पर्य है शब्दार्थ का दोषहीन होना।[२५] इस प्रकार दोषरहित, सरस, सगुण एवं सालंकार शब्दार्थ गुम्फन को काव्य कहते हैं।

---

२४. अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः (काव्यमीमांसा, पृ० १९०)

२५. अत्र चमत्कारकरत्वं रसालंकारयुक्तत्वम्, अनघत्वं दोषरहितत्वम्।
—(रसदीर्घिका, पृ० ५५)

इस परिभाषा पर भोजराज का प्रभाव स्पष्ट है। आचार्य भोज ने भी दोषरहित, अलंकारयुक्त, गुणवत् और रसवत् वाक्य को काव्य कहा है। विद्यारामकृत लक्षण में 'गुणवत्' पद के योग से ही गुणों के रस का व्यञ्जक होने के कारण रस का भी समावेश हो जाता है। अतः चमत्कारकरत्व का अर्थ रसालंकारयुक्तत्व करना अधिक तर्कसंगत नहीं है। मात्र अलंकारयुक्तता का ही पृथक् निर्देश होना चाहिए।

प्रस्तुत परिभाषा में शब्दार्थ सन्दर्भ को काव्य कहा गया है। आचार्य के अनुसार शब्दार्थों को छन्दों के द्वारा गूँथने को सन्दर्भ कहते हैं।[२६] इस प्रकार छन्दोबद्ध विशिष्ट शब्दार्थयुग्म को काव्य कहते हैं। यह परिभाषा अव्याप्तिदोषग्रस्त है क्योंकि गद्यात्मक काव्य छन्दोहीन होने के कारण काव्य की कोटि में न आ सकेंगे।

चिरञ्जीव रामदेव भट्टाचार्य ने काव्यलक्षण के प्रसंग में मम्मट, शरदागम एवं अतिनवीन आचार्यों का मत प्रस्तुत किया है, किन्तु वे किस मत के पक्षपाती हैं इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अतिनवीन मत के ही पोषक हैं जिसका अन्त में उल्लेख है—

'अतिनवीनास्तु—विलक्षणचमत्कारकारित्वमेव काव्यत्वमामनन्ति' (काव्य-विलास, पृ० २)

भट्टाचार्य प्रभृति अतिनवीन अलंकारशास्त्री विलक्षण चमत्कार उत्पन्न करने वाले साहित्य को काव्य मानते हैं। आचार्य का 'विलक्षण चमत्कार' पद से क्या आशय है, यह स्पष्ट नहीं है। प्रथमतः इस परिभाषा में 'विलक्षण' विशेषण ही आपत्तिजनक है। सभी चमत्कार सामान्य से विलक्षण तो होता ही है, पुनश्च विशेषण का उपपादन व्यर्थ है। विशेषण तो सम्भव तथा व्यभिचारी होना चाहिए तभी सार्थक होता है। विलक्षण विशेषण सम्भव होने पर भी व्यभिचारी नहीं है। पुनश्च काव्य में यह विलक्षण आश्चर्य-कारिता अथवा विलक्षण आस्वादयुक्तता रस से आती है अथवा अलंकार से, यह भी स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः रस अथवा अलंकार कोई भी एक, काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ है। यदि रस से चमत्कार उत्पन्न होता है तो उसे ध्वनिकाव्य और यदि अलंकार से तो उसे चित्रकाव्य कहते हैं।

भट्टाचार्य का मत है कि यदि काव्य में विलक्षणचमत्कारकारित्व के साथ-साथ दोष की भी सत्ता है तो इससे काव्य की उपादेयता में कमी हो सकती है, किन्तु काव्य-स्वरूपता की हानि न होगी। ऐसी दशा में उसे दोषयुक्त काव्य ही कहा जायगा न कि अकाव्य।[२७] इस प्रकार भट्टाचार्य चमत्कार को ही काव्य का मुख्य लक्षण मानते हैं।

---

२६. छन्दोभिर्गुम्फना तेषां सन्दर्भः परिकीर्तितः

(वही, पृ० ५९)

२७. विलक्षणचमत्कारकारिणि दोषसत्त्वे दुष्टं काव्यमिति प्रयोगः। न तु नैतत्काव्यमिति (काव्यविलास, पृ० २)

उनका कहना है कि काव्य में रसादि की सत्ता होने पर भी यदि चमत्कार का अभाव हो तो सहृदयजनों को काव्य-प्रतीति नहीं होती।[२८]

अच्युत राय 'मोडक' दोषरहित एवं गुणयुक्त शब्दार्थयुगल को काव्य कहते हैं—

तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वे सति स्फुटम्।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम्॥

(साहित्यसार, पृ० ७)

अच्युत राय काव्य में दोषराहित्य को आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि यदि काव्य में एक भी दोष है तो उसका सगुण एवं सालंकार होना व्यर्थ है।[२९]

यहाँ प्रयुक्त गुण शब्द का अर्थ माधुर्यादि मात्र नहीं है। आचार्य ने यहां गुण शब्द का सामान्य अर्थ लिया है और माधुर्यादि को गुण पद से न कहकर धर्म पद से अभिहित किया है। इसीलिए आचार्य का कहना है कि काव्य में ६ गुण (उपादेय तत्त्व) होते हैं—धर्म, रस, लक्षण, रीति, अलंकार और वृत्ति। चूंकि ये सभी ६ तत्त्व रसिक सहृदयों को अह्लाद प्रदान करते हैं। इसलिए इन्हें गुण कहा गया है।[३०]

इस प्रकार माधुर्यादि धर्म, शृंगारादि रस, अक्षरसंहति आदि लक्षण, वैदर्भी आदि रीति, अनुप्रासादि अलंकार, मधुरादि वृत्ति रूपी गुणों से युक्त एवं दोषरहित शब्दार्थयुगल को काव्य कहते हैं। इस काव्यलक्षण पर जयदेव का प्रभाव स्पष्ट है।

आचार्य मम्मट ने भी काव्यलक्षण के उदाहरण की वृत्ति में 'रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता' कहा है। अतः सिद्ध है कि मम्मट के काव्यलक्षण में रस भी अन्तर्भूत है। इसी प्रकार 'अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः' कहने से स्पष्ट है कि कोई न कोई अलंकार गूढ़ रूप से विद्यमान है। अतः अच्युतराय का मन्तव्य है कि काव्यलक्षण में रस, अलंकार इत्यादि पदों का भी स्पष्ट रूप से समावेश होना चाहिये।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि गुण में अलंकार, रस इत्यादि का अन्तर्भाव कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि रसिकाह्लादकत्व रूप साधर्म्य के कारण गुणों में अलंकार इत्यादि का अन्तर्भाव कर दिया गया है। अच्युतराय के अनुसार मम्मट प्रभृति आचार्यों ने गुणों से पृथक् रूप में जो अलंकार का उपपादन किया है, उसका कारण अलंकारों की बहुलता तथा गुणों की सूक्ष्मता है।[३१]

---

२८. सत्यपि च रसादौ बिना विलक्षणचमत्कारमभिज्ञानां काव्यमिदमिति न प्रतीतिरपीति साधु वदन्ति (वही, पृ० ३)

२९. दोषे सति गुणैः किं वा किं वालंकरणैरपि।
अतो निर्दोषसाद्गुण्यमेवाद्रियतां बुधैः॥ (साहित्यसार, पृ० ८)

३०. धर्मा रसा लक्षणानि रीत्यलंकृतिवृत्तयः।
रसिकाह्लादका ह्येते काव्ये सन्ति च षड्गुणाः॥ (वही, पृ० ८)

३१. स्फीतदृष्टिष्वलंकारा गुणेभ्यः पृथगप्यलम्।
दृश्यन्ते तत्तु बाहुल्यात्तेषां तेषां च सौक्ष्म्यतः॥ (वही, पृ० १२)

सोमेश्वर शर्मा[३२] एवं बदरीनाथ झा[३३] सहृदयहृदय को आह्लादित करने वाले शब्दार्थ-युगल को काव्य मानते हैं। आचार्य आनन्दवर्धन को भी काव्य का यही लक्षण मान्य है। सहृदयहृदयाह्लाद केवल एक विशेषण मात्र से सालंकारत्व इत्यादि का संग्रह हो जाता है, क्योंकि तादृश शब्दार्थ से ही सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है। यदि काव्य के स्फुटालंकाररहित एवं सदोष होने पर भी सहृदयों को आनन्दानुभूति होती हो तो ऐसे काव्य का काव्यत्व भी इसी लक्षण से गतार्थ हो जाता है।

बालकृष्ण भट्ट शास्त्री सालंकार, सगुण, निर्दोष, सरस और लोकातिशायी भाव से भावित वाक्य को काव्य कहते हैं—

सालंकारं सगुणं दोषव्रातेन सर्वथा रहितम्।
सरसं काव्यरसज्ञैरुदीर्यते भावसुन्दरं ज्ञेयम्॥

(काव्यप्रबन्ध, पृ० ४)

आचार्य छज्जूराम शास्त्री 'विद्यासागर' शब्दमात्र में काव्यत्व का खण्डन करते हुये शब्दार्थोभय में काव्यत्व स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि आस्वादव्यञ्जकत्व ही काव्यप्रयोजक (निर्माता) है और वह शब्दार्थ में समान रूप से रहता है। इसके अतिरिक्त शब्दमात्र में काव्यत्व मानने पर शब्दनिष्ठ दोषादि का ही निरूपण साहित्य-शास्त्र में कर सकेंगे अर्थनिष्ठ दोषादि का नहीं, यह आपत्ति उपस्थित होगी। पुनश्च, शब्दार्थ उभय में काव्यत्व न मानने से 'साहित्यशास्त्र' नाम की संगति भी न हो सकेगी। अतएव वे रमणीयतासम्पन्न शब्दार्थ युगल को काव्य कहते हैं—

रम्यं शब्दार्थयुगलं काव्यमस्माभिरिष्यते (साहित्यबिन्दु, पृ० ४)

रमणीयता का तात्पर्य है अलौकिक (लोकोत्तर) आनन्दजनकता। यह रमणीयता बारम्बार उच्चारण द्वारा तथा अनुसन्धान (अर्थज्ञान) द्वारा सहृदयों के लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है। अलौकिकत्व का अर्थ है आनन्दनिष्ठ चमत्कारत्व। इस प्रकार काव्य का परिष्कृत लक्षण हुआ— चमत्कार विशिष्ट शब्दार्थ युगल।[३४]

अन्य लक्षणों की भाँति इस लक्षण में भी काव्यनिष्ठ चमत्कारोत्पादक तत्त्व का उल्लेख नहीं किया गया है। आचार्य ने ग्रन्थ में दोष, गुण एवं अलंकारों का निरूपण किया है। अतः कहा जा सकता है कि निर्दोष, सगुण एवं सालंकार शब्दार्थ युगल का काव्यत्व ही आचार्य को अभीष्ट है।

उपर्युक्त लक्षण की ही भाँति हरिदास सिद्धान्त वागीश भी काव्यलक्षण में

---

३२. सहृदयहृदयाह्लादकरौ शब्दार्थौ काव्यम् (साहित्यविमर्श, पृ० ३३)

३३. काव्यं तत्र सहृदयाह्लादकशब्दार्थयोर्युगलम् (साहित्यमीमांसा, Jha Commemoration Volume, Poona Oriental Series, 39, Pg. 11)

३४. एवं हि चमत्कारविशिष्टं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति फलितम्।
(साहित्यबिन्दु, पृ० ५)

निर्दोषत्व, सगुणत्व इत्यादि पदों का समावेश नहीं करते। उनके अनुसार मनोहारी शब्दार्थ समूह को काव्य कहते हैं—

मनोहारिणौ शब्दार्थौ काव्यम् (काव्यकौमुदी, पृ० ३)

चूंकि 'शब्द' पद से क्रियापद का भी आक्षेप हो जाता है अतः काव्य का परिष्कृत लक्षण है—मनोहारी शब्दार्थ घटित वाक्य।[३५] आचार्य हरिदास के अनुसार मनोहारित्व का तात्पर्य है सहृदयों को अह्लादित करने वाला तत्त्व और वह है रसमाधुर्य, अलंकार-सौन्दर्य, भाववैचित्र्य इत्यादि।[३६] इस प्रकार रस, अलंकार एवं भाववैचित्र्यादि सम्पन्न वाक्य ही काव्य के रूप में आचार्य को अभिमत है।

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी काव्य की परिभाषा दार्शनिक पृष्ठभूमि में करते हैं। उनका कहना है कि काव्य स्थूल नहीं है, भावात्मक है, ज्ञानात्मक है और उसका स्वरूप है 'अर्थ'। इस प्रकार काव्य ज्ञानरूप है और शब्दज्ञान बाह्य है अर्थात् शब्द उसके अन्तर्गत नहीं आता।[३७] शब्द में ज्ञानरूपता का अभाव होने के कारण वह काव्यस्वरूप नहीं हो सकता। उनका कहना है कि जिस प्रकार पानक रस के लिये पात्र उपाधि मात्र होता है उसी प्रकार शब्दज्ञान काव्य का उपाधि मात्र है।[३८] शब्द-कला काव्य का वाहनमात्र है। उसे काव्य कहना लाक्षणिक है। जिस प्रकार बिना शरीर के आत्मा नहीं रह सकती उसी प्रकार शब्द भी काव्य के लिये अत्यधिक आवश्यक है किन्तु वह काव्य नहीं हो सकता। शब्द (भाषा) परिवर्तन होने पर भी अर्थ वही रहता है। अतः वे मात्र अलंकृत अर्थ (के ज्ञान) को काव्य कहते हैं इस प्रकार न वे शब्द को काव्य मानते हैं, न अर्थ को और न ही शब्दार्थ-उभय को। उनके अनुसार विज्ञान (विशिष्ट प्रत्यय) मात्र ही काव्य है—

आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।
अलंकृतार्थसंवित्तिः कविता, सर्वमंगला॥

(काव्यालंकारकारिका, पृ० ५)

वेदान्त दर्शन में जीवात्मा के आनन्दांश को आनन्दकोष कहा गया है। उस आनन्द की प्रतीति के लिये अलौकिक विभावन (अर्थात् अपूर्व सृष्टि रूपी कार्य की

---

३५. मनोहारि-शब्दार्थघटितं वाक्यं काव्यमिति काव्यलक्षणम् (काव्यकौमुदी, पृ० ३)

३६. मनोहारित्वं च रसमाधुर्येणालंकारसौन्दर्येण भाववैचित्र्यादिना च रसिकाह्लादकत्वम् (वही, पृ० ३)

३७. काव्यस्य ज्ञानरूपत्वे शब्दत्वं नोपपद्यते (काव्यालंकारकारिका, पृ० ११४)

३८. ज्ञानात्मकोऽपि शब्दः स्यादुपाधि काव्यवर्त्मणि।
पात्रं रसे पानकाख्ये दर्पणे वा तनौ यथा॥

(वही, पृ० ६२)

आत्मवानर्थसंघातविज्ञानं काव्यमिष्यते।

(वही, पृ० ६४)

उत्पत्ति में अनाभृष्ट कारण) से युक्त अलंकृत अर्थ का ज्ञान ही कविता अथवा काव्य है। दूसरे शब्दों में कवि के संवित् को काव्य कहते हैं। यह काव्य सम्पूर्ण लोक का कल्याण-स्वरूप होता है। 'सर्वमंगला' पद के प्रयोग का आशय यह है कि यह काव्यलक्षण समस्त भाषाओं के काव्यों की परिभाषा है, जबकि अन्य आचार्यों की दृष्टि केवल संस्कृत काव्यों तक ही सीमित रही है।

काव्यलक्षण में 'अलंकृत' पद के सन्निवेश से काव्य की वेदादि एवं पुराणादि में अतिव्याप्ति नहीं होती। यहाँ संवित्ति शब्द का प्रयोग पुनरुक्ति है क्योंकि अर्थ तो ज्ञान-रूप ही होता है किन्तु भाव की स्पष्टि के लिये अर्थसंवित्ति कहना उचित है। इस अर्थ की उपाधि है 'अलंकार'। यहाँ यह ध्येय है कि आचार्य ने अलंभाव (पूर्णता) लाने वाले समस्त तत्त्वों—गुण, रस, अलंकार इत्यादि को अलंकार ही कहा है। आचार्य द्विवेदी ने कविकर्म की दृष्टि से काव्य की एक भिन्न परिभाषा की है—

प्रातिभी या कवेः सृष्टिः संविन्मात्रैकविग्रहा।
सैव काव्यकला, तत्र भाषा भवति दर्पणः॥

(पृ० १९०)

कवि की प्रतिभा से उत्पन्न सृष्टि को काव्य कहते हैं। यह ज्ञानस्वरूप होती है। एक अन्य स्थल पर सहृदय सामाजिक की दृष्टि से काव्य की परिभाषा करते हुये आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि जहाँ शब्द और अर्थ के द्वारा किसी भिन्न चमत्कारयुक्त अर्थ का बोध होता है, उसे काव्य कहते हैं...

ज्ञानात्मकेन शब्दाख्येनार्थेनार्थान्तरात्मकः।
यः कश्चन चमत्कारी बोधः काव्यं स उच्यते॥

(पृ० २००)

काव्यधर्म के प्रसंग में आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि पूर्णता से युक्त और विच्छित्ति से सम्पन्न ज्ञानविशेष ही काव्य है—

या चेषा पूर्णतायुक्ता संविन्नाम्नी नवा वधूः।
सैव विच्छित्तिसम्पन्ना कवितात्वं प्रपद्यते॥

(पृ० २४९)

आचार्य द्विवेदी ने पूर्णता का अर्थ दोषाभाव एवं समस्त अवयवों की अनवद्यता किया है।[39] किन्तु मात्र दोषरहितकाव्य सहृदयजनहारी नहीं हो सकता जब तक कि वह उपमादिविच्छित्ति से युक्त न हो। इस प्रकार इस काव्यलक्षण में दोषाभावत्व, गुणत्व एवं अलंकारत्व का ग्रहण हो जाता है, जो प्राचीन आलंकारिकसम्मत है।

---

३९. दोषाभावात्मा सर्वावयवानवद्यता हि पूर्णतेत्युक्तम्।

(वही, पृ २४९)

डा० ब्रह्मानन्द शर्मा सत्यानुभूति को काव्य की आत्मा मानते हैं। उनका कहना है कि काव्य में, सत्य अर्थ में रहता है और अर्थ में शब्द रहता है। अतएव काव्यस्वरूप में शब्दार्थ-उभय का समावेश होना चाहिये।[४०] वे आचार्य द्विवेदी के मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि शब्द के दो कार्य हैं। एक तो उच्चारण से भावानुकूल कठोरता, कोमलता इत्यादि की प्रतीति कराना, दूसरा अर्थबोध कराना। इसके अतिरिक्त, काव्य में अर्थबोध के अनन्तर शब्द पृथक् नहीं हो जाता अपितु काव्यानुभूति में उसकी बारम्बार उपस्थिति होती है।[४१] अतः शब्द काव्य से बहिर्भूत नहीं है।

डॉ० शर्मा काव्य में एक अभिनव तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। वह है—सत्य। उनका कहना है कि सत्य सभी का अभीष्ट होता है और काव्य में भी सत्य की स्थिति होती है। इस सत्य में सूक्ष्मता का आधान होने से प्रभावकारिता आती है। यही प्रभावकारिता ही काव्य में चमत्कार कहलाती है।[४२] यह काव्य सत्य एक व्यापक सिद्धान्त है, जिसमें शब्द, अर्थ अलङ्कार, व्यञ्जना, रस, गुण आदि समस्त तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है। उसके अनुसार शब्दार्थ में सत्य के रमणीय प्रतिपादन को काव्य कहते हैं—

शब्दार्थवर्ति सत्यस्य सुन्दरं प्रतिपादनम्।
काव्यस्य लक्षणं ज्ञेयं, सत्यस्यात्र विशेषता॥

(काव्यसत्यालोक, पृ० ७२)

डा० शर्मा का कहना है कि काव्य में जो रमणीयता की प्रतीति होती हैं, वह सत्यता की प्रतीति से युक्त होती है। सत्य के प्रति हमारा सहज आकर्षण होता है और यदि सत्य में सूक्ष्मता का आधान हो तो आकर्षणाधिक्य होगा। यही आकर्षणाधिक्य ही सत्य की सुन्दरता है।

यह काव्यलक्षण पाश्चात्य आलोचना के प्रवर्त्तक अरस्तू से प्रभावित प्रतीत होता है। अरस्तू ने भी काव्य में वास्तविकता अथवा सत्यता पर बल दिया है। उनका कहना है कि नाटक में लोक से असम्बद्ध घटनाओं का प्रदर्शन सर्वथा वर्जनीय होता है।

---

४०. सत्यमर्थगतं काव्ये, अर्थे शब्दस्य संस्थितिः।
शब्दार्थयोर्हि सद्भावात् अस्य साहित्यरूपता॥
(काव्य-सत्यालोक, पृ० १५)

४१. शब्दस्यैकं कार्यमस्ति स्वोच्चारणरूपतया प्रस्तुतभावानुकूलस्य कठोरता-कोमलादिकस्य प्रस्तुतिः, अपरञ्च कार्यमस्ति अर्थद्योतकता। किञ्च काव्येऽर्थद्योतनानन्तरं न हि शब्दस्य पृथग्भावोऽपितु काव्यानुभूतौ तस्य मुहुर्मुहुरुपस्थितिरिति न हि तस्य काव्याद् बहिर्भावः (वही, पृ० १५)

४२. सत्यं सर्वेषाममभीष्टमिति काव्येऽप्यस्य स्थितिः। अस्मिन् सत्ये सूक्ष्मतायां सत्यां प्रभावकारिताया आविर्भावः। एषा प्रभावकारितैव चमत्कारः (वही, पृ० १)

नाटक में वास्तविक दृश्यों का ही समावेश होना चाहिये।[४३] इस प्रकार अरस्तू का भी काव्य में सत्यता के प्रति आग्रह है।

पाश्चात्य जगत् में तो आधुनिक समय में भी काव्य के प्रसंग में सामाजिक सत्यता की पर्याप्त चर्चा हुई है, परन्तु लोक सत्य के व्यापक रूप में यह तत्त्व भारतीय काव्यशास्त्रियों को अज्ञात रहा हो, ऐसी बात नहीं। भरत मुनि ने 'यानि शास्त्राणि लोकधर्मंप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्' कहकर इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। काव्य-शास्त्र के औचित्य सम्प्रदाय के लोकव्यवहार इत्यादि तत्त्व स्पष्टत: लोकसत्य से सम्बन्धित हैं। अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत 'वासनात्मतया स्थितः रत्यादि:' तथा 'विभावादिविमर्शप्राधान्यम्' भी लोकसत्य से सम्बन्धित है।

मधुसूदन शास्त्री ने नव्य न्याय की भाषा में पण्डितराजकृत काव्यलक्षण का परिष्कार किया है—

रमणीयार्थविषयकप्रतीतिनिष्ठजन्यतानिरूपितानुपूर्वीविशेषावच्छिन्नशब्दधर्मिक-ज्ञाननिष्ठजनकतावच्छेदकीभूतविषयताश्रयवर्णत्वव्यापकसमुदायत्वनिष्ठन्यूनवृत्तित्वानि-रूपकं यत् रमणीयार्थविषयकप्रतीतिजनकतावच्छेदकीभूत-वर्णत्वव्यापक-समुदायत्व-निरू-पित-पर्याप्तिसम्बन्धावच्छिन्नाश्रयत्वं काव्यत्वम् (रसगंगाधरालोचन, पृ० ७)

यहाँ भी रमणीय अर्थ के विषय की प्रतीति कराने वाले वर्ण समुदायरूप श्लोक को ही काव्य कहा गया है। रमणीयार्थविषयक प्रतीति तो जन्य (कार्य) है और इसका जनक (कारण) है आनुपूर्वी विशेष वाला शब्द ज्ञान। इस ज्ञान में रहने वाली जनकता-रूप विषयता अवच्छेद्य है और जनकता का अवच्छेदक भी विषयता है (यहाँ विषयिता-निरूपित विषयता है अर्थात् निरूपकतात्वेन विषयता में अवच्छेद्यता है और स्वरूप-सम्बन्धविशेषत्वेन विषयता में अवच्छेदकता भी है)। इस विषयता का आश्रय काव्यगत श्लोकरूप व्यापक समुदाय होता है। स्वरूप सम्बन्ध से यह समुदायत्व प्रत्येक वर्ण में रहता है। अत: समुदाय में रहने वाला धर्म प्रत्येक वर्ण में रहने से वह धर्म अतिव्याप्त हो जायेगा तब अतिव्याप्ति दोष होगा। इस दोष के निवारणार्थ स्वरूप सम्बन्ध की जगह पर्याप्ति सम्बन्ध का निवेश किया गया है।

उपर्युक्त काव्यलक्षणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि पण्डितराजोत्तर-वर्ती काल में युग चेतना का ध्यान रखते हुए, उसे आत्मसात् करते हुये काव्य के स्वरूप का विवेचन नहीं किया गया। अधिकतर आचार्यों ने दण्डी, मम्मट एवं पण्डितराज प्रभृति आचार्यों की सरणि का ही अनुसरण किया। यही कारण है कि आधुनिक युग में मौलिकता का अभाव-सा दिखाई देता है।

---

४३. The poet should remember to put the actual scenes as for as possible before his eyes·········he will devise what is appropriate, and be least likely to overlook in Congruities.

—उद्धृत, भारतीय साहित्यशास्त्र (भाग २)—बलदेव उपाध्याय, पृ० ८३

## काव्यहेतु

प्राचीनकाल से ही कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने की चेष्टा दृष्टिगोचर होती है। वे कौन-कौन से तत्त्व (उपकरण) हैं जो काव्य-निर्माण में सहायक होते हैं, इस पर आचार्यों ने अनेक प्रकार से चिन्तन किया है। कुछ आचार्य काव्यरचना का एक मात्र कारण समाधि मानते हैं। उनका कहना है कि समाहित चित्त में ही भिन्न-भिन्न अर्थों का स्फुरण होता है।[४४] कुछ आलङ्कारिक काव्य-निर्मिति में केवल प्रतिभा अथवा शक्ति को ही कारण मानते हैं तो कुछ केवल व्युत्पत्ति अथवा निपुणता और कुछ आचार्य केवल अभ्यास को ही काव्य का कारण मानते हैं। कुछ आचार्यों ने इनमें से दो की तो कुछ ने इन तीनों की समष्टि को काव्य-हेतु स्वीकार किया है। कुछ आचार्य शक्ति अथवा प्रतिभा को मुख्य कारण मानते हैं और व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को सहकारी। इनका मत है कि व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से शक्ति अथवा प्रतिभा का विकास होता है। इसी प्रकार कुछ लोग प्रतिभा को काव्य का साक्षात् कारण तथा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को प्रतिभा का कारण मानते हुए काव्य के प्रति परम्परया कारण मानते हैं। अब संक्षेप में इसी काव्य हेतु परम्परा पर विचार किया जाता है।

आचार्य भामह के अनुसार वही व्यक्ति काव्य-रचना कर सकता है जिसमें प्रतिभा होती है।[४५] इस प्रकार काव्य और प्रतिभा में कार्य-कारण भाव स्पष्ट है। दण्डी काव्य के प्रति नैसर्गिक प्रतिभा के साथ-साथ निर्मल शास्त्र ज्ञान (व्युत्पत्ति) और अमन्द अभियोग (निरन्तर अभ्यास) की कारणता भी मानते हैं।[४६] आचार्य वामन प्रतिभा को कवित्व का मूल कारण मानते हुये भी कारण-चक्र की कल्पना करते हैं। वामन ने लोक, विद्या और प्रकीर्ण को काव्य-साधन माना है।[४७] लोक का तात्पर्य लोकवृत्त से है और विद्या के अन्तर्गत कोश, छन्द, कला, काम, दण्डनीति इत्यादि उपविद्याओं का भी समावेश है। प्रकीर्ण के अन्तर्गत लक्ष्यज्ञत्व (काव्यज्ञान), अभियोग (अभ्यास), वृद्ध-सेवा, अवेक्षण, प्रतिभा एवं अवधान (समाधि) का परिगणन किया गया है। आचार्य

---

४४. मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि च पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥
(काव्यलाङ्कार, पृ० ११)

४५. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः (काव्यालङ्कार)

४६. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥
(काव्यादर्श, पृ० ७८)

४७. कवित्वबीजं प्रतिभानं। कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजं। जन्मान्तरगतसंस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद् बिना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्। लोको विद्या प्रकीर्णं च काव्यांगानि। (काव्यालङ्कारसूत्राणि, पृ० ३५)

रुद्रट प्रतिभा के स्थान पर शक्ति पद का प्रयोग करते हैं और शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तीनों को काव्यहेतु मानते हैं।[४८]

आचार्य आनन्दवर्धन प्रतिभा को ही काव्योत्पत्ति का मूल कारण मानते हैं। प्रतिभा के होने पर ही व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य-निर्माण में सहायक हो सकते हैं अन्यथा नहीं। उनका कहना है कि काव्य निर्माण के लिए बुद्धि-विशेष (प्रतिभा) अपेक्षित है किन्तु काव्यविशेष के निर्माण के लिए शक्त्यादित्रय।[४९] अभिनवगुप्त ने भी इसीलिए स्पष्ट रूप से प्रतिभा को काव्य की जननी कहा है। रीति, अलङ्कार इत्यादि भले ही व्युत्पत्ति और अभ्यास से उत्पन्न होते हैं। उन्होंने शक्ति को प्रतिभास्वरूप ही स्वीकार किया।[५०]

आचार्य राजशेखर उपर्युक्त हेतुओं से कुछ भिन्न हेतु मानते हैं। वे शक्ति को काव्य का हेतु मानते हैं और समाधि एवं अभ्यास को शक्ति का हेतु मानते हैं। उनका कहना है कि समाधि (मानस प्रयास) और अभ्यास (बाह्य-प्रयास) से शक्ति प्रकट होती है और शक्ति से प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति उत्पन्न होती है।[५१] आचार्य हेमचन्द्र भी प्रतिभा को ही मुख्य कारण मानते हैं। उनका मत है कि व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से प्रतिभा का संस्कार होता है।[५२]

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यहेतु विवेचन में समस्त प्राचीन आलङ्कारिकों का सामंजस्य उपस्थित किया। उन्होंने प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के स्थान पर क्रमशः शक्ति तथा निपुणता का प्रयोग किया एवं शक्ति का साक्षात् तथा व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को परम्परया कारण मानने के स्थान पर तीनों की समष्टि को साक्षात् काव्यहेतु स्वीकार किया।[५३] मम्मट ने वामन के लोक और विद्या का 'निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्' में अन्तर्भाव कर लिया तथा प्रकीर्ण में से प्रतिभा (शक्ति) को पृथक् हेतु माना एवं वृद्ध-सेवा' काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास' में अन्तर्भाव कर लिया। इस प्रकार मम्मट ने शक्ति के

---

४८. तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुण करणे।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः॥ (काव्यालङ्कार, पृ० ९)

४९. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या विशेषो रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्य-निर्माणक्षमत्वम्।

५०. शक्तिः प्रतिभानं वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्वम्।

५१. समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी।
(काव्यमीमांसा, पृ० २७)

५२. प्रतिभास्य हेतुः व्युत्पत्त्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कारकारकाविति।
(काव्यानुशासन, पृ० ५-६)

५३. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ (काव्यप्रकाश, पृ० १७)

साथ-साथ निपुणता एवं अभ्यास पर भी बल दिया किन्तु शक्ति की मुख्यता उन्हें भी मान्य है।

जयदेव भी मम्मट की ही भाँति प्रतिभा, श्रुत (निपुणता) एवं अभ्यास तीनों को चक्र-चीवर न्याय से काव्यकारण मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार मिट्टी एवं जल से मिलकर बीज, लता का कारण होता है उसी प्रकार निपुणता एवं अभ्यास से सहित प्रतिभा ही काव्य-कारण होती है।[५४]

आचार्य विश्वनाथ ने काव्यहेतु का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है। सम्भवत: वे इस विषय पर मम्मट से सहमत हैं, किन्तु अग्निपुराण के उद्‌धृत पद्य[५५] से ऐसा प्रतीत होता है कि वे काव्यनिर्माण में शक्ति को ही मुख्य हेतु के रूप में स्वीकार करते हैं।

पण्डितराज के अनुसार काव्य का कारण केवल प्रतिभा ही है और प्रतिभा का स्वरूप है—काव्यरचना के अनुकूल शब्दार्थ-उभय की उपस्थिति (ज्ञान)।[५६] अभ्यासादि प्रतिभा के कारण हैं। स्थल भेद से प्रतिभा के दो कारण हैं—कहीं देवता या महापुरुष इत्यादि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति एवं अभ्यास।

पण्डितराजोत्तरवर्ती आचार्य प्रायः मम्मट सम्मत शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों की समष्टि को ही काव्यहेतु स्वीकार करते हैं।

राजचूडामणि दीक्षित शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास तीनों की समष्टि को काव्य का हेतु मानते हैं।

एवं च शक्तिर्निपुणताभ्यास इत्येते त्रयः समुदिताः काव्यस्य निर्माणे तस्य रसाभिव्यंजकतया चमत्कारे सामग्री। व्यस्तास्तु न सामग्री, किं तु स्वरूपयोग्या इत्यर्थः
(काव्यदर्पण, पृ० ९)

आचार्य दीक्षित के मत में कवित्व बीजभूत ज्ञान-विशेष को शक्ति कहते हैं जिससे अक्लिष्ट पद और पदार्थ का बोध होता है।[५७] शक्ति के अभाव में भी यत्र-तत्र काव्य-रचना दृष्टिगत होती है, अतः व्यभिचार के कारण शक्ति को काव्य-हेतु नहीं स्वीकार करना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए दीक्षित कहते हैं कि मात्र काव्यरचना ही कवित्व नहीं है, अपितु रसोत्पत्ति के अनुकूल काव्यरचना ही कवित्वरूप में स्वीकृत है और ऐसी

---

५४. प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव॥ (चन्द्रालोक, पृ० ६)

५५. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

५६. काव्यस्य कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः (रसगंगाधर, पृ० ४६-४८)

५७. अक्लिष्टपदपदार्थस्मरणहेतुः कवित्वबीजभूतो बुद्धिविशेषः शक्तिः
(काव्यदर्पण, पृ० ७)

रचना शक्ति के अभाव में सम्भव नहीं है।[५८] अतः शक्ति काव्य का हेतु है। मम्मट ने शक्ति को कवित्व-बीजभूत संस्कार-विशेष कहा है और दीक्षित शक्ति को बुद्धि-विशेष कहते हैं।

आचार्य दीक्षित निपुणता को संस्कार-विशेष मानते हैं। उनका कहना है कि लोक वृत्तान्त इत्यादि के आलोचन से व्युत्पत्ति आती है और व्युत्पत्ति के अवधारण से जो दृढ़तर संस्कार-विशेष उत्पन्न होता है उसे निपुणता कहते हैं।[५९] अभ्यास के सन्दर्भ में उनका कहना है कि पूर्वकालीन जन्मों का अभ्यास उत्तरोत्तरकालीन जन्म में काव्य का हेतु होता है। अभ्यास पद से यहाँ काव्यार्थ के उन्नयन का अभ्यास ही अभिप्रेत है।[६०] कुछ आचार्य काव्य रचना में पौनः पुन्येन प्रवृत्ति मात्र को अभ्यास मानते हैं।

आचार्य रीक्षित अनुपहसनीय काव्य के प्रति हेतुत्रय की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं, अन्यथा न्यूनाधिक हेतुओं की कल्पना की जा सकती है।

आचार्य विद्याराम ग्यारह तत्त्वों की समष्टि को काव्य का हेतु स्वीकार करते हैं—

काव्यस्य करणे हेतुश्चैतेऽर्थाः संगता मताः।
देवतोपासनं पूर्वसंस्कारस्तीव्रबुद्धिता।
द्वित्रव्याकरणज्ञानं त्रिचतुःकोशसंस्तवः ॥
शास्त्रज्ञानं सर्वलोकव्यवहारप्रवीणता।
काव्यावलोकः काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास उत्कटः ॥
प्रातःकालादिकः कालस्तदैकासक्तचित्तता।
एते सम्मिलिताः काव्यहेतुर्व्यस्ता न कर्हिचित् ॥

(रसदीर्घिका, पृ० ५६)

देवाराधन, पूर्व जन्म का संस्कार तीक्ष्णबुद्धि, व्याकरण-ज्ञान, कोशज्ञान, शास्त्र-ज्ञान, समस्त लोकव्यवहार में कुशलता, काव्यों का अनुशीलन, काव्यज्ञों की शिक्षा से उत्कृष्ट अभ्यास, प्रातःकालादि समय, काव्य-कारण में एकाग्र मन—ये समस्त तत्त्व मिल कर काव्य-हेतु होते हैं, प्रत्येक अलग-अलग नहीं।

आचार्य विद्याराम के ये ग्यारह काव्यहेतु मम्मट के हेतुत्रय में अन्तर्भूत हो सकते हैं। मम्मट ने जिसे शक्ति कहा है, विद्याराम उसे ही पूर्वसंस्कार एवं तीव्र बुद्धि कहते हैं। तीव्र बुद्धि का आशय नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से ही तो है। इसी प्रकार मम्मट ने

---

५८. न च तां विनापि रचनोदये व्यभिचारान्न तस्या हेतुत्वमिति वाच्यम्। न हि रचनामात्रं कवित्वं, किं तु रसोत्पत्त्यनुकूला रचना, सा च तां विना नोदेत्ये-वेति न व्यभिचारः (वही, पृ० ७,८)

५९. ततश्च लोकवृत्तान्तादीनामालोचनादुपार्जितो व्युत्पत्तिपदाभिधेयस्तदवधारण-जनितदृढतरसंस्कारविशेषो निपुणता (वही, पृ० ८)

६०. काव्यार्थोन्नयनाभ्यासोऽत्र अभ्यासत्वेन अभिमतः (वही, पृ० ९)

व्याकरण ज्ञान, कोश-ज्ञान, शास्त्र-ज्ञान एवं लोकव्यवहार, इन सबका निपुणता के अन्तर्गत ही परिगणन किया है। काव्यालोक और काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास को मम्मट ने एक ही पद काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास में कह दिया है। जहाँ तक देवतोपासन का सम्बन्ध है इससे चित्त में निर्मलता आती है, प्रतिभा का उदय होता है। कुछ कवियों ने देवकृपा के फलस्वरूप ही काव्यों की रचना की। प्रातःकालादि समय तो काव्य का सामान्य हेतु है। किसी भी साहित्य-रचना के प्रति समय की कारणता तो सुस्पष्ट है। मम्मट ने एकाग्रचित्तता की ओर संकेत नहीं किया है।

चिरञ्जीव भट्टाचार्य प्रतिभा को काव्य का मुख्य हेतु मानते हैं किन्तु इसके साथ-साथ श्रवण अर्थात् निपुणता और अभ्यास भी अत्यावश्यक है—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविताकरी।
(काव्यविलास,)

प्रतिभा के अभाव में काव्यरचना असम्भव है और इसके विपरीत कभी-कभी काव्यज्ञ से श्रवण और अभ्यास के बिना भी देव-प्रसाद से प्राप्त प्रतिभा से भी काव्यनिर्मिति हो जाती है।[६१] इस प्रकार भट्टाचार्य प्रतिभा को प्रधान एवं श्रवण व अभ्यास को गौण हेतु मानते हैं। यही हेतु-चिन्तन जयदेव का भी है।

आचार्य अच्युतराय ईश्वर, सद्गुरु, महापुरुष इत्यादि की कृपा और शास्त्रानुशीलन एवं अभ्यासादि को काव्यहेतु मानते हैं—

तद्धेतुस्तत्स्वरूपानुकूला शब्दाद्युपस्थितिः।
सा देवतादिकृपया शास्त्राभ्यासादितोऽथवा॥
(साहित्यसार, पृ० २१)

तात्पर्य यह है कि काव्य का स्वरूप जो अच्युतराय को अभिमत है उसके अनुकूल शब्द एवं अर्थ की स्फूर्ति या तो देवादि की कृपा से होती है अथवा शास्त्र-आलोचन, काव्यज्ञ-शिक्षयाभ्यास एवं लौकिक कौशलादि के द्वारा हुआ करती है। इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि अच्युतराय ईश्वरादि की कृपा को काव्य का प्रमुख कारण स्वीकार करते हैं। ईश्वरादि की कृपा के फलस्वरूप प्रतिभा का ही उदय होता है। अतः केवल प्रतिभा से ही काव्यरचना सम्भव है और प्रतिभा के अभाव में निपुणता एवं अभ्यास के द्वारा भी काव्यनिर्माण हो सकता है। प्रतिभारचित काव्य उत्तमकोटि का एवं शास्त्राभ्यासादि-रचित काव्य मध्यम कोटि का होगा। इस काव्य हेतु पर पण्डितराज का प्रभाव अति स्पष्ट है।

छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर काव्य के प्रति व्युत्पत्ति (बोध), शक्ति (संस्कार-विशेष) और अभ्यास की तुल्य कारणता स्वीकार करते हैं—

---

६१. क्वचिद् विनापि श्रुताभ्यासौ देवताप्रसादादिनोत्पन्नप्रतिभया काव्योदयादिदं प्रायिकपरम् (काव्यविलास)

तस्य काव्यस्य निर्माणे समुल्लासे प्रचारणे।
व्युत्पत्तिः शक्तिरभ्यासः त्रयं हेतु र्न हेतवः।।
(साहित्यबिन्दु, पृ० १२)

पण्डितराजसम्मत प्रतिभामात्र की कारणता का खण्डन करते हुए आचार्य विद्यासागर कहते हैं कि इससे 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' इस श्रुति और मम्मटादि से विरोध आता है। अतः मात्र प्रतिभा को ही काव्य-कारण मानना उचित नहीं है। आचार्य विद्यासागर इस श्रुति की स्वानुकूल व्याख्या करते हैं—स्वतःसिद्ध शक्तिमान् को स्वयम्भू, सर्वार्थसम्बन्धि ज्ञानवान् को परिभू और सर्वविषयक मननशील को मनीषी कहते हैं। एवंभूत विशेषण विशिष्ट कवि ही काव्यकर्त्ता हो सकता है। अतः सिद्ध है कि शक्ति आदि तीनों मिल कर ही काव्य कारण हैं, न केवल प्रतिभा।[६२]

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी काव्य के प्रति प्रतिभा की कारणता ही स्वीकार करते हैं। प्रतिभा की तुलना मेघस्थ विद्युत् से करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार मेघ के अन्दर विद्युत् चमकती है उसी प्रकार बुद्धि के अन्दर कभी-कभी अदृष्टचर एवं अपूर्व-कल्पित अर्थ का दर्शन होता है। इसी अर्थप्रतिभासन को प्रतिभा कहते हैं—

कारणं प्रतिभा काव्ये, सा चार्थप्रतिभासनम्।
प्रज्ञा कादम्बिनी गर्भे विद्युद्द्योतसोदरम्।।
(काव्यालंकारकारिका, पृ० १)

यह प्रतिभा अर्थ का प्रतिभासन कराने वाला बुद्धिगत एक गुण-विशेष है।[६३] यह दो प्रकार की होती है—स्वयम्भू एवं सहेतु। आदि कवि में स्वयम्भू प्रतिभा है और कालिदासादि अन्य कवियों में सहेतु।[६४] आचार्य द्विवेदी के मत में सहेतु प्रतिभा के तीन कारण (असाधारण कारण) होते हैं—अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास।[६५] आचार्य मम्मट इन तीनों को काव्य के प्रति कारण मानते हैं और पण्डितराज इन तीनों को प्रतिभा के

---

६२. यत्तु तैलङ्गपुङ्गवो रसगंगाधरकारः काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिरूपां कवि-गतां प्रतिभामेव केवलं काव्यस्य कारणमाह— तन्न। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू' रिति श्रुतिप्रतिकूलत्वान्मम्मटादिसकलप्राचामर्वाचां च ग्रन्थैर्विरुद्धत्वाच्च। स्वयम्भूः —स्वतःसिद्धशक्तिमान्, परिभूः—सर्वार्थज्ञानवान्, मनीषी—मननशीलः, कविः— काव्यकर्त्ता भवतीति श्रुत्यर्थः। (साहित्यबिन्दु, पृ० १२-१३)

६३. अर्थप्रतिभासयिता बुद्धिगतो गुणविशेषः प्रतिभा
(काव्यालंकारकारिका, पृ० १)

६४. स्वयम्भूश्च सहेतुश्चेत्यसौ लोके द्विधा स्थिता।
आदिमाऽऽदिकवौ दृष्टा द्वितीयान्यत्र दृश्यते।। (वही, पृ० १५)

६५. द्वितीया या भवन्त्यत्र करणानि बहून्यपि।
कारणं तु भवत्यत्र सत्त्वोद्रेको हि केवलः।। (वही, पृ० १७)

प्रति कारण मानते हैं, किन्तु आचार्य द्विवेदी इन तीनों को प्रतिभा के प्रति करण स्वीकार करते हैं। प्रतिभा का हेतु तो वस्तुतः केवल सत्त्वगुण का उद्रेक ही है।

काव्य निर्माण का अभ्यास भी ज्ञानरूप व्युत्पत्ति ही है अथवा काव्य-रचना में पौनः पुन्येन प्रवृत्ति को अभ्यास कहते हैं। यह प्रवृत्ति व्युत्पत्ति के प्रति और व्युत्पत्ति प्रतिभा के प्रति कारण है।[६६]

आचार्य द्विवेदी शक्ति के दो भेद स्वीकार करते हैं-- जन्मान्तरीय और महापुरुषादि के प्रसाद से उत्पन्न। इसी प्रकार व्युत्पत्ति भी दो प्रकार की होती है--विविध कोष, कला आदि के ज्ञान से उत्पन्न और काव्य-निर्माण के अभ्यास से उत्पन्न कुशलता-स्वरूप। आचार्य द्विवेदी के अनुसार प्रतिभा ही काव्य का उपादान और निमित्त दोनों कारण है क्योंकि प्रतिभा के गर्भ में ही काव्य की सत्ता रहती है।[६७]

सिद्धिचन्द्र गणि भी केवल शक्ति को ही काव्य का हेतु मानते हैं। उनका कहना है कि चूंकि डिम्भादि में भी काव्य का उद्भव देखा जाता है जबकि उसमें निपुणता और अभ्यास का सर्वथा अभाव होता है अतः काव्य के प्रति मात्र शक्ति की कारणता स्वीकार करनी चाहिए।[६८]

डा० ब्रह्मानन्द शर्मा काव्य के दो हेतु स्वीकार करते हैं—शक्ति और श्रम। उनके अनुसार शक्ति सामान्य तो सब में होती है किन्तु यह शक्ति-विशेष है जो केवल कवि में होती है। इसी को प्रतिभा कहते हैं। शक्ति का परिस्फुरण श्रम के माध्यम से ही होता है। शक्ति वैसे तो संस्कार विशेष है, किन्तु सतत श्रम से भी शक्ति की अंशतः प्राप्ति सम्भव है। अतः शक्ति के प्रधान होने पर भी श्रम उपेक्षणीय नहीं है---

शक्तिः श्रमश्च काव्यस्य, कारणमिति मे मतिः।
शक्तिरत्र प्रधाना स्यात्, श्रमस्याप्युपयोगिता॥

(काव्यसत्यालोक, पृ० ७५)

आचार्य शर्मा शक्ति और श्रम की समष्टि की काव्य के प्रति कारणता स्वीकार करते हैं, किन्तु निपुणता अथवा व्युत्पत्ति का उल्लेख नहीं करते। सम्भवतः वे श्रम के अन्तर्गत अभ्यास एवं श्रम के द्वारा अर्जित लोकशास्त्रादि ज्ञानरूपी निपुणता का अन्तर्भाव कर लेते हैं।

---

६६. काव्यकरणाभ्यासस्यापि व्युत्पत्तिमेव ज्ञानत्वरूपम्। यदि वा अभ्यासः पौनःपुन्येन प्रवृत्तिः। सा च व्युत्पत्तिं प्रति व्युत्पत्तिश्च शक्तिवदेव प्रतिभां प्रति करणमिति शक्तिरदृष्टरूपा व्युत्पत्तिश्चेत्येतद्द्वयस्यैव कारणत्वम्। (वही, पृ० २०)

६७. उपादानं निमित्तं च काव्याय प्रतिभैव सा।
द्वितयं गर्भमात्रे यत् तस्यास्तिष्ठति तत् सदा॥ (वही, पृ० २२)

६८. अत्र तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे समुल्लासे त्रयः शक्तिनिपुणताऽभ्यासा हेतुरित्युक्तम्। तदपि तुच्छम्। डिम्भादावपि काव्योद्भवदर्शनात्, शक्तेरेव हेतुत्वात्।
(काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० २)

## काव्यप्रयोजन

प्रायः सभी भारतीय साहित्य में अनुबन्ध चतुष्टय---अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन---का निरूपण किया गया है । इस अनुबन्ध चतुष्टय में से प्रयोजन का मुख्य स्थान है, क्योंकि प्रयोजन ही प्रवृत्ति का कारण होता है ।

प्राचीनकाल से ही काव्यशास्त्र के रचयिताओं ने काव्यरचना के प्रयोजनों पर विचार किया है । चूंकि काव्यशास्त्र काव्य का ही अंग है इसलिए आचार्यों ने काव्य एवं काव्यशास्त्र दोनों के प्रयोजनों में समानता स्वीकार की है और इसमें एक मुख्य बात यह है कि काव्य में कवि के प्रयोजन एवं काव्य-रसिक के प्रयोजन में प्रायः एकरूपता स्वीकार की गयी है ।

आद्य आचार्य भरत ने नाट्य अथवा काव्य का प्रमुख प्रयोजन धर्म, यश, आयु एवं सुख की प्राप्ति, बुधिवर्धन, हितोपदेश इत्यादि माना है ।[६९] आचार्य भामह ने विस्तार के साथ काव्यप्रयोजन पर विचार किया है । उनके अनुसार उत्तम काव्य की रचना से कीर्ति और प्रीति (आनन्द) के साथ ही साथ पुरुषार्थचतुष्टय और सकल कलाओं में निपुणता भी प्राप्त होती है ।[७०] । भामह के इस काव्यप्रयोजन को प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने अंशतः अथवा पूर्णतः स्वीकार किया है ।

आचार्य वामन भामहोक्त प्रयोजनों में से केवल दो को ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार करते हैं—दृष्ट प्रयोजन (प्रीति) एवं अदृष्ट प्रयोजन (कीर्ति) ।[७१] वस्तुतः काव्य के ये दो ही मुख्य प्रयोजन हैं—कवि की दृष्टि से यश प्राप्ति एवं सहृदय की दृष्टि से आनन्द-प्राप्ति । आनन्दवर्धन ने प्रीति को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है ।[७२] अभिनवगुप्त ने भी 'तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्' कह कर इसी का समर्थन किया है । हाँ, इतना अवश्य है कि आनन्दवर्धन की प्रीति अलङ्कार अथवा रीति से उत्पन्न नहीं हो सकती, यह तो सहृदयहृदयसंवेद्य है । भट्टनायक ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि

---

६९. उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदेशजननं धृति-क्रीडा-सुखादिकृत् ।।
दुःखार्तानां क्षमार्त्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।। (नाट्यशास्त्र)

७०. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।। (काव्यालंकार)

७१. काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् (काव्यालङ्कारसूत्र, पृ० २)

७२. तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् (ध्वन्यालोक १/१)

काव्य का प्रयोजन केवल रसानुभूति है, अन्य कुछ भी नहीं।[७३]

आचार्य रुद्रट ने भामह का अनुसरण करते हुए चतुर्वर्ग प्राप्ति ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।[७४] कुन्तक धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय के साथ-साथ हृदयाह्लादकारकत्व भी काव्य का प्रयोजन मानते हैं। उनके अनुसार काव्य से अभिजात कुल में उत्पन्न राजकुमार इत्यादि को सरलता से पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त काव्य से व्यवहार ज्ञान एवं आनन्दानुभूति रूप चमत्कार की प्राप्ति होती है।[७५]

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त सभी मतों का समन्वय करते हुए सर्वप्रथम प्रयोजन-षट्क का निरूपण किया,[७६] जिसका परवर्ती आचार्यों पर व्यापक प्रभाव पड़ा, किन्तु मम्मट का भी विशेष आग्रह 'सद्यः परनिर्वृति' (प्रीति) पर ही है। उन्होंने आनन्दानुभूति को सकलप्रयोजनमौलिभूत कहा। मम्मट ने यशः प्राप्ति (कीर्ति), अर्थ रूपी पुरुषार्थ की प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान रसानुभूति एवं कान्तासम्मित उपदेश के अतिरिक्त अमंगल नाश रूपी नवीन काव्यप्रयोजन की कल्पना की।

कविराज विश्वनाथ ने सर्वप्रथम कवि और सहृदय के अतिरिक्त काव्यशास्त्री (आलङ्कारिक) के लिये भी काव्य प्रयोजन रूप से पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का उल्लेख किया। विश्वनाथ के अनुसार शास्त्र से पुरुषार्थों की प्राप्ति दुःखमय है और सबके लिए सम्भव नहीं है किन्तु काव्य के माध्यम से चतुर्वर्ग की प्राप्ति सुखसाध्य है।[७७]

आचार्य हेमचन्द्र प्रयोजन-षट्क में से तीन प्रयोजन स्वीकार करते हैं—आनन्द प्राप्ति, यशः प्राप्ति एवं कान्तासम्मित उपदेश प्राप्ति।[७८] पण्डितराज कीर्ति, परमाह्लाद,

---

७३. काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् (ध्वन्यालोक-लोचन पृ० ६५)

७४. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥ (काव्यालङ्कार)

७५. धर्मादिसाधनोपायः सकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ (वक्रोक्तिजीवित, पृ० १०-१४)

७६. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥ (काव्यप्रकाश, पृ० १०)

७७. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव·········॥
(साहित्यदर्पण, पृ० २)

७८. काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्योपदेशाय च (काव्यानुशासन)

गुरु, राजा एवं देवताओं की प्रसन्नता, विद्या, धन-लाभादि को काव्य-प्रयोजन मानते हैं।[७९]

अग्निपुराणकार नाट्य अथवा काव्य का प्रयोजन पुरुषार्थ-चतुष्टय न मानकर पुरुषार्थत्रय—धर्म, अर्थ और काम—ही मानते हैं।[८०]

पण्डितराजोत्तर आचार्य काव्यप्रयोजन-विचार के प्रति प्रायः उदासीन से दिखायी देते हैं। नरसिंह कवि, चिरञ्जीव भट्टाचार्य, प्रभृति आचार्यों ने तो काव्य प्रयोजन का उल्लेख नहीं किया है। फिर भी कुछ आचार्यों ने काव्यप्रयोजन प्रतिपादन की परम्परा की रक्षा की।

आचार्य राजचूडामणि दीक्षित मम्मटसम्मत काव्यप्रयोजन ही स्वीकार करते हैं।[८१] श्रीकृष्ण कवि प्रयोजन-षट्क के स्थान पर काव्य के पाँच प्रयोजन ही अंगीकार करते हैं। उन्होंने मम्मट के 'व्यवहारविदे' प्रयोजन का उल्लेख नहीं किया है।[८२] आचार्य विद्याराम कीर्त्यादि रूप फल की प्राप्ति ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं—

कीर्त्यादिफलदं काव्यमिति पूर्वविदो विदुः (रसदीर्घिका, पृ० ५५)

आचार्य को 'आदि' पद से क्या अभीष्ट है, इसका वृत्ति में भी विवरण नहीं दिया गया है। सम्भवतः उनका अभिप्राय मम्मट के 'काव्यं यशसे' इत्यादि प्रयोजन-षट्क अथवा भामहसम्मत प्रयोजनों से है।

आचार्य अच्युत राय के अनुसार काव्य से स्वार्थ तथा अन्यार्थ दोनों की सिद्धि होती है। कवि की दृष्टि से काव्य प्रयोजन रूप स्वार्थ (पुरुषार्थ चतुष्टय) की प्राप्ति होती है। अच्युत राय ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय का स्वरूप क्रमशः कीर्ति, सम्पत्ति, तृप्ति और मुक्ति निर्धारित किया है—

काव्यादिस्वार्थमन्यार्थं चाथ स्वार्थश्चतुर्विधः।
धर्मादिः कीर्तिसम्पत्तितृप्तिमुक्तिवपुः क्रमात्॥
(साहित्यसार, पृ० ३)

वाल्मीकि इत्यादि कवियों को रामायणादि रचना के फलस्वरूप यश की प्राप्ति

---

७९. तस्य कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य
............................ ...(रसगंगाधर, पृ० १२)

८०. त्रिवर्गसाधनं नाट्यम् (अग्निपुराण)

८१. काव्यं हि यशसेऽर्थाय शिवेतरनिवृत्तये।
कान्तावदुपदेशाय परनिर्वृतये क्षणात्॥
एवं राजादिविषयकोचितोपचारादिपरिज्ञानं च प्रयोजनमूह्यम्।
(काव्यादर्पण, पृ० ५-६)

८२. काव्यं हि यशसेऽर्थाय शिवेतरनिवृत्तये।
कान्तावदुपदेशाय परनिर्वृतये क्षणात्॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १८६)

हुई। इसी प्रकार धावकादि कवियों को नैषधीयचरितादि काव्यलेखन से अर्थ-लाभ हुआ। जयदेव इत्यादि कवियों को गीतगोविन्दादि काव्यों की रचना से अभिलषित कामरूप तृप्ति की प्राप्ति हुई। मुद्गलाचार्य इत्यादि कवियों ने आर्याशतकादि काव्य-रचना से आत्मसाक्षात्काररूप मोक्ष प्राप्त किया।[८३]

आचार्य अच्युत राय सहृदय की दृष्टि से काव्य प्रयोजन रूप अन्यार्थ पर विचार करते हुये कहते हैं कि काव्य से सामाजिक को अर्थादि ऐहिक तथा धर्मादि आमुष्मिक पदार्थों का उपदेश (ज्ञान) प्राप्त होता है—

जिज्ञासोः सुन्दरीरीत्या काव्यं समुपदेशकृत्।
ऐहिकामुष्मिकादेर्यत्सोऽयमन्वार्थ उच्यते ॥ (पृ० ५)

आचार्य मम्मट ने भी काव्य को कान्तासम्मित शैली का उपदेशक माना है। अच्युत राय इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सुन्दरी अपने लावण्यादि एवं पातिव्रत्यादि सद्गुणों के द्वारा अपने स्वामी के हृदय को वशीभूत करके नम्रतादि साधन के द्वारा अर्थ और कामरूप लौकिक तथा धर्म और मोक्ष रूप वैदिक पदार्थों का उपदेश देती है उसी प्रकार काव्यादि भी सहृदय के मन को वशीभूत करके उन्हें कल्याणकारी पदार्थों की ओर संकेत कर देता है।[८४]

सहृदय सामाजिक की दृष्टि से समुपदेश के अतिरिक्त काव्य का एक और प्रयोजन है—सुख-प्राप्ति। काव्य-श्रवण तथा काव्य-अनुष्ठान दोनों ही कालों में माधुर्यादि गुणों एवं दोषाभाव के द्वारा रसानुभूति होने से काव्य सदैव सुखद होता है—

अयं सर्वत्र सुखदः श्रवणेऽनुष्ठितावपि।
तद्गुणाद्यैः रसोत्पत्तेः फले त्विष्टार्थसिद्धितः ॥ (पृ० ३)

प्रश्न उठता है कि यदि काव्यादि से समुपदेश एवं आनन्द की प्राप्ति होती है तो स्मृत्यादि ग्रन्थों में काव्यरचनादि का निषेध क्यों किया गया है? आचार्य अच्युतराय के मत में 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' का तात्पर्य यह है कि काव्य में विष्णु इत्यादि अथवा उनके भक्तों के अतिरिक्त अन्य किसी का वर्णन नहीं होना चाहिए, अन्यथा काव्य दोष-युक्त हो जाएगा और ऐसे ही काव्यों की रचना का निषेध स्मृत्यादि ग्रन्थों में किया गया

---

८३. वाल्मीक्यादेरमृत्कीर्त्यै धावकादेः श्रियेऽपि च।
कामाप्त्यै जयदेवादेर्मुद्गलादेस्तु मुक्तये ॥ (साहित्यसार, पृ० ४)

८४. सुन्दरी स्वेशहृदयं वशीकृत्य स्वसद्गुणैः।
लौकिकं वैदिकं चापि कुजतीष्टं ससाधनम् ॥
तद्वत् काव्याद्यपि श्रीमन्महारामायणादिकम्।
श्रोतुर्मनो वशीकृत्य हितं वक्ति सहेतुकम् ॥ (वही, पृ० ६)

है।[८५] इसीलिए कालिदास ने दुष्यन्त, श्रीहर्ष ने नल, भारवि ने अर्जुन, त्रिविक्रम भट्ट ने दमयन्ती इत्यादि ईश्वरभक्तों का ही वर्णन अपने काव्यों में किया है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो अच्युत राय के धर्मादिरूप पुरुषार्थ चतुष्टय और मम्मट के प्रयोजन-षट्क में कोई विरोध नहीं है। अच्युतराय ने धर्म और अर्थ का लक्षण यश और सम्पत्ति ही स्वीकार किया है। जहाँ तक 'व्यवहारविदे' का प्रश्न है, व्यवहार ज्ञान से धर्म-ज्ञान ही विवक्षित है क्योंकि मम्मट ने इसकी वृत्ति 'राजादिगतोचिताचार-परिज्ञानम्' में उचित और आचार पद का सन्निवेश किया है। 'उचित' आचार पद का संकेत धर्म की ओर ही है। 'शिवेतरक्षतये' और 'सद्यः परनिर्वृतये' इन दोनों पदों से मुक्ति ही विवक्षित है अथवा इन्हें काम पुरुषार्थ में भी अन्तर्भूत माना जा सकता है। इस प्रकार यह काव्य प्रयोजन भी भामह, वामन, रुद्रट, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, पण्डितराजादि प्राचीनाचार्यसम्मत है।

छज्जूराम शास्त्री विद्यासागर को भामहसम्मत पुरुषार्थचतुष्टय एवं कीर्ति तथा प्रीति ही काव्यप्रयोजन के रूप में अभीष्ट है।

धर्मस्यार्थस्य कामस्य मोक्षस्यापि प्रयोजकम्।
कीर्तिप्रीतिकरं चाह भामहः काव्यसेवनम्॥
(साहित्यबिन्दु पृ० ८)

बदरीनाथ झा के अनुसार कवि की दृष्टि से काव्य का प्रयोजन है कीर्ति, पुरुषार्थचतुष्टय एवं कलुष-निवृत्ति इत्यादि और सहृदय की दृष्टि से ज्ञान-प्राप्ति, आनन्दानुभूति एवं असम-उपदेश—

तस्य फलं निर्मातुः कीर्तिचतुर्वर्गकलुषमोषाद्यम्।
प्रतिपत्तुर्विज्ञानं निर्वृतिरसमोपदेशश्च।
(साहित्य मीमांसा, पृ० ११)

हरिदास सिद्धान्तवागीश काव्य का प्रयोजन आनन्द मात्र मानते हैं—

प्रयोजनमानन्दः काव्यस्य (काव्यकौमुदी, पृ० १)

आचार्य हरिदास का कहना है कि निवृत्तराग भगवान् वाल्मीकि ने रामायण महाकाव्य की रचना यश अथवा अर्थ की प्राप्ति के लिए नहीं की। उनका आशय है कि प्रायः कर्त्ता परोपकार के लिए ही क्रिया में प्रवृत होता है। अतः काव्य रचना में कवि का प्रयोजन कुछ नहीं होता। काव्यप्रयोजन के रूप में सर्वत्र श्रोता का प्रयोजन ही अपेक्षणीय है। श्रोता काव्यनुसार ही प्रवृत होता है। इस प्रकार काव्य का प्रयोजन श्रोता को आनन्द प्रदान करना है। प्राचीन आचार्य भट्टनायक भी यही स्वीकार करते हैं।

---

८५. यत्तु स्मृत्यादिवचनं काव्यालापांश्च वर्जयेत्।
इत्यादि तत्तु श्रीशादिभिन्नवर्णनदूषकम्॥ (वही, पृ० ६)

भामहादिसम्मत चतुर्वर्गफलप्राप्ति रूपी काव्यप्रयोजन के सन्दर्भ में आचार्य का कहना है कि यह तो श्रीफलवृक्ष से रसाल फलप्राप्ति के समान आश्चर्यजनक है। शृंगारतिलक काव्य से निर्वाणमुक्ति की अभिलाषा तो विस्मयकारी है।[८६] आनन्दरूपी प्रयोजन ही प्रतीतिसाक्षिक है, समस्त सहृदयों को होता है एवं निर्विवाद है।

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी कवि की दृष्टि से काव्य को निष्प्रयोजन एवं सप्रयोजन दोनों ही मानते हैं। उनका कहना है कि कवि सदैव किसी प्रयोजनवश काव्यरचना नहीं करता। कभी-कभी यश, अर्थ इत्यादि बिना किसी प्रयोजन के भी कवि की काव्य-रचना में प्रवृत्ति दिखाई देती है। जिस प्रकार चटका पक्षी प्रातःकाल चणक-कण-लाभ रूप प्रयोजन के लिए ही कलरव नहीं करता अपितु कलरव करना उसका स्वभाव है। महाकवि वाल्मीकि ने रामायण की रचना यशः प्राप्ति, अर्थ-प्राप्ति अथवा शिवेतरक्षति के लिए नहीं की थी। वे तो लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा तीनों से रहित वीतराग थे। महर्षि का कर्म तो निसर्गतः फलासक्तिवर्जित होता है। अतः यह सिद्ध है कि रामायण की रचना में आदि कवि का कोई प्रयोजन नहीं था—

प्रयोजनं कवेः काव्ये नापि किंचन दृश्यते।
चुङ्कृतौ कलविङ्कस्य यथा प्राभातिके क्षणे॥
एषणात्रितयोत्तीर्णे रामायणमहाकवौ।
आत्माविष्कारनैष्कर्म्यनैसर्गी किं प्रयोजनम्॥

(काव्यालंकारकारिका, पृ० २४-२५)

आचार्य द्विवेदी का यह चिन्तन आचार्य हरिदास सिद्धान्त वागीश से प्रभावित है। जहाँ तक कवि की दृष्टि से काव्य के सप्रयोजन होने का प्रश्न है आचार्य द्विवेदी का मत है कि काव्य के मम्मट प्रतिपादित प्रयोजनों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रयोजन सम्भव हैं। यथा—(१) युगावश्यकतापूर्ति, (२) स्वधर्मरक्षण, (३) राष्ट्रदेवप्रबोध इत्यादि—

युगावश्यकतापूर्तिमन्त्रव्यक्तिरपि क्वचित्।
प्रयोजनं रघुव्यक्तौ रघुवंशे यथा कवेः॥
अधर्मोत्थानवेलायां धर्मरक्षापि दृश्यते।
काव्यार्थस्तुलसीकाव्ये यथा यवनशासने॥
राष्ट्रदेवप्रबोधोऽपि विश्वदैवतसाक्षिका।
काव्यप्रयोजनं पुंभ्यः पुमर्थांश्चतुरो दुहन्॥ (पृ० २६,२८,२९)

---

८६. न खलु निवृत्तरागेण भगवता वाल्मीकिना यशसे अर्थकृते वा रामायणं निरमायि। न वा कर्तुः प्रयोजनं जिज्ञासितमपि भवति।..........काव्याच्चतुर्वर्गफलप्राप्तिस्तु श्रीफलतरुतो रसालफलप्राप्तिरिव कौतुकावहा तत्त्वज्ञानाम्। शृंगारतिलकश्रवणान्निर्वाणमुक्तिलाभप्रलोभनं कं न विस्माययति (काव्यकौमुदी, पृ०१)

कभी-कभी कवि तत्कालीन समस्याओं के समाधानार्थं रहस्य की अभिव्यक्ति करने के लिए काव्य रचना करता है। उदाहरणार्थ, कालिदास ने रघुवंश की रचना उस समय की जब भारत पर विदेशियों का आक्रमण हो रहा था। उनके रघुवंश महाकाव्य की रचना का प्रयोजन था— देश को यह बताना कि हम रघु तुल्य वीर को पुनः कैसे प्राप्त कर सकते हैं। कुमारसम्भव एवं अभिज्ञानशाकुन्तल की रचना का प्रयोजन भी लगभग यही है। इसी प्रकार यवन-शासन काल में जब हिन्दु धर्म का ह्रास होने लगा तो तुलसीदास ने अपने धर्म की-रक्षापुनरुत्थान— के लिए रामचरितमानस काव्य की रचना की। कभी-कभी कवि राष्ट्र रूपी देवताओं के प्रबोध के लिए भी काव्य-रचना करता है। स्वयं भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में कहा है कि विदेशी आक्रमणकारियों के कारण भारत का स्वत्व बिलकुल समाप्त हो गया था और उसे वेद पर आधारित नाटकों, नृत्यों आदि के द्वारा पुनः प्रतिष्ठित किया गया।

काव्य कवि की दृष्टि से सप्रयोजन अथवा निष्प्रोजन हो सकता है किन्तु सहृदय की दृष्टि से सदैव सप्रयोजन होता है। आचार्य द्विवेदी काव्य की तुलना मातृदुग्ध से करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार माता का दुग्ध, शिशु के गुण-अवगुण का विचार किये बिना ही, स्तनन्धय शिशु को दुग्धरस से परिपुष्ट करता है, उसी प्रकार काव्य भी रसिक व्यक्ति को पुरुषार्थरूपी अमृत का आस्वादन कराता है—

न स्यात् प्रयोजनं स्याद् वा कवेः, सामाजिकस्य तु।
मातृस्तन्यं यथा काव्यं हन्त सर्वार्थसाधनम्॥
(पृ० ३१)

आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा भी आचार्य द्विवेदी की भाँति काव्य-प्रयोजन अनिवार्य नहीं मानते। उनका कहना है कि विषय विशेष के प्रति दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है— स्वभावप्रेरित एवं प्रयोजनप्रेरित। काव्य में भी यह घटित होता है। सत्य में कवि की जो प्रवृत्ति होती है, यही काव्य का रूप धारण करती है। इसमें कोई प्रयोजन नहीं होता अपितु स्वभाव अपना कार्य करता है—

प्रवृत्तिर्या कवेः सत्ये, काव्ये सा परिवर्तते।
नात्र प्रयोजनं किञ्चित्, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
(काव्यसत्यालोक, पृ० ७५)

चूंकि कविगत इस स्वभावप्रेरित प्रवृत्ति से कवि को सत्य का दर्शन और अभिव्यक्ति होती है, इसी से उसे सुखप्राप्ति होता है। इसी प्रकार सहृदयगत प्रवृत्ति से सहृदय को सत्य का दर्शन होता है अतः उसे भी सुखप्राप्ति होती है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शर्मा के अनुसार कहीं कहीं यशप्राप्ति, अर्थप्राप्ति इत्यादि कवि की दृष्टि से काव्यप्रयोजन होते हैं किन्तु ऐसे प्रयोजनों में स्वाभाविक प्रवृत्ति मन्द पड़ जाती है—

प्रयोजनत्वमर्थादेः, सम्भवत्यत्र जातुचित् ।
परं यातीह शैथिल्यम्, प्रवृत्तिः सा स्वभावजा ॥ (पृ० ७६)

उपर्युक्त काव्य-प्रयोजन परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि कुछ आचार्य तो प्राचीन आलङ्कारिकों की भाँति काव्य को कवि एवं सहृदय दोनों की दृष्टियों से सप्रयोजन मानते हैं। इन्हें भी दो भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ आचार्यों का झुकाव पुरुषार्थचतुष्टय की ओर है तो कुछ का प्रयोजन-षट्क की ओर। किन्तु इनके विपरीत कुछ आधुनिक आचार्य कवि की दृष्टि से काव्यप्रयोजन की अनिवार्यता नहीं स्वीकार करते। वे कवि-दृष्टि से काव्य को निष्प्रयोजन एवं सप्रयोजन दोनों ही मानते हैं।

## काव्य-भेद

काव्य के भेद अनेक प्रकार से किए जा सकते हैं—१. स्वरूप के आधार पर, २. शैली के आधार पर, और ३. रमणीयता के आधार पर। स्वरूप के आधार पर काव्य के प्रायः दो भेद— श्रव्य एवं दृश्य—किए जाते हैं। शैली के आधार पर काव्यों का तीन प्रकार से वर्गीकरण सम्भव है—गद्य, पद्य एवं मिश्र (चम्पू)। रमणीयताअथवा व्यंग्य के प्राधान्याप्रधान्य के आधार पर काव्य को तीन वर्गों में बाँटा जाता है—उत्तम (ध्वनि), मध्यम (गुणीभूत व्यंग्य) एवं अधम अथवा अवर (चित्र)।

ध्वनि स्थापना के पूर्व काव्य का विभाजन प्रायः शैली अथवा स्वरूप के आधार पर ही किया गया है। आचार्य भामह ने काव्य लक्षण करने के पश्चात् काव्य के दो भेदों—गद्य एवं पद्य—का उल्लेख किया है। किन्तु दण्डी गद्यात्मक एवं पद्यात्मक काव्यों के अतिरिक्त गद्य-पद्य मिश्रित मिश्र नामक तीसरा भेद भी स्वीकार करते हैं।[८७] आचार्य वामन को भामह की भाँति काव्य की द्विविधता ही अभिमत है।[८८]

आचार्य आनन्दवर्धन व्यंग्य के प्रधान एवं गुणभाव की स्थिति में क्रमशः ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य नामक दो भेद स्वीकार करते हैं। इस भेदद्वय के अतिरिक्त केवल चित्र मात्र होता है।[८९] मम्मट ने स्पष्ट रूप से काव्य के तीन भेद—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य एवं चित्र—किये। इन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम एवं अवर कोटि का स्वीकार किया। आचार्य विश्वनाथ ने आनन्दवर्धन से प्रभावित होकर काव्य का दो भेद— ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य—ही स्वीकार किया।[९०] विश्वनाथ का आशय यह है कि शब्द-अर्थ-चित्रों

---

८७. गद्यं पद्यं च मिश्रं चेति त्रिधा काव्यमाह (काव्यादर्श)

८८. काव्यं गद्यं पद्यं च (काव्यालङ्कारसूत्राणि, पृ० ३७)

८९. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थितेः।
उभे काव्यं ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥ (ध्वन्यालोक) - तृतीय उद्योत

९०. काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम्। (साहित्यदर्पण, पृ० २७९)

का रसादि में ही तात्पर्य होने के कारण अलंकार प्रधान होने से गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम काव्य में ही अन्तर्भाव हो जाता है। आचार्य जयदेव भी काव्य के दो भेद स्वीकार करते हैं—ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य।[९१] अप्पय दीक्षित काव्य के तीन भेद--ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र—मानते हैं और चित्र के शब्द, अर्थ एवं उभय तीन भेद करते हैं।

पण्डितराज ने काव्य का चार भेद—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम एवं अधम—स्वीकार किया है।[९२] मम्मट ने शब्द चित्र एवं अर्थ-चित्र नामक अवर काव्य के जो दो भेद किये थे उन्हीं को पण्डितराज ने स्वतन्त्र भेद मानकर अर्थचित्र को मध्यम एवं शब्दचित्र को अधम काव्य स्वीकार किया है। पण्डितराज का अभिमत यह है कि अर्थ-चित्र में शब्दचित्र की अपेक्षा अधिक चारुता होती है अतः चारुत्व के आधार पर दो भेद मानना युक्तिसंगत है। अन्य दो भेद क्रमशः ध्वनि एवं गुणीभूतव्यंग्य काव्य ही हैं।

पण्डितराजोत्तर आचार्य प्राचीन आलङ्कारिकों का अनुसरण करते हुए काव्य के प्रायः तीन भेद--उत्तम, मध्यम एवं अधम—स्वीकार करते हैं। आचार्य विद्याराम,[९३] नरसिंह कवि,[९४] श्री कृष्ण कवि,[९५] छज्जूराम शास्त्री इत्यादि काव्य के तीन भेद मानते हैं। विद्याराम ध्वनिकाव्य, गुणीभूत व्यंग्य इत्यादि नामान्तर का उल्लेख नहीं करते।

ध्वनि काव्य के विषय में आचार्य प्रायः एकमत हैं। सभी ने वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्य काव्य की श्रेष्ठता में ध्वनित्व स्वीकार किया है।

आचार्य विद्याराम व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ की चारुता में मध्यम काव्य मानते हैं।[९६] किन्तु प्राचीन आलङ्कारिकों को व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ के समकोटिक होने पर भी मध्यमत्व अभीष्ट है। अतः इस दृष्टि से इस लक्षण को अव्याप्तिदोषग्रस्त कहा जा सकता है।

आचार्य विद्याराम व्यंग्यरहित शब्द-अर्थ के आडम्बर को चित्र काव्य कहते हैं।[९७] श्रीकृष्ण कवि ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि व्यंग्यरहित होने पर भी

---

९१. यद् व्यज्यमानं मनसः स्तैमित्याय स नो ध्वनिः।
अन्यथा तु गुणीभूतव्यंग्यमापतितं त्रिधा॥ (चन्द्रलोक, पृ० १०६)

९२. तच्चोत्तमोत्तम-मध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा (रसगंगाधर, पृ० ६१)

९३. तच्च काव्यं त्रिधा भेदैरुत्तमाधममध्यमैः (रसदीर्घिका, पृ० ५६)

९४. अथ व्यंग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्फुटत्वेन त्रिविधं काव्यम्
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २०)

९५. सर्वं ध्वनिर्गुणीभूतव्यंग्यं चित्रमिति त्रिधा (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १८६)

९६. वाच्योऽर्थो व्यंग्यतो यस्य श्रेष्ठस्तन्मध्यमं स्मृतम् (रसदीर्घिका, पृ० ५६)

९७. शब्दार्थाऽडम्बराव्यङ्ग्यं चित्रकाव्यं तथाऽधमम् (वही, पृ० ५६)

जिस काव्य में चारुत्व हो उसे चित्र काव्य कहते हैं।[९८] व्यंग्य रहितत्त्व का आशय नरसिंह कवि ने अपने लक्षण में स्पष्ट किया है—व्यंग्य की स्पष्टरूप से प्रतीति न होना।[९९] आचार्य छज्जूराम शास्त्री भिन्न शब्दावलि में चित्र काव्य का लक्षण उपन्यस्त करते हैं। उनके अनुसार जहाँ अर्थ की अपेक्षा शब्द की और शब्द की अपेक्षा अर्थ की चारुता हो वहाँ क्रमशः शब्दचित्र और अर्थचित्र नामक काव्य होता है।[१००]

आचार्य विद्याराम[१०१] एवं छज्जूराम शास्त्री प्रभृति आलङ्कारिक अधम काव्य के दो भेद—शब्दचित्र एवं अर्थचित्र—मानते हैं, किन्तु नरसिंह कवि,[१०२] श्रीकृष्ण कवि[१०३] प्रभृति आचार्य शब्दार्थोभय चित्र नामक तीसरा भेद भी स्वीकार करते हैं।

आचार्य अच्युत राय काव्य-भेद में पण्डितराज सरणि का अनुसरण करते हैं। वे सर्वप्रथम काव्य के दो भेद करते हैं—सरस काव्य और चित्र काव्य। नायिका के शरीर से काव्य की उपमा देते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार रम्भा का शरीर श्रृंगार रस का आलम्बन होने के कारण श्रृंगार रस के प्राधान्य से सरस कहलाता है और मुक्ताहारादि अलङ्कारों का आश्रय होने के कारण मुक्ताहारादि की प्रधानता से चित्र भी कहलाता है, उसी प्रकार काव्य भी श्रृंगारादि रस की प्रधानता से सरस एवं उपमादि अलङ्कार की प्रधानता से चित्र कहा जाता है। व्यंग्य के प्राधान्य-अप्राधान्य भेद से सरस काव्य के दो भेद हो जाते हैं—(१) ध्वनि अथवा उत्तमोत्तम, (२) गुणीभूतव्यंग्य अथवा उत्तम। द्वितीय भेद आठ प्रकार का होता है। चित्र काव्य के दो मुख्य भेद होते हैं—(१) मध्यम : शब्द गौण एवं अर्थप्रधान (२) अधम : अर्थगौण एवं शब्दप्रधान।[१०४]

---

९८. अव्यंग्यमपि यच्चारु तत्काव्यं चित्रमिष्यते (मन्दारन्दचम्पू, पृ० १८७)

९९. व्यंग्यस्यास्फुटत्वेऽयमं काव्यं चित्रमिति कथ्यते (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २०)

१००. शब्दार्थयोः चमत्कारः परस्परमपेक्षया।
प्रधानं यत्र तज्ज्ञेयमधमं चित्रसंज्ञकम्॥ (साहित्यबिन्दु, पृ० २०)

१०१. अथाधमं चित्रकाव्यं तच्च शब्दचित्रार्थचित्रभेदाद् द्विविधम्
(रसदीर्घिका, पृ० ५७)

१०२. शब्दार्थोभयभेदेन चित्रं त्रिविधम् (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २१)

१०३. शब्दचित्रं चार्थचित्रमुभयं चेति तत्त्रिधा (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १८७)

१०४. रसालङ्कारमुख्यत्वभेदेनेदं भवेद् द्विधा।
सरसाख्यं च चित्राख्यं स्वरम्भोरुशरीरवत्॥
तत्राद्यं तु द्विधा व्यंग्यप्रधानगुणभावतः।
प्रथमं ध्वनिसंज्ञं स्यान्नानाभेद्युत्तमोत्तम॥
द्वितीयं तूत्तमं ज्ञेयमष्टधा परिकीर्तितम्।
द्विधान्यमपि मूर्येव मध्यमं चाधमं क्रमाम्॥
गुणप्रधानभावेन मिथः शब्दार्थयोः स्थितेः।
—(साहित्यसार, पृ० १५, १६, २०)

आचार्य विश्वनाथ देव काव्य का उपर्युक्त त्रिविध वर्गीकरण तो करते हैं किन्तु इस विभाजन-व्यवस्था के प्रति अनास्था प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि इन तीन भेदों में यदि रसादि की प्रतीति न मानी जाय तो काव्यत्वाभाव की प्राप्ति होगी, क्योंकि रसादि होने पर ही काव्य कहा जा सकता है और यदि रसादि की प्रतीति मानी जाय तो रस तो तीनों भेदों में एक जैसा होता है, उसका उत्तम, मध्यम, अवर भेद असम्भव है क्योंकि रस तो आनन्दरूप है, उसके न्यून-अधिक रूप में भेद नहीं हो सकते।[१०५]

आचार्य विश्वनाथ देव की मान्यता है कि यदि व्यंग्यार्थ की अप्रधानता के आधार पर मध्यम काव्य भेद स्वीकार किया गया है तो यह उचित नहीं है क्योंकि मध्यम काव्य में मध्यस्थ व्यंग्यार्थ की अप्रधानता होने पर भी अन्तिम चमत्कार की अपेक्षा उसकी अप्रधानता अत्यन्त नगण्य होती है अर्थात् चमत्कारानुभूति के समय इस बात की ओर ध्यान नहीं जाता कि व्यंग्यार्थ गौण है अथवा प्रधान, सभी भेदों का ध्वनि नाम सम्भव है।[१०६]

चित्र काव्य के विषय में विश्वनाथदेव का अभिमत है कि गुण एवं अलङ्कार से उत्पन्न चमत्कार के द्वारा रसादि का तिरोधान नहीं होता अपितु गुणालङ्कार तो रसोद्बोधक (रसोत्कर्षक) होते हैं। अतः चित्र काव्य को भी ध्वनि काव्य कहा जा सकता है।[१०७]

आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा काव्य के तीन भेद—उत्तम, मध्यम एवं अधम—करते हैं, किन्तु वे उपर्युक्त परिभाषाओं को स्वीकार नहीं करते। चूंकि वे काव्य की आत्मा सत्यानुभूति मानते हैं अतः काव्य में प्रतिपाद्य सत्य के आधार पर वे तीन भेद करते हैं। उनके अनुसार उत्तम काव्य वह है, जिसमें लोकगत सत्य का सूक्ष्म वर्णन होता है। लोक चूंकि कर्मक्षेत्र है, अतः इसमें कर्म का योग भी अपेक्षित है—

---

१०५. वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः। तथाहि एतेषु त्रिषु रसादिकं न प्रतीयते, प्रतीयते वा। नाद्यः तदा काव्यत्वविरहापत्तेः। अथ प्रतीयते तदा कथं ध्वनित्वादिना विभागः। (साहित्यसुधासिन्धु, पृ० २६)

१०६. न च मध्यमे आन्तरालिकव्यंग्यस्याप्राधान्याद् विभाग इति वाच्यम्। आन्तरालिक व्यंग्यस्याप्राधान्येऽपि तस्याकिञ्चित्करत्वेन पार्यन्तिक चमत्कारापेक्षया सर्वेषां ध्वनित्वसम्भवात्। (वही, पृ० २७)

१०७. अथ चित्रे गुणालङ्कराहितचमत्कारेण रसस्तिरोधीयत इति चेत्, न अनवबोधात्। गुणालङ्कारा हि रसोद्बोधकास्तथा च तज्ज्ञाने तदाहित—चमत्कारानन्तरं रसोद्बोधो युज्यत एवेति कथं न ध्वनित्वम्। (वही, पृ० २७)

सत्यं कारणमुत्कर्षे, तस्य च जगति स्थितिः।
कर्मक्षेत्रं जगत्क्षेत्रम्, कर्मणो योग उत्तमे ॥

(काव्यसत्यालोक, पृ० ७३)

आचार्य शर्मा के अनुसार रामायण एवं महाभारत में कर्म का सविशेष योग है, इसलिये ये दोनों उत्तम काव्य हैं।

जिस काव्य का प्रतिपाद्य अलौकिक होता है उसे डा० शर्मा मध्यम काव्य कहते हैं—

अन्यदलौकिकं क्षेत्रम्, मध्यमे तस्य योजनम्। (पृ० ७३)

इस काव्य के प्रतिपाद्य में अलौकिक वस्तु, पात्र और भावों का समावेश होता है। यहाँ वस्तु के अतिप्राकृत होने के कारण सहृदयों में प्रायः विश्वास का अभाव होता है, यही इसका मध्यमकोटिकत्व है। चूंकि अलौकिक पात्रों का आचरण लोकबाह्य होता है, अतः इसकी अवतारणा में लोकसत्य का अभाव होने से हृद्यत्वाभाव होता है। इसी प्रकार अलौकिक भावों का लोक में अभाव अथवा विरलता होती है। अतः इसके चित्रण से काव्य में मध्यमकोटिकत्व आ जाता है।

जिस काव्य में ज्ञान का योग हो अथवा बौद्धिक सिद्धान्तों का प्राधान्य हो तथा काव्याङ्गों की आभासरूपता हो, वह अधम काव्य होता है—

काव्ये तिष्ठति यत्सत्यम्, तस्यानुभूतिरूपता।
इतो भिन्नं मतं ज्ञानम्, अधमे तस्य प्रयोजनम् ॥ (पृष्ठ ७४)

आचार्य मधुसूदन शास्त्री ने स्वरूप के आधार पर काव्य का भेद करते हुए श्रव्य एवं दृश्य के अतिरिक्त पठ्य एवं चित्र नामक दो अतिरिक्त भेदों का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि 'शब्दार्थौ काव्यम्' लक्षण में 'शब्दार्थौ' पद में इतरेतर द्वन्द्व होने से 'शब्द के सहित अर्थ' और 'अर्थ के सहित शब्द' यह प्रतीति होती है। इस साहित्य के होने पर भी दोनों प्रधान हैं अतः द्विवचन का प्रयोग होता है। इस प्रकार शब्द सहित अर्थ (अर्थात् शब्द का सहभाव है, अर्थप्रधान है) को दृश्य कहते हैं। अर्थ सहित शब्द (अर्थात् अर्थ का सहभाव है, शब्द-प्रधान है) को श्रव्य कहते हैं। जहाँ शब्द-अर्थ दोनों प्रधान होते हैं, उसे पठ्य कहते हैं और जहाँ दोनों प्रधान न रहें, लिपि प्रधान रहे उसे चित्र कहते हैं। लिपि भी शब्द का स्मारक होने से शब्दरूप ही है और यह शब्द तो सार्थक ही होता है। इस प्रकार शब्द-अर्थ दोनों के रहने पर भी लिपि की ही प्रधानता होती है। फलतः पद्मबन्ध, खड्गबन्ध, मुरजबन्ध, इत्यादि चित्रकाव्य होते हैं।[१०८]

उपर्युक्त काव्यभेद विवेचन पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि पण्डितराजोत्तर युग में नवीनता अथवा मौलिकता का नितान्त अभाव है।

---

१०८. साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों का समालोचनात्मक अध्ययन, पृ० ८

## तृतीय अध्याय

# शब्द-शक्ति विवेचन

शब्द और अर्थ के समन्वित रूप को काव्य कहते हैं। शब्द से रहित अर्थ और अर्थ से रहित शब्द निरर्थक है। वस्तुतः अर्थ ज्ञान द्वारा ही हमें शब्द सामर्थ्य का बोध होता है। इसी शब्द-सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। शब्द शक्ति के विषय में व्याकरण, न्याय, मीमांसा, बौद्ध, अलङ्कार इत्यादि शास्त्रों में विचार किया गया है। शब्दगत शक्ति प्रायः सभी प्राचीन व अर्वाचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है किन्तु शब्द-शक्ति के स्वरूप, उसकी सीमा और संख्या के विषय में प्राचीन काल से ही विवाद रहा है। प्राचीन वैयाकरण शब्द शक्ति का मात्र एक भेद—अभिधा—ही स्वीकार करते हैं और लक्षणा को अभिधा का ही स्वरूप मानते हैं किन्तु नैयायिक तथा मीमांसक अभिधा एवं लक्षणा दो भेद स्वीकार करते हैं। साहित्यशास्त्री शब्द की तीन शक्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना का निरूपण करते हैं। कुछेक आचार्य तात्पर्या, रसना, भावकत्व, भोजकत्व इत्यादि शक्ति भी स्वीकार करते हैं। कुछ आचार्यों ने लक्षणा और गौणी को भिन्न-भिन्न शब्द शक्ति स्वीकार किया है तो कुछ गौणी को लक्षणा का एक भेद स्वीकार करते हैं।

यहाँ यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि व्याकरण, नैयायिक एवं मीमांसक इत्यादि की दृष्टि में अभिधा एवं लक्षणा की सीमा जितनी संकुचित है उतनी काव्यगत अभिधा एवं लक्षणा की नहीं। इसीलिये आचार्यों ने अलङ्कार को विचित्र अभिधा कहा है। काव्यगत शब्द कुछ विशेष अर्थ का अभिधान करते हैं। इसी प्रकार लक्षणा भी अभिधा की सहायिका मात्र न होकर काव्यचारुत्व के हेतु रूप में स्वीकृत है। व्यञ्जना शक्ति की प्रतिष्ठापना तो आनन्दवर्धन, मम्मट इत्यादि काव्यशास्त्रियों द्वारा ही की गयी है। वस्तुतः व्याकरण, न्याय और मीमांसा शास्त्र के प्रतिपाद्य में व्यञ्जना शक्ति की आवश्यकता ही नहीं। अतः नैयायिकादि के द्वारा इसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। किन्तु कविगत मनोभावों को सहृदयहृदयसंवेद्य बनाने में अभिधा एवं लक्षणा अक्षम थी, किसी अपूर्व शक्ति की आवश्यकता थी। अतः व्यञ्जना शक्ति का आविर्भाव हुआ। प्राचीन आचार्यों, दण्डी, अग्निपुराणकार, भामह, उद्भट, रुद्रट, भोज इत्यादि ने इस

शक्ति की ओर संकेत किया था, पर्यायोक्तादि अलङ्कारों के माध्यम से इसकी सत्ता स्वीकार की थी और आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट इत्यादि ने प्रबल युक्तियों के द्वारा इसकी अपरिहार्यता एवं महत्ता प्रतिपादित की। इसके अभाव में तो समस्त काव्य-व्यापार अर्थहीन हो जाता।

इस व्यञ्जना शक्ति का विरोध किया महिमभट्ट, धनञ्जय, धनिक प्रभृति आचार्यों ने। महिम भट्ट ने सत्ता तो स्वीकार की किन्तु उसे विशिष्ट अनुमति (काव्यानुमिति) कहा। किन्तु परवर्ती आचार्यों यहाँ तक कि महिम भट्ट के टीकाकार रुय्यक ने भी इसका विरोध किया और व्यञ्जना की पूर्णतः स्थापना हो गयी।

शब्द शक्तियों पर अनेक शास्त्रों में विचार किया गया है किन्तु मीमांसा में अपेक्षाकृत अधिक विवेचन हुआ है। एतद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ शालिकनाथकृत वाक्यार्थवृत्तमातृका और वाचस्पतिमिश्रकृत तत्त्वबिन्दु है। शब्दशक्ति विषयक प्राप्त ग्रन्थों में अभिधावृत्त मातृका प्राचीनतम है। इसमें व्यञ्जना शक्ति का उल्लेख नहीं है। इसके अनन्तर मम्मटकृत शब्दव्यापारविचार है जिसमें तीनों शक्तियों का निरूपण है किन्तु इसकी स्वतन्त्रता के विषय मे सन्देह है। सम्भवतः यह काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास का संकलनमात्र है। अप्पय्यदीक्षितकृत वृत्तिवार्तिक तृतीय प्राप्त ग्रन्थ है किन्तु इसमें लक्षणापर्यन्त विवेचन ही उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी अलङ्कारशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में शब्द शक्तियों का सविस्तर निरूपण किया है।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में आशाधर भट्ट एवं मौनी श्रीकृष्ण भट्ट इत्यादि ने शब्दशक्तिविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों त्रिवेणिका, कोविदानन्द एवं वृत्तिदीपिका की रचना की जिनमें वृत्तित्रय का विवेचन हुआ है। गोकुलनाथ उपाध्याय ने भी शब्दशक्तिविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थ-रसमहार्णव-की रचना की है किन्तु उसमें लक्षणा शक्ति का ही विवेचन है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में शब्दशक्ति पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

भारतीय आस्तिक दर्शन में शब्द को प्रमाण (प्रमाकरण) माना गया है। आचार्य आशाधर भट्ट ने प्रमाकरण रूप शब्द की तुलना शत्रुनाश क्रिया करणरूप बाण से की है। जिस प्रकार बाणादि शत्रुनाश क्रिया के प्रति करण होते हैं और सदा व्यापार से युक्त होते हैं उसी प्रकार शब्द भी प्रमा का करण है और अपने अर्थ को प्रकट करने के कारण व्यापार युक्त होता है। बाण अपने लक्ष्य पर ही गिरते हैं। उसी प्रकार शास्त्रादि संकेतों से युक्त होकर शब्द भी तत्काल अर्थ (लक्ष्य) का बोध कराते हैं। जिस प्रकार बाण में व्यापार के अतिरिक्त भेदन-योग्यता होती है उसी प्रकार शब्द में भी वाच्यार्थ के बोधन की योग्यता कराने वाला संकेत होता है जो व्यापार से भिन्न होता है। सम्मुख

स्थित लक्ष्यों के भेदन में ही बाण समर्थ होते हैं, उसी प्रकार ज्ञात शब्दार्थ ही अर्थ-बोधन में समर्थ होते हैं।[1]

**संकेत—**

आचार्य आशाधर भट्ट के अनुसार प्रवर्त्तक द्वारा उपदिष्ट 'इस शब्द के द्वारा इस अर्थ का बोध होता है' इस प्रकार की इच्छा को संकेत कहते हैं।[2] 'प्रवर्त्तक' पद के ग्रहण से आधुनिक व्यक्तियों में अव्याप्ति नहीं होती। यह संकेत शब्द में रहता है और इसका ज्ञान होने पर शब्द द्वारा अर्थ का बोध होता है। यह संकेत ही अर्थ में स्थित पुरुष के अज्ञान को दूर कर उसमें ज्ञातृत्व उत्पन्न करता है।[3] भूदेव शुक्ल शक्ति, समय, संकेत इत्यादि को पर्यायवाची मानते हैं और ईश्वरेच्छा मात्र को शक्ति स्वीकार करते हैं।[4] किन्तु राजचूडामणि दीक्षित ईश्वर के अभिप्राय मात्र को संकेत न मानकर आप्ताभिप्राय को संकेत मानते हैं, अन्यथा यदृच्छा शब्दों में अव्याप्ति हो जायगी।[5] मौनी श्रीकृष्ण भट्ट ईश्वरेच्छा को ही संकेत मानते हैं।[6] आशाधर भट्ट संकेत के दो भेद करते हैं—ईश्वरकृत और सुधीकृत। साधु (यौगिक) शब्दों में ईश्वरकृत संकेत होता है जिसका बोध शास्त्र के द्वारा हुआ करता है और असाधु (रूढ़ि) शब्दों में सुधीकृत

---

१. प्रमाणत्वेन शब्दानां करणत्वं शरादिवत्।
तेन व्यापारयुक्तत्वं नियतं स्वार्थसाधने॥
शास्त्रादेर्ज्ञातसंकेता लक्ष्यलक्षाः शरा इव।
सद्योऽर्थकारिणः शब्दास्तेन तस्यापि हेतुता॥
व्यापारादतिरिक्तोऽयं संकेतो वाच्यगोचरः।
योग्यताजनको बाणे लक्ष्यसम्मुखता यथा॥
ज्ञातस्यैवोपयोगित्वमर्थे तस्यान्यथा तु न।
लक्ष्येऽवधारितस्येव सम्मुखत्वस्य भेदने॥
(कोविदानन्द, पृ० २-३)

२. अयमर्थ इतश्शब्दाद्वेद्य इच्छेदृशी तु या।
प्रवर्त्तकोपदिष्टा सा संकेत इति भण्यते॥ (वही, पृ० ५)

३. स च शब्दे स्थितो ज्ञातः सन् अर्थान् विषयीकरोति। संकेतस्त्वर्थस्थितं पुरुषाज्ञानमुत्सार्य ज्ञातृत्वं जनयति। (त्रिवेणिका, पृ० ४)

४. शक्तिश्चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारिका ईश्वरेच्छा समयसंकेतपदाभिधेया। (रसविलास, पृ० ८१)

५. संकेतश्च 'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोध्य' इत्याकारक आप्ताभिप्रायो न त्वीश्वराभिप्रायमात्रम्, यदृच्छाशब्दस्याप्यग्रे संग्राह्यत्वकथनेन तत्राव्याप्तेः।
(काव्यदर्पण, पृ० ३३)

६. संकेतश्च एतत्पदजन्यत्वप्रकारतानिरूपितैतदर्थबोधविशेष्यताशालीश्वरेच्छा।
(वृत्तिदीपिका, पृ० १)

(उत्तम-वृद्ध या विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट) संकेत रहता है जिसका बोध व्यवहारादि से होता है।[७] आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी संकेत को शब्दज्ञान और अर्थ ज्ञान के बीच रहने वाली ग्रन्थि मानते हैं जो ज्ञान मात्र में रहती है, शब्दार्थ शरीर में नहीं।[८] उनका मत है कि शब्द में कोई शक्ति नहीं होती है, शक्ति तो ज्ञान में है। इस प्रकार अभिधा शक्ति का आश्रय शब्दार्थ-ज्ञान है। लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्या शक्तियों का आश्रय भी वाक्य-विन्यास का ज्ञान है। वस्तुतः चारों शब्दशक्तियाँ ज्ञानात्मक हैं, शब्दात्मक नहीं। इसलिये शब्द-शक्ति के स्थान पर ज्ञान-शक्ति पद का प्रयोग अधिक उचित है।

नैयायिक शब्दनिष्ठ संकेत को ही व्यापार मानते हैं अर्थात् संकेत एवं व्यापार को अभिन्न मानते हुये संकेत मात्र से अर्थबोध स्वीकार करते हैं। आशाधर भट्ट इसका खण्डन करते हुये कहते है कि ईश्वर की इच्छा विशेष (संकेत) ईश्वर भिन्न द्वारा अज्ञात है अतः अर्थबोध में इसका उपयोग नहीं हो सकता। यदि नैयायिक यह कहते हैं कि संकेत एवं व्यापार में से अन्यतर को अर्थबोध का हेतु मान लिया जाय तो लाघव होगा तो इस पर आशाधर का कहना है कि दो वस्तुओं द्वारा साध्य पदार्थ की उत्पत्ति एक के द्वारा सम्भव नहीं है अन्यथा स्त्री-पुरुष दो के द्वारा मिलकर उत्पाद्य शिशु की उत्पत्ति भी एक से स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये, इससे विवाहादि गौरव की निवृत्ति भी हो जायगी।[९]

**शक्ति, वृत्ति, क्रिया अथवा व्यापार—**

शक्ति शब्द का प्रयोग आचार्यों ने अभिधा व्यापार अर्थ में भी किया है। इसी प्रकार वृत्ति शब्द का प्रयोग शब्द व्यापार के अतिरिक्त परुषा, उपनागरिका, कोमला इत्यादि अनुप्रासवृत्तियों एव कैशिकी, भारती, सात्वती, आरभटी इत्यादि नाटकीय वृत्तियों के लिये भी किया गया है।

वृत्ति शब्द—वृत् से करण अर्थ में 'स्त्रियां क्तिन्' सूत्र से क्तिन् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है—'वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्ततेऽनयेति वृत्तिः' (त्रिवेणिका, पृ० १) अर्थात् जिसके द्वारा शब्द अर्थप्रतीति में प्रवृत्त होता है उसे वृत्ति कहते हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु की प्रतीति कराने में दीपक के समान दीपक की प्रभा भी करण (मुख्य

---

७. स ईश्वरकृतः साधौ शब्दे शास्त्रं तु शास्ति तम्।
असाधौ व्यवहारादेः संवेद्यः स सुधीकृतः॥ (कोविदानन्द, पृ० ५)

८. संकेतश्चायमेव यदुत शब्दज्ञानार्थज्ञानयोर्मिथो ग्रन्थिबन्धः संविन्मात्रनिष्ठः। (काव्यालंकारकारिका, पृ० १७४)

९. संकेतमेव शब्दस्य व्यापारं तार्किका विदुः।
अज्ञातस्योपयोगित्वं न कथं बाणवेगवत्॥
एकेनानेक साध्योऽर्थो लाघवाद्यदि साध्यते।
स्त्रीपुंसयोरन्यतरल्लाघवाच्छिशुकृन्न किम्॥ (कोविदानन्द, पृ० ४)

साधन) होती है उसी प्रकार अर्थ प्रतीति में शब्द के अतिरिक्त शब्दगत क्रिया (व्यापार) भी करण होती है। शब्दगत इसी क्रिया को शक्ति कहते हैं।[10] मौनी श्रीकृष्ण भट्ट के अनुसार शाब्दबोध के लिये पदार्थ की उपस्थिति के अनुकूल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वृत्ति कहते हैं।[11] आशय यह है कि शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होने पर उस ज्ञात शब्द से अर्थ की उपस्थिति (ज्ञान) होती है। इसके बाद शाब्दबोध होता है। इस प्रकार शाब्दबोध के लिये अर्थोपस्थिति का कारण शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध है। इसी का नाम वृत्ति है। विश्वेश्वर पण्डित भी पद और पदार्थ के सम्बन्ध को वृत्ति मानते हैं, इसी सम्बन्ध के कारण अर्थप्रतीति होती है।[12]

**संकेतग्रह हेतु**—

प्राय: आचार्य संकेतग्रह के आठ उपाय—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति (व्याख्या) और सिद्धपद (ज्ञातपद) की सन्निधि—ही मानते हैं। किन्तु आशाधर भट्ट ने इनके अतिरिक्त निरुक्त नामक नवाँ संकेतग्राहक स्वीकार किया है।[13] प्राचीन आचार्यों ने निरुक्त को आप्त-वाक्य (मुनिवाक्) मानकर उसकी पृथक् गणना नहीं की है। आचार्य ने निरुक्त के उदाहरण के रूप में 'उमा' पद उद्धृत किया है। निर्वचन के अनुसार 'उ' शब्द सम्बोधनार्थक है और 'मा' शब्द निषेधार्थक। क्योंकि मेनका ने सम्बोधनपूर्वक उसे तप करने को मना किया था इसलिये उसका नाम 'उमा' पड़ा।[14]

**संकेत स्मारक**—

जिनके द्वारा नानार्थक शब्दों का संकेत प्रकृत अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है वे

---

१०. तत्र शब्दवत् तत्र गता क्रियापि करणं, प्रदीपस्य करणत्वे तत्प्रभावत्। सैव शक्तिः। (त्रिवेणिका, पृ० ४)

११. वृत्तित्वं च शाब्दबोधहेतुपदार्थोपस्थित्यनुकूलशब्दतदर्थसम्बन्धत्वम्। (वृत्तिदीपिका, पृ० १)

१२. अर्थोपस्थितिहेतुः पदस्य पदार्थेन सह सम्बन्धो वृत्तिः। (रसचन्द्रिका, पृ० ४१)

१३. संकेतग्रहणे हेतून् शृणूदाहरणैः सह।
प्रायो व्याकरणं कोशो निरुक्तं मुनिवागपि॥
व्याख्यानं वाक्यशेषश्च प्रसिद्धार्थस्य सन्निधिः।
उपमानप्रमाणं च व्यवहारश्च तद्विदाम्॥ (कोविदानन्द, पृ० ६)

१४. उमाशब्दे उशब्दस्य सम्बोधनार्थकस्य मा शब्दस्य निषेधार्थस्य च संयोगे व्युत्पत्त्यभावेऽपि 'अक्षरसाम्यान्निर्वचनं ब्रूयात्' इति निरुक्तवचनम्। तथा च कुमारसम्भवे—उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम। (वही, पृ० ७)

संकेतस्मारक कहलाते हैं। इससे न केवल संकेत अपितु व्यापार भी एकार्थ विषयक हो जाता है। मुख्य संकेतस्मारक ये हैं—१. लिंग (चिह्न), २. प्रकरण, ३. फल, ४. व्यक्ति, ५. प्रसिद्ध पदों का सान्निध्य, ६. औचित्य, ७. सामर्थ्य, ८. देश, ९. काल, १०. चेष्टा, ११. साहचर्य, १२. विरोध, १३. संयोग, १४. विप्रयोग, १५. स्वर इत्यादि।[१५] काव्यप्रकाशोद्धृत भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय की कारिका में १४ एकार्थ-नियामक हेतुओं का उल्लेख है। उसमें आदि पद से चेष्टा इत्यादि का ग्रहण हो जाता है। आशाधर भट्ट ने चेष्टा का स्पष्ट उल्लेख किया है और 'अर्थ' नामक स्मारक के स्थान पर 'फल' शब्द का प्रयोग किया है।

आशाधर भट्ट ने कोविदानन्द में व्यक्ति का एक ही उदाहरण (केवल लिंगपरक) दिया है किन्तु त्रिवेणिका में वे व्यक्ति के पाँच भेद करते हैं—जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या और कारक।[१६] जबकि मम्मट प्रभृति प्राचीन आचार्य 'व्यक्ति' शब्द का अर्थ केवल पुल्लिङ्ग इत्यादि ही मानते हैं। 'व्यक्ति' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– विभक्ति के द्वारा जिसे प्रकट किया जाय। इस कर्म व्युत्पत्ति के अनुसार तो व्यक्तिपद से सम्पूर्ण नाम (संज्ञा) अर्थों का ग्रहण हो जाता है और महाभाष्यकार ने नामपदों के पाँच प्रकार के अर्थ स्वीकार किये हैं।[१७] अतः 'व्यक्ति' पद से केवल लिंग का ही नहीं अपितु जात्यादि पाँचों का ग्रहण उचित है। इनके उदाहरण क्रमशः प्रस्तुतः हैं।[१८]

जाति—'भद्रनागो महाधनः' यहाँ जाति विशेष वाचक 'भद्र' शब्द के साहचर्य से 'नाग' शब्द का 'हाथी' अर्थ में नियमन हो जाता है (भद्रो मन्दो मृगो मिश्रश्चतस्रो गजजातयः इति हैमः)।

व्यक्ति—'शिवोपवीतनागेन' यहाँ शिव-उपवीत शब्द के द्वारा शेषनाग व्यक्ति का कथन किया जाता है और उससे 'नाग' शब्द की शक्ति का नियमन 'सर्प' अर्थ में होता है।

लिङ्ग—'स्वानि शिवं याचते' यहाँ स्व शब्द की नपुंसकलिंगता के कारण उसका 'धन' अर्थ में नियमन होता है।

---

१५. संकेतस्मारकानाहुर्लिंगं प्रकरणं फलम्।
व्यक्तिं प्रसिद्धसान्निध्यमार्हन्तीं च समर्थताम्।
देशं कालं च चेष्टां च साहचर्यं विरुद्धताम्।
संयुक्तत्वं वियुक्तत्वं स्वरादींश्च यथायथम्॥ (वही, पृ० ११)

१६. व्यक्तिर्नामार्थः, स पञ्चविधः जातिव्यक्तिलिंगसंख्याकारकभेदात्। (त्रिवेणिका, पृ० ८)

१७. यत्तु प्राञ्चः पुंस्त्वादिकमेव व्यक्तिमाहुः तच्चिन्त्यम्। व्यज्यते विभक्ततया प्रकटीक्रियतेऽसौ व्यक्तिरिति कर्मव्युत्पत्त्या कृत्स्नस्य नामार्थस्य ग्रहणौचित्यात्। 'पञ्चकं नामार्थः' इति भाष्यसिद्धान्तात्। (वही, पृ० ८)

१८. वही, पृ० ८

संख्या—'हरिः वसति कानने' में एकवचन के कारण 'हरि' पद का नियमन 'सिंह' अर्थ में होता है।

कारक—'अब्धितटे दुष्टो हरिः हरिणा हतः' में कर्त्तावाचक 'हरिणा' पद का 'वासुदेव' अर्थ में नियमन होता है क्योंकि वही शंखासुर के विनाशक हैं।

संकेतनियामक किसी स्थल पर एक ही होता है और कहीं-कहीं अनेक (मिश्रित) भी होते हैं। ऐसे स्थल पर अर्थनियमन में और अधिक सुविधा होती है।[१९]

सभी आचार्य शब्द, अर्थ एवं वृत्ति के तीन-तीन भेद स्वीकार करते हैं। आशाधर भट्ट ने इन सबका एकत्र संकलन किया है। अर्थ के तीन भेद होते हैं—(१) शक्य, वाच्य, अभिधेय, मुख्यार्थ, (२) लक्ष्य, लाक्षणिक, भाक्त, औपचारिक, (३) व्यंग्य, गम्य, प्रतीत्य, ध्वनित।

अर्थ के अनुसार शब्द भी त्रिविध हैं—(१) वाचक, शक्त, अभिधायक, (२) लक्षक, लाक्षणिक, औपचारिक भाक्त, (३) व्यंजक, ध्वनन, द्योतक, प्रत्यायक।

वृत्ति भी तीन प्रकार की होती है—(१) शक्ति, अभिधा, मुख्या, (२) लक्षणा, भक्ति, उपचार, (३) व्यञ्जना, द्योतना, प्रत्यायना।

आचार्य आशाधर भट्ट के अनुसार वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ क्रमशः चारु, चारुतर, और चारुतम होते हैं।[२०] इनका प्रयोग क्रमशः सरल व्यक्ति, चतुर व्यक्ति एवं नर्म वचनों के मर्मज्ञ कवि और सहृदय किया करते हैं।[२१] अच्युत राय ने शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना की उपमा क्रमशः मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा से दी है।[२२] आशाधर भट्ट इनकी उपमा गंगा, यमुना और सरस्वती से देते हैं।[२३] जिस प्रकार विशुद्ध निर्मल गंगा में यमुना एवं सरस्वती मिलती हैं अर्थात् गंगा दोनों का आश्रय हैं, उसी प्रकार अभिधा-वृत्ति लक्षणा व व्यञ्जना का आश्रय है। जिस प्रकार यमुना नील जल वाली एवं गंगाश्रिता है उसी प्रकार विलम्ब से अर्थप्रतीति कराने के कारण लक्षणा मलिना है। जिस प्रकार संगम में सरस्वती अत्यन्त गूढ़ है और योगियों के अतिरिक्त अन्यों के द्वारा

---

१९. एषामनेकेषां मेलने 'दानाधिक्यात् फलाधिक्यमिति' न्यायेन सौकर्यातिशयः (वही, पृ० १०)

२०. काव्यादिषु शब्दजन्यमर्थज्ञानं त्रिविधं—चारु, चारुतरं, चारुतमं चेति। तत्र शक्तिजन्यं चारु। लक्षणाजन्यं चारुतरम्। व्यञ्जनाजन्यं चारुतमम्। (वही पृ० २)

२१. शक्तिं भजन्ति सरलाः लक्षणां चतुरा नराः।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञा कवयः कमना जनाः॥ (वही, पृ० २४)

२२. त्रिधा वृत्तिभिदा शक्तिलक्षणाव्यंजनाह्वया।
मुग्धमध्यप्रगल्भाख्यावस्था स्त्रीव भाति वाक्॥ (साहित्यकार, पृ० २३)

२३. शक्तिभक्तिव्यक्तिगंगायमुनागूढनिर्झराः।
प्रवाहवत्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका॥ (त्रिवेणिका, पृ० १)

दर्शनीय नहीं है किन्तु शास्त्रप्रमाण से उसके विषय में कोई सन्देह नहीं है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ भी अत्यन्त रहस्यभूत है और सहृदयों के द्वारा ही प्रतीतियोग्य है तथा उसके विषय में आलंकारिकों में थोड़ा भी सन्देह नहीं है ।[२४]

कुछ आचार्य तात्पर्या नामक वाक्यगत वृत्ति भी स्वीकार करते हैं और कुछ इसका उपर्युक्त वृत्तित्रय में ही अन्तर्भाव मानते हैं। अब इनका क्रमशः विवेचन किया जायगा।

## अभिधा

आशाधर भट्ट अभिधा के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं। उनका कहना है कि धातु के अनेकार्थक होने के कारण शक् धातु का अर्थ यहाँ 'साक्षात् अभिधान करना' है अतः जिसके द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है उसे शक्ति कहते हैं।[२५] आशाधर भट्ट ने शक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—'संकेतग्रहकारणा शक्तिः' (त्रिवेणिका, पृ० ४) अर्थात् संकेतग्रहण कराने वाली वृत्ति को शक्ति कहते हैं। नरसिंह कवि का लक्षण इसकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट है—'संकेतितार्थगोचरः शब्दव्यापारोऽभिधा' (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १४) अर्थात् अभिधा के द्वारा संकेतित अर्थ की प्रतीति होती है और यह शब्द का व्यापार है। श्रीकृष्ण कवि ने इसे मुख्य व्यापार कहा है।[२६] आचार्य विद्याराम प्रसिद्ध अर्थ का ज्ञान कराने वाली वृत्ति को अभिधा कहते हैं।[२७] मूदेव शुक्ल भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि अभिधा के द्वारा पूर्वसिद्ध घटादि पदार्थ का ही बोध होता है।[२८] छज्जूराम शास्त्री के अनुसार गृहीत संकेत अर्थ (वाच्यार्थ) को कहने वाली शक्ति ही अभिधा है।[२९]

मात्र 'संकेतितार्थगोचर' कहने से लक्षण में अतिव्याप्ति हो जाती है क्योंकि लक्ष्यार्थ भी आप्ताभिप्रायविषयक होने के कारण संकेतित होता है अतः संकेतितार्थ न कह कर 'साक्षात् संकेतितार्थ' कहना अधिक उचित है। राजचूड़ामणि दीक्षित एवं श्रीकृष्ण कवि ने मम्मट की परिभाषा शब्दशः ग्रहण कर ली है।[३०]

संकेतित अर्थ (वाच्य) के स्वरूप के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। आचार्यगण यह संकेत (१) व्यक्ति में (२) व्यक्ति की उपाधि जाति, गुण, क्रिया

---

२४. वही, भूमिका पृ० ३-४

२५. 'शक्यते साक्षादभिधीयतेऽनयेति शक्तिः' बाहुलकात् करणे क्तिन् धातूनामनेकार्थत्वाच्छक्नोतेः साक्षादभिधानार्थम् (वही, पृ० १)

२६. व्यापारः शक्यधीहेतुर्मुख्यः शब्दगतोऽभिधा (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७८)

२७. प्रसिद्धार्थस्य शब्देषु शक्तिर्विज्ञानकारिणी (रसदीर्घिका, पृ० ५७)

२८. पूर्वसिद्धमेव हि घटादिकम् अभिधया बोध्यते (रसविलास, पृ० ६५)

२९. योऽर्थो गृहीतसंकेतः तद्बोधी प्रथमाभिधा (साहित्यबिन्दु, पृ० ४२)

३०. साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः (काव्यदर्पण, पृ० ३३)

और यदृच्छा में (३) जाति में (४) जाति-विशिष्ट व्यक्ति में (५) अन्वित में (६) अपोह में स्वीकार करते हैं।

आशाधर भट्ट के अनुसार प्रत्येक पिण्ड में संकेतग्रहण का बोध दुष्कर है और जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञा (यदृच्छा) में सुगम है अतः इन्हीं उपाधियों में संकेतग्रहण स्वीकार किया जाना चाहिये।[३१] शब्द प्रमाण एवं अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा व्यक्ति का बोध हो जायगा क्योंकि व्यक्ति बिना जाति इत्यादि उपाधियों के नहीं रह सकते अतः जाति आदि उपाधियों द्वारा व्यक्ति का आक्षेप स्वतः हो जायगा। व्यक्ति को वाच्य बनाने की आवश्यकता नहीं है।[३२] आशाधर भट्ट व्यक्ति में संकेत न मानने का एक और तर्क देते हैं। उनका कहना है कि शब्दप्रमाण द्वारा बोध्य-विषय में प्रत्यक्षादि-प्रमाणों का प्रवेश नहीं होता। और प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बोध्य विषय में शब्द प्रमाण का प्रवेश नहीं होता। अतः प्रत्यक्षादिप्रमाणों द्वारा बोध्य व्यक्ति (गो, घट इत्यादि) में शब्द संकेत नहीं माना जा सकता। अतः उपाधि में ही संकेत मानना उचित है।[३३] राजचूडामणि दीक्षित,[३४] छज्जूराम शास्त्री[३५] प्रभृति आचार्य भी जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य में संकेत मानते हैं। अच्युतराय जातिमात्र में संकेत मानने के पक्षपाती हैं। उनका कहना है कि जाति में संकेत मानने में लाघव है अतः मीमांसकमत ग्राह्य है।[३६] विश्वनाथ देव भी जानि में ही अभिधा स्वीकार करते हैं।[३७] सिद्धिचन्द्र गणि का मत है कि जहाँ आनन्त्य और व्यभिचार न हो वहाँ व्यक्ति में शक्ति मानी जानी चाहिये।[३८]

नरसिंह कवि वाचक शब्द के दो भेद करते हैं—रूढ़ और योग।[३९] राजचूडा-

---

३१. संकेतस्तु प्रतिव्यक्ति दुर्ज्ञेय इति हेतुभिः।
जात्या गुणेन क्रियया सुबोधः संज्ञया तु सः॥ (कोविदानन्द, पृ० १५)

३२. प्रमाणादितरस्माच्च व्यक्तेर्बोधो हि जायते।
उपाधिभिश्चतुर्भिश्च बोध्यन्ते व्यक्तयोऽखिलाः।
अविनाभावतस्तस्माच्छब्दवाच्या न ताः स्मृताः॥ (वही, पृ०१८)

३३ प्रमाणान्तरगम्येऽर्थे न शब्दस्य प्रमाणता।
लाघवात् स्वीकृता तस्मात् संकेतो नास्ति वस्तुषु॥ (वही, पृ० १९)

३४. जातिगुणः क्रिया द्रव्यमिति संकेतिता मताः। (काव्यदर्पण, पृ० ३७)

३५. गुणे जातौ च संकेतो गृह्यते द्रव्यकर्मणोः (साहित्यबिन्दु, पृ० ४२)

३६. सा जातियुक्तव्यक्तौ स्याज्जातिमात्रे तथा क्रमात्।
मतद्वये तथाप्यन्त्या युक्ता लाघवतोऽभिधा॥ (साहित्यसार, पृ० २४)

३७. आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां जातावेवाभिधा मता (साहित्यसुधासिन्धु पृ० ३२)

३८. यत्र त्वानन्त्यव्यभिचारौ न स्तः तत्राकाशादिपदे व्यक्तावेव शक्तिः।
(काव्यप्रकाशखण्डन, पृ० ७)

३९. सा द्विविधा रूढिपूर्विका योगपूर्विका चेति (नञ्जराजयशोभूषण, पृ०१४)

मणि दीक्षित,[४०] आशाधर भट्ट,[४१] अच्युतराय,[४२] एवं छज्जूराम शास्त्री[४३] प्रभृति आचार्य इन दो भेदों के अतिरिक्त योगरूढ नामक तीसरा भेद भी स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्ण शर्मन्[४४] एवं विश्वेश्वर पण्डित[४५] प्रभृति आचार्य यौगिकरूढिक नामक चौथे भेद की ओर भी संकेत करते हैं।

रूढ—जिन शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय आदि के आधार पर खण्ड सम्भव नहीं है, वे रूढ कहलाते हैं।[४६] यथा गौ, घट इत्यादि। आचार्य गोकुलनाथ उपाध्याय के अनुसार वस्तुविशेष में शब्दविशेष का अनादि प्रयोग ही रूढि कहलाती है।[४७] मौनी श्रीकृष्ण भट्ट के अनुसार रूढ का उदाहरण 'गो' पद उपयुक्त नहीं है। 'गच्छति इति गोः' यह व्युत्पत्ति सम्भव होने के कारण केवल रूढ का अभाव होने से गमनकर्तृत्वविशिष्ट गोत्व में शक्ति है, यह कहा जा सकता है।[४८] रूढ शब्द के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के भेद से चार भेद हो जाते हैं।[४९] राजचूडामणि दीक्षित ने रूढि के दो भेद किये हैं। प्रथम वह जहाँ अवयवार्थ का प्रतिभान भी नहीं होता, यथा पीनौ वधुकुचौ। दूसरा वह जहाँ अवययार्थ का प्रतिभान तो होता है किन्तु उसका प्रतिपाद्य में बाध हो जाता है, यथा मुक्ताहार। इसमें अवयवार्थ 'मुक्त आहार याभ्याम्' भासित होता है किन्तु मुक्तामयहाररूप प्रतिपाद्य में बाध हो जाता है।[५०]

---

४०. रूढिर्योगो योगरूढिरिति सा त्रिविधाभिधा (काव्यदर्पण, पृ० ४३)
४१. प्रथमा त्रिविधा तत्र रूढिर्योगस्तथोभयी (कोविदानन्द, पृ० २४)
४२. सा पुनस्त्रिधा रूढियोगतन्मिश्रभेदतः (साहित्यसार, पृ० २५)
४३. सा च त्रिविधा केवलसमुदायशक्तिः, केवलावयवशक्तिः, समुदायावयवशक्तिश्च (साहित्यबिन्दु, पृ० ४२)
४४. वैशेषिकास्तु ब्रुवते पदं यौगिकरूढिकम्।
रूढ्या चैकार्थकं योगेनान्यार्थं चोद्भिदादि तत्।
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७८)
४५. केचित्तु रूढयौगिकमपि चतुर्थभेदमाहुः। (रसचन्द्रिका, पृ० ४१)
४६ अखण्डशब्दे सा रूढि: (कोविदानन्द, पृ० २४)
४७. रूढिस्तु वस्तुविशेष शब्दविशेषस्यानादिप्रयोगः। (रसमहार्णव, पृ० १)
४८. तत्रापि 'गच्छतीति गौरिति' व्युत्पत्तिसम्भवेन केवलरूढत्वाभावात्, गमनकर्तृत्वविशिष्टे गोत्वे शक्तिरिति वक्तुं शक्यत्वात् (वृत्तिदीपिका, पृ० ७)
४९. तत्राप्याद्या चतुर्धा स्यान्महाभाष्यानुसारतः (साहित्यसार, पृ० २५)
५०. समुदायशक्तिमात्रेण अर्थप्रतिपादकत्वम् अवयवार्थाप्रतिभानात् तत्प्रतिभानेऽपि तस्य प्रतिपाद्ये बाधात् वा भवतीति द्विविधा रूढिः। यथा 'पीनौ वधूकुचौ' इति पदाभ्यां न अवयवार्थप्रतिभानम्, मुक्तामयहारलक्षणे प्रतिपाद्ये बाध इत्येषा रूढिः। (काव्यदर्पण, पृ० ४४)

**योग**—जिन शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक खण्ड सम्भव है उन्हें योग कहते हैं।[51] आशाधर भट्ट शब्दावयव के आधार पर योगशक्ति के अनेक भेद मानते हैं। उदाहरणार्थ 'नीलकण्ठ' में गुणाश्रया यौगिक अभिधा है और मारमार (मारजित्) में क्रियाश्रया। कहीं-कहीं वाक्यादि में द्वेषगुणाश्रया, द्वेषणक्रियाश्रया, द्वेष्यद्वेषकभावसम्बन्धाश्रया विचित्र अभिधा भी दृष्टिगत होती है। यथा 'त्रिपुरद्विष्' में द्वेष्यद्वेषकभावसम्बन्धाश्रया अभिधा है।[52]

राजचूडामणि दीक्षित रूढ की ही भाँति यौगिक अभिधा के भी दो भेद करते हैं। प्रथम वह जहाँ अवयव शक्ति के द्वारा ही अर्थ-बोध होता है, समुदायार्थ का प्रतिभान होने पर भी उसका प्रतिपाद्य अर्थ में अन्वय नहीं होता। दूसरा वह जहाँ समुदादार्थ का प्रतिभान होने पर भी इसका प्रतिपाद्य अर्थ में अन्वय नहीं होता। प्रथम का उदाहरण 'रागिन्' है और दूसरे का 'अशोक'। यहाँ शोकरहित रूप कंकेलिवृक्ष का बोध होता है और समुदायार्थ के विवक्षित होने पर भी शोकरहित रूप अवयवशक्तिप्रतिपाद्य अर्थ में अन्वय नहीं होता।[53]

अच्युतराय यौगिक शब्द के दो भेद करते हैं—(1) दो पदार्थों का योग, जैसे चित्रगुः (चित्राः विचित्रार्थद्योतिकाः गावः वाचयस्य सः) और, (2) प्रकृति-प्रत्यय का योग, जैसे देशिक (दिशति = उपदिशति)।[54]

**योगरूढि**—समुदाय शक्ति एवं अवयवशक्ति दोनों के द्वारा जहाँ एक अर्थ का बोध होता है उसे योगरूढ़ि कहते हैं।[55] इसमें प्रकृति-प्रत्यय भेद सम्भव होता है किन्तु उससे प्रकट होने वाले सभी अर्थों को न स्वीकार कर केवल एक ही ग्रहण किया जाता है। यथा मृगाक्षी, पद्मनाभ आदि।

---

51. योगः खण्डनकल्पिते (कोविदानन्द, पृ० 24)
52. शब्दावयवयोगेन योगशक्तिरनेकधा।
गुणाश्रया नीलकण्ठे मारमारे क्रियाश्रया॥
सम्बन्धजापि वाक्यादौ विचित्रा त्रिपुरद्विषि। (वही, पृ० 25-26)
53. अवयवशक्तिमात्रेण प्रतिपादकत्वमपि समुदायार्थाप्रतिभानात् तत्प्रतिभानेऽपि तस्य अवयवशक्तिप्रतिपाद्यार्थानन्वयाद् वा भवतीति योगोऽपि द्विविधः। यथा 'रागिन्' इति केवलं योगः। अशोकपदे शोकरहितत्वमेव कङ्केलि-वृक्षत्वम् इति अभेदाध्यवसायार्थं समुदायार्थस्य विवक्षित्वेऽपि शोकरहितत्वरूपावयवशक्ति-प्रतिपाद्यार्थेऽनन्वय एव। (काव्यदर्पण, पृ० 45)
54. योगः पदार्थयोरेको धातुप्रत्यययोः परः।
चित्रगुर्देशिको योगरूढिः श्रीशो हरिस्तथा। (साहित्यसार, पृ० 25)
55. योगरूढ़िस्तु शक्तिभ्याम् एकार्थप्रतिपादनम् (काव्यदर्पण, पृ० 46)

कभी-कभी योगरूढ शब्दों (प्रसिद्ध प्रयोगों) में भी केवल रूढि या योग (अर्थात् अभिश्रण) की विवक्षा भी हो सकती है।[५६] यथा 'शम्भु' शब्द 'शंभवति अस्मात्' व्युत्पत्ति के आधार पर यौगिक माना जा सकता है किन्तु इसमें योग की विवक्षा नहीं रहती और यह शिव अर्थ में रूढ है।

अच्युतराय योग की ही भांति योगरूढ़ि के भी दो भेद करते हैं —(१) दो पदार्थों का योग, यथा श्रीश (२) प्रकृति-प्रत्यय का योग, यथा हरि।

**रूढयौगिक**—जहाँ रूढि के द्वारा एक अर्थ और योग के द्वारा दूसरे अर्थ का बोध हो उसे रूढयौगिक पद कहते हैं।[५७] यथा उद्भिद् मण्डप, इत्यादि। यहाँ कभी रूढ़ार्थं गृहविशेष का बोध होता है तो कभी मण्डपानकर्त्ता पुरुष का।

अच्युतराय के अनुसार कुल मिलाकर शक्यपदार्थ (वाच्यार्थ) के आठ भेद हो जाते हैं—रूढपदार्थं जात्यादिचतुष्टय, यौगिक पदार्थद्वय और योगरूढपदार्थद्वय।[५८]

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी शब्द में शक्ति नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि शब्द अपनी शक्ति के द्वारा अर्थ-ज्ञान उत्पन्न करता है तो कारण सिद्धान्त (कारण अपने ही अधिकरण में कार्य उत्पन्न करता है) का विरोध होता है। शब्द तो आकाश में रहता है और ज्ञान आत्मा (अथवा चित्त) में। अतः अधिकरण भिन्न है।[५९] शब्द से अर्थ शरीर उत्पन्न नहीं होता अपितु अर्थ-ज्ञान मात्र उत्पन्न होता है। शब्द शरीर के साथ अर्थ-ज्ञान का कार्य-कारण भाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः शब्दज्ञान के साथ अर्थज्ञान का कार्यकारणभाव होना चाहिए। इस प्रकार शब्दज्ञान ही शब्द शक्ति का अधिकरण है। शब्द की उपस्थिति मात्र से अर्थ-ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि शब्द ज्ञान न हो। अतः शब्दज्ञान में शक्ति रहती है, शब्द-शरीर में नहीं।[६०] ज्ञान तो अर्थ होता है इसलिए शक्ति अर्थनिष्ठ ही है।[६१]

---

५६. क्वचिद् रूढौ क्वचिद् योगे मिश्राविश्रान्तिरिष्यते (कोविदानन्द, पृ० २६)

५७. रूढ्या चैकार्थकं योगेनान्यार्थं चोद्भिदादि तत्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७८)

५८. इति साधनतः शक्तिग्रहाज्जात्यादिरष्टधा।
सिद्धः शक्यपदार्थोऽत्र रूढादित्रयभेदतः॥ (साहित्यसार, पृ० ३२)

५९. :शब्दोऽर्थज्ञानसूः शक्त्या' यदि तत्र निरीक्ष्यताम्।
सामानाधिकरण्यं किं वर्तते हेतुकार्ययोः ॥
(काव्यालंकारकारिका, पृ० १६८)

६०. एवं शब्दस्य यज्ज्ञानं शुभा तत्रैव शक्तता (वही, पृ० १७०)

६१. ततश्च ज्ञाननिष्ठायाः शक्तेः शब्दनिष्ठता कवितामात्रमेवेति यत्किञ्चिदेव, न तु हृदयङ्गमनीयम्। ज्ञानं चार्थं इति शक्तय इमा अर्थनिष्ठत्वेनैवाभ्युपेयाः।
(वही, पृ० १७४)

## लक्षणा

विश्वेश्वर पण्डित के अनुसार शक्यार्थ का सम्बन्ध ही लक्षणा है।[६२] यही नैयायिकों का भी मत है और पण्डितराज ने भी इसे ही स्वीकार किया है। कृष्णभट्ट मौनी ने इस लक्षण में 'स्व' पद का भी समावेश कर दिया है।[६३] स्व का तात्पर्य लाक्षणिक पद से है। अत: लाक्षणिक पद के शक्यार्थ का सम्बन्ध ही लक्षणा है। यथा 'गंगायां घोष:' में गंगा लाक्षणिक पद है, उसका शक्य है प्रवाह, उसका सम्बन्ध संयोग तीर में है।

आशाधर भट्ट शक्यार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा मानने का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि यदि लक्षणा को सम्बन्धरूप ही माना जाएगा तो वह शब्द-व्यापार नहीं हो सकेगा। सम्बन्ध क्रिया से भिन्न है और अर्थमात्रनिष्ठ है। इसलिए वह लक्षणा से भिन्न ही है। यद्यपि लक्षणा को भी अर्थगत ही स्वीकार किया गया है किन्तु उसका अवस्थान तो शब्द ही है अर्थात् शब्द द्वारा अर्थ तक लक्षणा की गति हो सकती है।[६४]

भूदेव शुक्ल के अनुसार शक्यार्थ के सम्बन्ध के ज्ञान होने से जो अशक्य अर्थ की प्रतिपत्ति होती है वही लक्षणा है और यह शब्दनिष्ठ है।[६५] यथा 'गंगायां घोष:' में गंगापद से शक्यार्थ प्रवाह का बोध होता है और उससे तट की स्मृति हो जाती है। यही मीमांसकों का भी मत है। किन्तु राजचूडामणिदीक्षित का मत है कि अर्थबोध को ही वृत्ति स्वीकार करना अनुपयुक्त है अपितु अर्थबोध के लिये वृत्ति की कल्पना की जाती है।[६६] नरसिंह कवि ने शक्यार्थ की अनुपपत्ति और शक्यार्थ सम्बद्धता को लक्षणा का बीज स्वीकार किया है।[६७] किन्तु रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी का उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार लक्षणा वस्तुत: अर्थ की वृत्ति है, किन्तु शब्द में आरोपित है। तात्पर्य यह है कि गंगा पद से प्रवाहरूप अर्थ का बोध होता है। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:' न्याय से पुन: गंगा पद से तट रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। अत: प्रवाह रूप अर्थ के द्वारा तट अर्थ लक्षित होता है। इस प्रकार लक्षणा प्रवाहरूप अर्थ की वृत्ति हुई न कि गंगा शब्द की। किन्तु वृत्ति को शब्द का ही धर्म स्वीकार किया गया है, इस नियम से अर्थ के धर्म को शब्द में आरोपित कर लेते हैं क्योंकि शब्द से ही प्रति-

---

६२. शक्यसम्बन्धो लक्षणा (रसचन्द्रिका, पृ० ४२)

६३. स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा (वृत्तिदीपिका, पृ० १०)

६४. सम्बन्ध एवं भक्तिश्चेच्छब्दवृत्तिर्न सा भवेत्।
अर्थाश्रयत्वात् भक्तिस्तु शब्दद्वारार्थगा मता॥ (कोविदानन्द, पृ० ३१)

६५. शक्यसम्बन्धेन अशक्यार्थप्रतिपादकत्वं शब्दनिष्ठं लक्षणा। (रसविलास, पृ० ८६)

६६. अर्थप्रतिपत्त्यर्थं हि वृत्तिकल्पनं न तु सैव वृत्तिरिति युक्तं कल्पयितुमिति ध्येयम्
(काव्यदर्पण, पृ० ५०)

६७. शक्यार्थस्यानुपपत्त्या तत्सम्बन्धिनि आरोपितशब्दव्यापारो लक्षणा
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १४-१५)

पादित होने पर अर्थ दूसरे अर्थ का लक्षक होता है। श्रीकृष्ण कवि ने तात्पर्यानुपपत्ति और अन्वयानुपपत्ति दोनों को लक्षणा का बीज स्वीकार किया है। उनके अनुसार वक्ता के तात्पर्यविषयीभूत अर्थ के अन्वय के अनुपपन्न होने पर शक्य भिन्न अर्थ के बोधक व्यापार को लक्षणा कहते हैं।[६८] लक्षण में 'शक्यभिन्नार्थ' पद के समावेश से अभिधा में और 'अन्वयानुपपत्ति' के समावेश से व्यञ्जना में अतिव्याप्ति नहीं होती। 'छत्रिणो यान्ति' इत्यादि वाक्यों में अन्वयानुपपत्ति नहीं है किन्तु लक्षणा है अतः तात्पर्यविषयीभूत पद का समावेश किया गया है। अच्युतराय ने तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का हेतु स्वीकार किया है। उनके अनुसार वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर शक्य से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने वाली शब्दसम्बन्धिनी वृत्ति को लक्षणा कहते हैं।[६९] आशाधर भट्ट ने लक्षणा की परिभाषा में संकेत और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध का भी विवेचन किया है। उनके अनुसार शक्यार्थ का बाध होने पर शक्य से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा से होती है। इस व्यापार में संकेत में संकोच (न्यूनता), प्रसार (अधिकता) और प्लुति (उल्लंघन, एक अर्थ का परित्याग कर अन्य का आश्रयण) हो जाता है।[७०] आचार्य छज्जूराम शास्त्री मम्मटसम्मत लक्षणा की परिभाषा स्वीकार करते हैं।[७१]

आशाधर भट्ट 'गंगायां घोषः' को घोष शब्द के अनेकार्थक होने के कारण सन्दिग्ध उदाहरण मानते हैं।[७२] उनके अनुसार लक्षणा का स्पष्ट उदाहरण—'ऊंकारलिङ्गं रेवायां' है। रेवा नदी अर्थात् जलप्रवाह में ज्योतिर्लिङ्ग की स्थापना सम्भव नहीं है, अतः जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। प्रवाह एवं तट में संयोग सम्बन्ध है अतः रेवा पद से तट अर्थ की प्रतीति होगी।

**भेद**—पण्डितराजोत्तर आचार्यों में लक्षणा के भेद के विषय में मतैक्य नहीं है। कुछ आचार्य मम्मट के समान अल्प भेद स्वीकार करते हैं तो कुछ विश्वनाथ एवं पण्डितराज का अनुकरण करते हैं।

---

६८. तात्पर्यविषयीभूतार्थान्वयानुपपत्तितः।
शक्यभिन्नार्थधीहेतुर्व्यापारो लक्षणेष्यते।। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७८)

६९. अथारोपेण या शाब्दी शक्यसंबद्धबोधिका।
तात्पर्यानुपपत्त्यैव वृत्तिः सा लक्षणोच्यते।। (साहित्यसार, पृ० ३९)

७०. शक्यार्थबाधे संकोचः प्रसारः प्लुतिरेव वा।
संकेतस्य स्मृता वृत्तिर्लक्षणा योगसम्भवे।। (कोविदानन्द, पृ० २८)

७१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढेरथ प्रयोजनात्।
ययार्थो लक्ष्यते ह्यन्यः सोच्यते लक्षणा बुधैः।। (साहित्यबिन्दु, पृ० ४४)

७२. अत्र गंगायां घोषइति प्रसिद्धोदाहरण तून्नेय प्रत्यक्षत्वाद् घोषशब्दस्यानेकार्थत्वाच्च सन्दिग्धम्, इदं तु स्पष्टमिति बोध्यम्। (कोविदानन्द, पृ० २९)

आचार्य नरसिंह कवि लक्षणा के चार भेद ही स्वीकार करते हैं। वे प्रथमतः दो भेद करते हैं—सम्बन्धनिबन्धना और सादृश्यनिबन्धना। प्रथम भेद के जहद्वाच्या और अजहद्वाच्या तथा द्वितीय भेद के सारोपा और साध्यवसाना उपभेद से लक्षणा के चार भेद हो जाते हैं।[७३] मौनी श्री कृष्ण भट्ट भी लक्षणा के मुख्य चार भेद मानते हैं। वे सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद करते हैं—शुद्धा और गौणी। पुनः प्रत्येक के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था के भेद से कुल चार भेद हो जाते हैं।[७४] इसके अतिरिक्त आचार्य ने लक्षित-लक्षणा नामक भेद भी स्वीकार किया है। श्रीकृष्णशर्मन् ने लक्षणा का आठ भेद किया है। उनके अनुसार लक्षणा प्रथमतः रूढिपूर्वा और फलपूर्वा भेद से द्विविध होती है। रूढिपूर्वा लक्षणा के गौणी और शुद्धा के भेद से दो उपभेद हो जाते हैं और फलपूर्वा लक्षणा जहती, अजहती, जहदजहती, सारोपा, साध्यवसाना के भेद से पांच प्रकार की होती है। पुन:फलपूर्वा सारोपा लक्षणा के दो भेद होते हैं—गौणो और शुद्धा।[७५] राज-चूडामणि दीक्षित मन्दारमन्दचम्पू के भेद को ही स्वीकार करते हैं किन्तु वे फलपूर्वा साध्यवसाना लक्षणा के भी दो भेद—गौणी और शुद्धा—करके कुल नव भेद मानते है।[७६] आचार्य भूदेव शुक्ल निरूढा लक्षणा के शुद्धा और गोणी दो भेद तथा फलवती लक्षणा के जहत्, अजहत्, जहदजहत्, सारोपा, साध्यवसाना, गौणी और शुद्धा नामक सात भेद करते हैं।[७७] विश्वेश्वर पाण्डेय लक्षणा के आठ भेद करते हैं। उनके अनुसार लक्षणा निरूढा और प्रयोजनवती भेद से द्विविध होती है। पुनः प्रयोजनवती के गौणी

---

७३. सा द्विविधा-सम्बन्धनिबन्धना सादृश्यनिबन्धना चेति। तत्राद्या द्विविधा जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति। द्वितीयापि द्विविधा सारोपा साध्यवसाना चेति (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १५)

७४. सा द्विधा गौणी शुद्धा च। ते च प्रत्येक जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्थेति भेदाद् द्विविधे (वृत्तिदीपिका, पृ० १०)

७५. द्विविधा सा रूढिपूर्वा फलपूर्वेति भेदतः।
स्याद्रूढिलक्षणा द्वेधा गौणी शुद्धेति भेदतः।
जहती चाप्यजहती जहत्पूर्वा जहत्यपि।
सारोपा साध्यवसितिरित्यन्या पञ्चधा मता।
सारोपा द्विविधा सा तु गौणी शुद्धेति भेदतः॥
(मन्दारमरन्दचम्पु, पृ० १७८)

७६. निगीर्य विषयं यत्र विषय्येव निबध्यते।
तत्र साध्यवसाना स्याद् गौणी शुद्धेति सा द्विधा॥
(काव्यदर्पण, पृ० ६७)

७७. जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा सारोपा साध्यवसाना च गौणी शुद्धा चेत्येवं सप्तविधा फललक्षणा (रसविलास, पृ० ८७)

और शुद्धा भेद होते हैं। गौणी प्रयोजनवती लक्षणा सारोपा-साध्यवसाना भेद से दो प्रकार की तथा शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा जहत् स्वार्था, अजहत् स्वार्था, जहद-जहत् स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना भेद से पाँच प्रकार की होती है।[७८] आचार्य मम्मट एवं पण्डितराज जहदजहत्स्वार्था भेद नहीं स्वीकार करते। अच्युतराय लक्षणा के प्रथमत: चार भेद—गौणी, शुद्धा, विरुद्धा, लक्षितलक्षणा—करके पुनः प्रत्येक के निरूढा और प्रयोजनवती भेद करते हैं। पुनश्च गौणी प्रयोजनवती और शुद्धा प्रयोजनवती के सारोपा एवं साध्यवसाना दो-दो भेद करते हैं और प्रयोजनवती शुद्धा को समस्त और व्यस्त के भेद से द्विविध मानते हैं।[७९] अच्युतराय ने चन्द्रालोककारसम्मत प्रयोजनवती गौणी के चार भेद किये हैं—विशिष्टलक्ष्या, विशिष्टलक्षका, सहेतुलक्षणा और निर्हेतुलक्षणा।[८०] इनके अतिरिक्त आचार्य ने लाक्षणिक वाक्यार्थ के भी गौण, शुद्ध, विरुद्ध और लक्षितलक्ष्यक नामक चार भेद किये हैं।[८१] आशाधर भट्ट लक्षण के प्रथमतः तीन भेद करते हैं—जहत्, अजहत् और जहदजहत्। पुनः प्रत्येक के रूढा और फलवती के भेद से ६ भेद हो जाते हैं। इन ६ भेदों के अतिरिक्त आशाधर भट्ट ने सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा के दो भेद किये हैं—सारोपा और साध्यवसाना। पुनः प्रत्येक के शुद्धा व गौणी भेद से चार भेद हो जाते हैं और प्रत्येक के निरूढा व फलवती भेद से कुल आठ

---

७८. सा द्विविधा। निरूढा प्रयोजनवती च। द्वितीया द्विविधा गौणी शुद्धा च। गौणी द्विविधा। सारोपा साध्यवसाना च। शुद्धा पञ्चविधा। जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था जहदजहत्स्वार्था सारोपा साध्यवसाना चेति।
(रसचन्द्रिका, पृ० ४२-४३)

७९. गौणी शुद्धा विरुद्धा च तथा लक्षितलक्षणा।
चतुर्धाऽसौ निरूढेति प्रयोजनवतीति च ॥
प्रत्येकं द्विविधा.........................।
प्रयोजनवती गौणी शुद्धा चापि पुनर्द्विधा।
आरोपाध्यवसानाभ्यां चतु:संख्यास्तु ता यथा ॥
शुद्धा प्रयोजनवती समस्तव्यस्तताभिदा।
पुनर्द्विधापि सादृश्यान्यसम्बन्धैरनेकधा।
(साहित्यसार, पृ० ४०-४५)

८०. विशिष्टलक्ष्याद्यप्यन्यच्चन्द्रालोककृतां मते।
प्रयोजनविशिष्टाया गौण्या भेदचतुष्टयम् ॥
(वही, पृ० ५०)

८१. वाक्यार्थोऽपि चतुर्धैवं विज्ञेय सप्रयोजनः।
गौणः शुद्धो विरुद्धश्च क्रमाल्लक्षितलक्ष्यकः ॥
(वही, पृ० ५१)

भेद होते हैं। इनके अतिरिक्त आचार्य ने वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध पर आश्रित लक्षित-लक्षणा तथा व्यतिरेक (वैपरीत्य) सम्बन्ध पर आश्रित विपरीतलक्षणा नामक पृथक् भेद भी स्वीकार किया है।[८२] अब इन भेदों के कोविदानन्दोक्त उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत हैं।

१. **निरूढा जहत्**—'स्तुवन्तु वाग्भिः' यहाँ वाक् शब्द का मुख्यार्थ है शब्दोच्चारणहेतुभूत इन्द्रिय। इसके बाधित होने पर वागिन्द्रिय में उत्पन्न होने वाले स्तुति-वचन का लक्षणा से बोध होता है। ऐसे प्रयोग बिना किसी प्रयोजन के परम्परावश प्रयुक्त होते हैं।

२. **निरूढा अजहत्**—'अर्चन्ति पाणिभिः नीललोहितम्' पाणि का मुख्यार्थ 'अंगुलिपर्यन्त बाहु' है किन्तु अर्चना केवल हस्तरूप अग्रभाग से की जाती है। अतः हस्त-रूप शरीरावयव की प्रतीति लक्षणा द्वारा होती है।

३. **निरूढा जहदजहत्**—'नीललोहितम्'।

४. **प्रयोजनवती जहत्**—'प्रासादाः सन्ति रेवायाम्' प्रवाहवाचक रेवा पद से रेवा तट अर्थ की प्रतीति होती है, जिसका प्रयोजन है पूजा सौकर्य।

५. **प्रयोजनवती अजहत्**—'प्रदोषे जनसम्बाधे यष्टयः प्रविशन्ति यत्' यहाँ यष्टि की यष्टिधर अर्थ में लक्षणा होती है। यहाँ फल है—यष्टिधरों की बहुलता की प्रतीति।

६. **प्रयोजनवती जहदजहत्**—'शम्भौ अम्भः क्षिपन्ती च' यहाँ शम्भु पद से शरीरावयव लिङ्ग अर्थ की प्रतीति जहदजहल्लक्षणा से होती है। यहाँ प्रयोजन है—पूज्यत्व अतिशय की प्रतीति।

७. **निरूढा शुद्धा सारोपा**—'शिवं शम्भुं भजेत्' यहाँ वाचक शम्भु और लक्षक शिव (कल्याणकर) पद का प्रयोग होने से सारोपा है। यहाँ लक्ष्यार्थ व वाच्यार्थ में कार्य-कारण भाव होने से शुद्धा है।

---

८२. त्रिविधापि पुनर्द्वेधा निरूढा च फलान्विता।
सारोपा सा मता यत्र विषयी विषयान्वितः॥
ज्ञेया साध्यवसाना सा विषयी यत्र केवलः।
कार्यकारणभावाद् भेदौ शुद्धाविमौ स्मृतौ॥
सादृश्ये सति गौणौ च शक्यलक्ष्यगुणाश्रयात्।
तद्वाच्यवाचकत्वेन भवेल्लक्षितलक्षणा॥
विरुद्धा व्यतिरेके च लक्षणोक्ता मनीषिभिः।
(कोविदानन्द, पृ० ३१-४०)

८. **निरूढा शुद्धा साध्यवसाना**—'शिवं भजेत्' यहाँ विषयवाचक शम्भु का प्रयोग न होने साध्यवसाना है।

६. **निरूढा गौणी सारोपा**—'स्त्रीरत्नं गिरिजा' यहाँ स्त्रीरत्न पद से स्त्रियों में श्रेष्ठ अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ वाचक (विषय) पद गिरिजा का प्रयोग होने से सारोपा है क्योंकि स्त्री और रत्न में श्रेष्ठतारूप गुण का सादृश्य है इसलिए गौणी है। प्रयोगपरम्परा में प्रसिद्ध होने से निरूढा है।

१०. **निरूढा गौणी साध्यवसाना**—'एषा रत्नं संसारवारिधेः' यहाँ रत्न पद से स्त्रीरत्नरूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। विषयवाचक स्त्रीपद का प्रयोग न होने से साध्यवसाना है।

११. **फलवती शुद्धा सारोपा**—'मुक्तिः शिवस्य पूजैव' यहाँ शिवपूजा कारण है और मुक्ति कार्य (फल) है। अतः कार्यकारणभावसम्बन्ध के कारण मुक्ति शब्द से पूजा अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतीति होकर एक वाक्यता होगी। यहाँ लक्षणा का प्रयोजन मुख्य साधनताप्रतीति एवं आदरातिशय प्रतीति है।

१२. **फलवती शुद्धा साध्यवसाना**—'मुक्ते मा जहीहि माम्'।

१३. **फलवती गौणी सारोपा**—'शिवपूजा मम प्राणाः' यहाँ प्राणपद से पूजा लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। प्रयोजन है—प्राणसदृश शिवपूजा की महिमा और उसके प्रति अतिशय प्रीति।

१४. **फलवती गौणी साध्यवसाना**—'हे प्राणाः विरताः स्थ मा' यहाँ शिवपूजा के लिए प्राण पद का प्रयोग हुआ है और विषय (शिवपूजा) का ग्रहण नहीं है।

१५. **लक्षित लक्षणा**—द्विरेफ, द्वयक्षर इत्यादि से क्रमशः भ्रमर, मांस इत्यादि अर्थ की प्रतीति होती है।

१६. **विपरीत लक्षणा**—'इह साधुकृतं तेन शम्भुः येन न पूजितः' यहाँ साधु पद द्वारा असाधु अर्थ की प्रतीति होती है।

## व्यञ्जना

कुछ आचार्य पहले व्यञ्जना की प्रतिष्ठापना करते हैं फिर उसके लक्षण एवं भेदादि का कथन करते हैं, तो कुछ व्यञ्जना को प्रतिष्ठित मानकर उसके लक्षण व भेदोपभेद का कथन करते हैं।

व्यञ्जना वृत्ति की परिभाषा प्रायः वाच्यार्थ व लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ के बोधक के रूप में की गयी है। श्रीकृष्णशर्मन् के अनुसार वाच्य और लक्ष्य से भिन्न अर्थ की

प्रतीति कराने वाले व्यापार को व्यञ्जना कहते हैं।[८३] हरिदास सिद्धान्तवागीश भी यही लक्षण करते हैं।[८४] आशाधर भट्ट के अनुसार संकेतशक्ति (अभिधा) और सम्बन्ध (लक्षणा) वृत्ति से भिन्न अर्थ बोध की सहकारिणी, वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाली वृत्ति को व्यञ्जना कहते हैं।[८५] विद्याराम की परिभाषा अधिक स्पष्ट है। उनके अनुसार वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ स्वविषयक प्रतीति करा कर जब किसी अन्य अर्थ को व्यक्त करते हैं तो उसे व्यञ्जना कहते हैं।[८६] नरसिंह कवि के अनुसार पदार्थों के अन्वित हो जाने पर जो वाक्यार्थ बनता है उसको उपस्कृत (अलंकृत) करने के लिए जो अर्थान्तर आता है उसको व्यक्त करने वाले शब्द व्यापार को व्यञ्जना कहते हैं।[८७] किन्तु यह परिभाषा अव्याप्तिदोष ग्रस्त है क्योंकि व्यंग्यार्थ सर्वत्र वाक्यार्थ का उपस्कारक नहीं होता। अतः ध्वनिस्थल में अव्याप्ति हो जाती है। मौनी श्रीकृष्ण भट्ट के अनुसार अभिधा और लक्षणा इत्यादि व्यापार के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति नही होती उसकी प्रतीति कराने वाले शब्दादि में रहने वाले व्यापार को व्यञ्जना कहते हैं।[८८] आचार्य छज्जूराम शास्त्री भी यही स्वीकार करते हैं।[८९]

व्यञ्जना वृत्ति शब्द में ही नहीं अपितु अर्थादि में भी रहती है। अतः इसके अनन्त भेद सम्भव हैं, किन्तु व्युत्पत्तिसौकर्य के लिए अच्युतराय ने २८ प्रसिद्ध भेदों का परिगणन किया है—पद, वाक्य, पदार्थ, धातु, सुप्, तिङ्, प्रातिपदिक, काल, वचन, पूर्वनिपात, विभक्ति, तद्धित, चादिनिपात, प्रादि उपसर्ग, सर्वनाम, अव्ययीभाव, इमनिच्

---

८३. वाच्यलक्ष्यविभिन्नार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७९)

८४. वाच्यलक्ष्येतरार्थबोधिका व्यञ्जना (काव्यकौमुदी, पृ० ४३)

८५. संकेतशक्यसम्बन्धविभिन्नसहकारिणी।
वाच्यलक्ष्यातिरिक्तार्थधी हेतुर्वृत्तिरञ्जना।।
(कोविदानन्द, पृ० ४७)

८६. वाच्योऽर्थो वाऽथ लक्ष्योऽर्थो भूत्वात्मविषये स्फुटः।
व्यञ्जयेत्कञ्चिदन्यार्थं यत्सा च व्यंजना स्मृता।।
(रसदीर्घिका, पृ० ५८)

८७. अन्वितेषु पदार्थेषु वाक्यार्थोपस्कारार्थम् अर्थान्तरविषयशब्दव्यापारो व्यञ्जनावृत्तिः (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १६)

८८. शक्तिलक्षणाद्यजन्यप्रतीतिजनकः शब्दादिनिष्ठो व्यापारो व्यञ्जनेति।
(वृत्तिदीपिका, पृ० १२)

८९. विरामे सति वृत्तीनां ययाऽन्योऽर्थः प्रकाश्यते।
शब्दनिष्ठार्थनिष्ठा च व्यञ्जनावृत्तिरिष्यते।।
(साहित्यबिन्दु, पृ० ५०)

प्रत्यय, आधारकर्मभूत, वर्ण, रचना, प्रबन्ध, कविप्रौढोक्ति, रस, वस्तु, अलंकृति, संकर और संसृष्टि।[९०]

**भेद**—अच्युतराय व्यञ्जना के दो भेद करते हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला।[९१] नरसिंह कवि के अनुसार व्यञ्जना तीन प्रकार की होती है—शब्दशक्तिमूला (शाब्दी), अर्थशक्तिमूला (आर्थी) और उभयशक्तिमूला।[९२] आचार्य विद्याराम व्यञ्जना के मोचनी, कामिनी और क्रिया नामक तीन भेद करते हैं। वे प्रस्तुत में अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली व्यञ्जना को मोचनी व्यञ्जना कहते हैं। प्रस्तुत के अन्यार्थ की प्रतीति कामिनी व्यञ्जना से होती है और प्रस्तुत व अप्रस्तुत अर्थ को स्फुरित करने वाली वृत्ति क्रिया व्यञ्जना कहलाती है।[९३] अब इन व्यञ्जना-भेदों के कोविदानन्दोक्त उदाहरण प्रस्तुत हैं।

**शब्दशक्तिमूला**—'पञ्चाननो विजयते हिमवद्भूविहारकृत्' यहाँ प्रकरणगत शिव विषयक वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर सिंहविषयक अप्रकृत व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है अथवा प्रकृत शिव और अप्रकृत सिंह के साम्य रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यहाँ श्लिष्ट पञ्चानन और हिमवद्भू० शब्द परिवृत्त्यसह होने के कारण शब्दशक्तिमूल है।

**अर्थशक्तिमूला**—'शिवप्रसादशिखरे सानन्दान् पश्य पक्षिणः' यहाँ पक्षियों के सानन्द होने के कारण भयाभाव की तथा उसके कारण के रूप में जनसंचाराभाव की प्रतीति होती है। फलतः यह पूजोपयोगी स्थल है, इस अर्थ की प्रतीति अर्थ के द्वारा होती है।

---

९०. पदं वाक्यं पदार्थश्च वाक्यार्थो धातुरप्यथ।
सुप् तिङ् च प्रातिपदिकं कालो वचनमेव च ॥
अपि पूर्वनिपातश्च विभक्तिः कापि तद्धितः।
निपाताश्चादयः प्राद्याः उपसर्गास्तथैव च ॥
सर्वनामाव्ययीभाव इमनिचप्रत्ययस्तथा।
आधारः कर्मभूताख्यो वर्णाश्च रचनास्तथा ॥
प्रबन्धाश्च कविप्रौढोक्ती रसो वस्त्वलंकृतिः।
संकरश्चापि संसृष्टिरिति दिग्दृक्स्थलेऽस्ति सा ॥ (साहित्यसार, पृ० ७०)

९१. अभिधालक्षणामूलत्वभिधासौ द्विधा यथा। (वही, पृ० ७०)

९२. सा त्रिधा शब्दार्थोभयशक्तिमूलकत्वेन। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १६)

९३. व्यञ्जना त्रिविधा ज्ञेया मोचनी कामिनी क्रिया
प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्फूर्तिर्यया सा मोचनी स्मृता।
प्रस्तुतस्य तु यान्यार्थं व्यञ्जयेत्सा तु कामिनी
प्रस्तुताऽप्रस्तुतावन्यौ करोति स्फुरितौ क्रिया ॥ (रसदीर्घिका, पृ० ५९)

उभयशक्तिमूला—'भाति भूतिकृतच्छाय: प्रभु: सर्वप्रियङ्कर:' यहाँ प्रकरणगत राजाविषयक वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर शिव विषयक अप्राकरणिक व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तथा प्राकरणिक व अप्राकरणिक अर्थ के साम्य को प्रतीति भी व्यञ्जना द्वारा होती है। यहाँ 'भूति' शब्द परिवृत्त्यसह है और 'सर्व' व 'छाय' शब्द परिवृत्तिसह।

शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना के अभिधामूला और लक्षणामूला दो भेद होते है। अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना के आचार्यों ने प्रायः दस भेद किये हैं। नरसिंह कवि ने इन्हें ध्वनिहेतु कहा है। ये हैं—वक्ता, बोध्य (प्रतिपाद्य), काकु, देश, काल, अन्यसन्निधि, वाच्य, प्रकरण, चेष्टा इत्यादि।[९४] आचार्य इनके अतिरिक्त निर्विकारता को भी सहकारी मानता है अर्थात् निर्विकारता से भी व्यञ्जना निकलती है। यथा—

तृणेषु दष्टेषु विरोधिवर्गैर्नञ्जक्षितीन्द्रात्मजसैनिकेषु।
न वीरवादो न धनुर्विकर्षो न भ्रूविभङ्गो न च गर्जितानि॥
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २३)

यहाँ सैनिकों के विकाराभावरूप कथन से विरोधिवर्ग में क्रोध का उपशम अभिव्यक्त हो रहा है।

—०—

९४. वक्ता बोध्यश्च काकुश्च देशः कालोऽन्यसन्निधिः।
वाच्यं प्रकरणं चेष्टेत्याद्याः स्युर्ध्वनिहेतवः॥ (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २१)

चतुर्थ अध्याय

# रस एवं भाव विवेचन

भारतीय साहित्य शास्त्र में रस-विवेचन महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। रस-सम्प्रदाय एवं ध्वनि-सम्प्रदाय ने तो रस को काव्यात्मतत्त्व स्वीकार किया ही है, अलङ्कार, रीति इत्यादि अन्य सम्प्रदायों का सूक्ष्म विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि उन्होंने भी किसी न किसी रूप में रस की सत्ता को स्वीकार किया है। आचार्य राजशेखर के अनुसार ब्रह्मा के उपदेश से नन्दिकेश्वर ने सर्वप्रथम रस का प्रतिपादन किया,[1] किन्तु नन्दिकेश्वर का रस-मत प्राप्त नहीं है। प्रथम उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरतमुनि का है।

काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही रस-स्वरूप, रसाभिव्यक्तिप्रक्रिया और रस-संख्या विषयक विवाद दृष्टिगत होता है। आचार्य भरत के अनुसार भावों से रसों की निष्पत्ति होती है।[2] वे रस के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग तो नहीं करते किन्तु उसका प्राधान्य अवश्य स्वीकार करते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्य की दृष्टि से ही रस का विवेचन किया है, किन्तु परवर्ती सभी आचार्यों ने उसे काव्य एवं नाट्य दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा उपयुक्त माना। अग्निपुराणकार का भी कहना है कि न तो भाव से हीन रस होता है और न रस से रहित भाव। वे स्पष्ट रूप से रस को काव्य का जीवित (आत्मा) मानते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुये भी रसध्वनि को ही सर्वोत्कृष्ट माना है। महिमभट्ट भी रसात्मवादी हैं, किन्तु वे रस को व्यंग्य न मानकर अनुमेय मानते हैं।[3] राजशेखर ने काव्य की आत्मा रस माना है।[4] उन्होंने सर्वप्रथम रस को प्रतीयमान एवं अलौकिक स्वीकार किया। भोजराज ने काव्य

---

१. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः (काव्यमीमांसा, पृ० ४)

२. दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति
(नाट्यशास्त्र, पृ० २८८)

३. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।
अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ॥
(व्यक्तिविवेक, पृ० १११ व १)

४. रस आत्मा (काव्यमीमांसा, पृ० १५)

के तीन भेद—वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति—किये। इनमें उन्होंने रसोक्ति की प्रधानता स्वीकार की। उनका मत है कि विभावादि भावों से रसों की उत्पत्ति नहीं होती अपितु अहंकार (अभिमान) ही रस है यानि आत्मा का अहंकार-विशेष ही श्रृंगार है। यही अहंकार रसनीय होने से रस कहलाता है। इस प्रकार आचार्य भोज केवल श्रृंगार को ही रस मानते हैं एवं हास्यादि को गतानुगतिक न्याय से रस कहते हैं। आचार्य भोज ८ स्थायीभाव और ३३ व्यभिचारी भावों की कुल नियत ४९ संख्या स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अवस्था-विशेष में कोई भी भाव कभी सात्त्विक, कभी स्थायी और कभी व्यभिचारी हो सकता हैं। आचार्य मम्मट व्यंग्य के तीन भेद स्वीकार करते हुये भी रसध्वनि को मुख्य मानते हैं। वे रस की व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार करते हैं। रूय्यक स्पष्ट रूप से रसादि को काव्य का जीवितभूत मानते हैं।[५] कविराज विश्वनाथ ने भी मम्मट सम्मत रसस्वरूप स्वीकार किया। विश्वनाथ एवं मम्मट में कोई तात्त्विव मतभेद नहीं है। कवि कर्णपूर ने ध्वनि को काव्य का प्राण एवं रस को आत्म तत्त्व स्वीकार किया। केशव मिश्र ने रस को काव्य में आत्मस्थानीय ही माना। पण्डितराज जगन्नाथ चैतन्यविशिष्ट रत्यादि को रस न मानकर रत्यादि विशिष्ट चैतन्य को रस स्वीकार करते हैं। अतएव उनके मत में रसचर्वणा चिद्गत आवणभंग रूप न होकर आनन्दाकार चित्तवृत्तिरूप है।

जहाँ तक रस की संख्या का प्रश्न है, भरतमुनि प्रतिपादित श्रृंगारादि आठ रसों को तो सभी आचार्यो ने स्वीकार किया किन्तु शान्तरस के विषय में विप्रतिपत्ति रही है। कुछ आचार्यों ने श्रव्य काय में तो शान्त रस की सत्ता स्वीकार की किन्तु दृश्य काव्य में उसका निषेध किया। इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने इन रसों में प्रकृति-विकृति भाव माना और कुछ आचार्यों ने इन नव रसों के अतिरिक्त वात्सल्य, प्रेय (प्रेयान), प्रीति, स्नेह, ब्राह्म, भक्ति, श्रद्धा, लौल्य, कार्पण्य, माया इत्यादि को भी रस स्वीकार किया। मधुसूदन सरस्वती का मत है कि जितनी भी चित्तद्रुतियां (मनोविकार) है, वे सभी स्थायी भाव हैं, जो विभावादि के योग से रस हो जाते हैं। रुद्रटकृत काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु का भी कहना है कि ऐसी कोई चित्तवृत्ति ही नहीं जो परिपुष्ट होने पर रसत्व को न प्राप्त हो।

भरतमुनि ने श्रृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स को चित्त की विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप—चतुर्विध अवस्थाओं के आधार पर मूल रस माना है और इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की उत्पत्ति मानी है। आचार्य अभिनवगुप्त शान्तरस को प्रकृति तथा अन्य रसों को विकृति रस मानते हैं। इसी प्रकार नाटककार भवभूति करुण रस को प्रकृति तथा अन्य रसों को विकृति रस स्वीकार करते हैं। भोजराज सभी रसों के मूल में श्रृंगार (प्रेम श्रृंगार) रस, कविराज विश्वनाथ

---

५. रसादयस्तु जीवितभूता नालङ्कारत्वेन वाच्याः अलङ्काराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। (अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १२)

अद्‌भुतरस, तथा रूप गोस्वामी भक्तिरस मानते हैं। कवि कर्णपूर का कहना है कि परमार्थतः रस एक है किन्तु रत्यादि उपाधियों के भेद से भिन्न प्रतीत होता है।

पण्डितराजोत्तरवर्ती आचार्य प्रायः पूर्ववर्ती आचार्यों के रस-लक्षण को स्वीकार करते हैं। इस युग में किसी नवीन रस की स्थापना का अभाव भी दृष्टिगोचर होता है। रस सिद्धान्त का विवेचन करने से पूर्व उसके तत्त्वों विभावादि की व्याख्या आवश्यक है।

**विभाव**—जो रत्यादि स्थायी को विशेष रूप से उत्पन्न करते हैं, उसे विभाव कहते हैं।[६] इस प्रकार यह निमित कारण होता है। चित्रधर,[७] अच्युतराय[८] एवं छज्जूराम शास्त्री[९] भी यही व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं। हरिदास सिद्धान्तवागीश अधिक स्पष्ट शब्दों में लक्षण करते हैं - काव्यश्रोता अथवा काव्यदर्शक रूपी सामाजिकों के अनुरागादि को उत्पन्न करने वाले काव्यनिविष्ट तत्त्व को विभाव कहते हैं।[१०] इसके दो भेद हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। रस जिसका आलम्बन कर उत्पन्न होता है, उसे आलम्बन विभाव कहते हैं।[११] रस का आलम्बन विभाव प्रायः नायक (प्राणी) होता है।[१२] नृसिंह कवि आलम्बन विभाव को रस का समवायिकारण कहते हैं।[१३] आचार्य गंगाराम जडी आत्मबोध का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मबोध में विषय और हेतु आत्मा ही होता है उसी प्रकार रसबोध में स्थायीभाव का विषय और आलम्बन विभाव रूप हेतु दोनों एक ही होता है अर्थात् स्थायी ही है। अतः इस दृष्टि से स्थायीभाव ही आलम्बन विभाव है।[१४]

जो रस को उद्दीप्त करते हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं।[१५] यद्यपि उद्दीपन रत्यादि स्थायीभाव का कारण नहीं होता किन्तु वह स्थायीभाव का ईषत् उत्कर्षा-

---

६. विशेषेण भावयति उत्पादयति रत्यादीनिति व्युत्पत्त्या सिद्धो विभावः कारणस्वरूपः (काव्यविलास, पृ० ४)

७. रत्यादेः स्थायिभावस्य यत्कारणं स काव्यारूढो विभावः (श्रृंगारसारिणी, पृ० २१)

८. विभावयन्ति प्रकटयन्ति स्थायिन इति व्युत्पत्त्या स्थायिनिमित्तत्वं तत्त्वम् (साहित्यसार)

९. लोके रत्यादिजनका विभावाः काव्य एव ते (साहित्यबिन्दु, पृ० ६२)

१०. काव्यनिवेशितो लोकरागाद्याविर्भावको विभावः (काव्यकौमुदी, पृ० ६०)

११. आलम्ब्योत्पद्यते यं वै रस आलम्बनं हि सः (रसदीर्घिका, पृ० ४)

१२. आलम्बनविभावस्तु रसानां नायको मतः (वही, पृ० ४)

१३. रससमवायिकारणमालम्बनविभावः (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ३७)

१४. उद्दीपयति यो वै तं स उद्दीपनकः स्मृतः (रसदीर्घिका, पृ० ४)

१५. आत्मावबोधविषयो हेतुश्चात्मा यथा भवति।
स्थायिविषयोऽपि तस्मिन् हेतुश्चालम्बनविभावः॥ (रसमीमांसा, पृ० १०)

धायक अवश्य होता है। अतः उद्दीपक में भी कारकत्व का उपचार होने से विभाव कहा जाता है।[१६] श्रीकृष्ण कवि एवं नृसिंह कवि शृंगारतिलक ग्रन्थ के आधार पर उद्दीपन विभाव के चार भेद स्वीकार करते हैं—[१७] (अ) आलम्बनगुण—रूप यौवनादि, (ब) आलम्बन अलङ्कार—हार, नुपूरादि, (स) आलम्बनचेष्टा—हावभावादि, (द) तटस्थ—मलयानिल, चन्द्रादि।

भाव—रस के अनुकूल विकार को भाव कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं—शारीर एवं आन्तर। शारीर भाव दो प्रकार का होता है—अनुभाव और सात्त्विक। इसी प्रकार आन्तर भाव दो तरह के होते हैं—व्यभिचारी और स्थायी।[१८] शिवराम त्रिपाठी के अनुसार निर्विकल्पक चित्त में जो प्रथम विकार उत्पन्न होता है, उसे भाव कहते हैं।[१९] ब्रह्मानन्द शर्मा भाव को चेतना का परिणाम कहते हैं। ये भाव विषयों से उत्पन्न होते हैं। चेतना में परिवर्तन करने वाले ये विषय दो प्रकार के होते हैं—आकर्षक और विकर्षक। अवस्था आदि के भेद से इनके अनेक रूप हो जाते हैं। इसलिए भावों की संख्या अधिक हो जाती है।[२०]

अनुभाव—जो रसोत्पत्ति का बोध कराते हैं, ऐसे प्रयत्नज शरीर के धर्म येक अनुभाव कहते हैं, यथा स्मित, कटाक्षादि।[२१] चूंकि इनकी उत्पत्ति बाद में होती है'

---

१६. यद्यप्युद्दीपकस्य स्थायिनि न कारणत्वं, किं तूत्पन्ने तस्मिन् ईषदुत्कर्षाधायकत्वरूपम् उद्दीपकत्वम् (रसविलास, पृ० २)

१७. उद्दीपनविभावोऽपि प्रोक्तः प्राज्ञैश्चतुर्विधः।
आलम्बनालंकरणं तच्चेष्टा तद्गुणास्ता।
तटस्थश्चेति.................................(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ६९)

१८. रसानुकूलविकृतिर्भावः स द्विविधो मतः।
आन्तरश्चैव शारीर इतीदं सर्वसम्मतम्॥
आन्तरस्तु द्विधा स्थायिव्यभिचारिभेदतः। (वही, पृ० ६२, ६७)

१९. भावो विकारश्चित्ते स्यान्निर्विकल्पे य आदिमः (रसरत्नहार, ६३)

२०. चेतनापरिणामा ये ते भावा इति मे मतिः।
उद्भवे हेतुरेतेषाम्, विषया इत्यसंशयम्॥
विषया द्विविधा एते, चेतनापरिवर्तिनः।
आकर्षका मताः केऽपि, अन्ये सन्ति विकर्षकाः॥
अवस्थादिकभेदेने, एषामनेकरूपता।
भावानामपि तस्मात् स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी॥
(काव्यसत्यालोक, पृ० ४३-४५)

२१. अथो रसानुभवगोचरत्वं नयन्ति ये।
प्रयत्नजा देहधर्मा अनुभावाश्च ते मताः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ६८)

इसलिये ये रत्यादि स्थायी के कार्यरूप हुये।[२२] छज्जूराम शास्त्री की परिभाषा कविराज विश्वनाथ की अनुगामी है और अधिक स्पष्ट है—आलम्बन तथा उद्दीपन कारणों से रामादि के हृदय में उद्भूत रत्यादि को बाहर प्रदर्शित करने वाला, लोक में जो रत्यादि का कार्यरूप होता है, उसे अनुभाव कहते हैं।[२३] श्रीकृष्ण कवि एवं अच्युतराय अनुभाव के चार भेद स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्ण कवि सर्वप्रथम अनुभाव के दो भेद करते हैं—शुद्ध और अभिनय। शुद्ध अनुभाव अनारोपित होता है जबकि अभिनय अनुभाव नट में आरोपित होता है। इन दोनों के पुनः दो भेद होते हैं—वाचिक और आङ्गिक। वाणी के व्यापार को वाचिक एवं अंग के व्यापार को आंगिक अनुभाव कहते हैं।[२४] अच्युतराय भी अनुभाव के चार भेद—कायिक, मानस, आहार्य और सात्त्विक—स्वीकार करते हैं।[२५] शरीर में उत्पन्न भाव को कायिक, मन में उत्पन्न भाव को मानस, नट में रामत्वादि के अभिनय को आहार्य एवं सत्त्व गुण की प्रधानता से उत्पन्न होने वाले भाव को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं।

**सात्त्विक भाव**—आचार्य भूदेव शुक्ल सात्त्विक भाव को अनुभाव के अन्तर्गत ही मानने के पक्षपाती हैं, क्योंकि ये भी रत्यादि के कार्य हैं।[२६] इनका भिन्न रूप से प्रतिपादन इसलिये होता है कि ये नियतकारण सत्त्व से उत्पन्न हैं। आचार्य वेणीदत्त के अनुसार चूंकि जीवयुक्त शरीर को सत्त्व कहते हैं, अतः शरीर के भावों को सात्त्विक भाव कहा जाता है।[२७] किन्तु इस लक्षण से तो कटाक्षादि अनुभाव सात्त्विकभाव के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। गंगाराम जडी भी इसे शारीर कहते हैं।[२८] श्रीकृष्ण कवि सत्त्व की विशद व्याख्या करते हैं—स्वगत अथवा परगत सुख-दुःखादि भावना से भावित

---

२२. अनु पश्चात् भाव उत्पत्तिर्यस्येति व्युत्पत्त्याऽनुभावः कार्यरूपः।
(काव्यविलास, पृ० ४)

२३. स्व-स्वहेतुभिरुद्भूतं बहिर्भावं प्रदर्शयन्।
कार्यरूपो हि यो लोकेऽनुभावः सोऽत्र मन्यते ॥ (साहित्यबिन्दु, पृ० ६३)

२४. अनुभावा द्विधा प्रोक्ताः शुद्धाभिनयभेदतः।
तत्रानारोपिताः शुद्धा अन्त्या आरोपिता नटे ॥
द्विविधाः स्युः पुनर्द्वेधा वाचिकाङ्गिकभेदतः।
वाग्व्यापारो वाचिकः स्यादङ्गव्यापार आङ्गिकः ॥
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ९८)

२५. अनुभावा अथ तथा क्रमाद् बोध्याश्चतुर्विधाः।
कायिका मानसास्तद्वदाहार्याः सात्त्विका अपि ॥ (साहित्यसार, पृ० १०५)

२६. सात्त्विकास्त्वेतदन्तर्गता एव। तेषामपि रत्यादिकार्यत्वात् (रसविलास, पृ० ५)

२७. सत्त्वं च जीववान् देहस्तस्य धर्मास्तु सात्त्विकाः (रसकौस्तुभम्, पृ० ७७)

२८. सात्त्विकाः शारीराः (रसमीमांसा, पृ० १५)

अन्तःकरण को सत्त्व कहते हैं और अयत्नज (स्वाभाविक) देहधर्म को सात्त्विक भाव कहते हैं।[२९] विश्वेश्वर पाण्डेय मानस विकार विशेष को सत्त्व कहते हैं। मन के समाहित होने से सत्त्व उत्पन्न होता है। सर्वोत्कृष्ट मन में उत्पन्न होने वाले भाव सात्त्विक भाव हैं।[३०] सात्त्विकभाव आठ प्रकार के होते हैं—स्तम्भ, प्रलय, रोमाञ्च, स्वेद, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु एवं वैस्वर्य।[३१] शिव प्रसाद भारद्वाज इनके अतिरिक्त निःश्वास, स्फुरण, लोचनरक्तता की भी गणना करते हैं।[३२]

**व्यभिचारी भाव**--सतत प्रवाह रूप स्थायीभाव में तरंगरूप जो भाव उन्मज्जित व निमज्जित (आविर्भूत व तिरोभूत) होते रहते हैं, उन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं।[३३] ये स्थायी का उपकार करने के लिये आते हैं और उपकार करने के बाद चले जाते हैं।[३४] चूंकि ये भाव सभी रसों में बिना नियम के उत्पन्न होते हैं, अतः व्यभिचारी कहलाते हैं।[३५] आचार्य वेणीदत्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की ओर संकेत करते हैं—जो काव्य में सर्वतः स्थायीभावों का विशेषरूप से संचार कराते हैं तथा अनुभावादि के हेतु हैं, उन्हें व्यभि-

---

२९. स्वपरान्यतरप्राप्त सुखदुःखादिभावनाम्।
लब्धं यदन्तःकरणं सत्त्वं तद्वत्तया तथा।
अयत्नजो देहधर्मः सात्त्विकभाव उच्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ९७)

३०. सत्त्वं मानसविकारविशेषः।
सर्वोत्कृष्टे मनसि ये प्रभवन्ति भावाः।
ते सात्त्विका निगदिता कविभिः पुराणैः।
समंजसा (रसमंजरी टीका) हस्तलेख, पृ० ९५
उद्धृत, काव्यशास्त्र में विश्वेश्वर पर्वतीय का योगदान (शोधप्रबन्ध)

३१. स्तम्भः प्रलयरोमाञ्चौ स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू।
अश्रु वैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विताः परिकीर्तिताः।।
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ३८)

३२. केचिद् अतिरिक्ताः सात्त्विका भावाः।
(All India oriental Conf.—Summeries of Papers, 1968)

३३. आभिमुख्यात्तिरोभावाविर्भावाभ्यां चरन्ति ये।
स्थायिभावेषु सत्स्वेव रसेषु व्यभिचारिणः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ९२)

३४. ये तूपकर्त्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्।
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिण :॥
(रसविलास, पृ० ६) काव्यप्रदीप से उद्धृत

३५. बिना च नियमेनापि सर्वेष्वपि रसेषु यः।
भाव उत्पद्यते सोऽत्र व्यभिचारी समीरितः।।॥ (रसकौस्तुभ, पृ० ८७)

चारी भाव कहते हैं।[३६] छज्जूराम शास्त्री का भी कहना है कि रस के सम्मुख में संचरण के कारण इन्हें संचारी पदवी प्राप्त है।[३७] ये मन के धर्म हैं। विश्वेश्वर पाण्डेय परम्परा प्राप्त शब्दवली से भिन्न शब्दों में लक्षण प्रस्तुत करते हैं— विभाव और अनुभाव से भिन्न जो भाव स्थायी के अनुकूल होते हैं, उन्हें व्यभिचारी कहते हैं। अनुकूलता का तात्पर्य है—वे भाव, जो रस के व्यञ्जक हों और रसप्रतीति के विषय हों।[३८] सभी आचार्य पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य तेंतीस व्यभिचारी भावों को ही स्वीकार करते हैं।

विश्वेश्वर पाण्डेय उपर्युक्त कारण, कार्य और सहकारीरूप विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भाव को क्रमशः ईषत् स्फुट, स्फुटतर और प्रकाशरूप मानते हैं।[३९]

**स्थायी भाव**— रस के सूक्ष्म रूप को स्थायीभाव कहते हैं। ये भाव स्थायी इसलिये कहलाते हैं कि रसानुभूति पर्यन्त वर्तमान (स्थिर) रहते हैं।[४०] हरिदास सिद्धान्त वागीश का भी कहना है काव्य के दर्शन या श्रवण पर्यन्त जो भाव अन्य किसी भाव से आहत नहीं होता, अपितु वर्तमान रहता है, उसे स्थायीभाव कहते हैं।[४१] नृसिंह कवि के अनुसार भाव की स्थायिता का तात्पर्य है—सजातीय व विजातीय (अविरुद्ध व विरुद्ध) भावों से विच्छिन्न न होते हुए रसानुभवपर्यन्त अवस्थित रहना।[४२] आचार्य सामराज दीक्षित का भी यही मन्तव्य है कि स्थायी अभिधान इन भावों की नित्यता के कारण नहीं है, अपितु विरुद्ध और अविरुद्ध भावों से अभिभूत न होने कारण ही ये भाव स्थायी कहलाते हैं।[४३] अच्युतराय के अनुसार जो भाव वासनात्मक होने पर भी पुनः अभिव्यक्त होते हैं उन्हें स्थायी भाव कहते हैं।[४४] 'पुनः' कहने से संचारी भाव में अतिव्याप्ति का

---

३६. विशेषेणाभितः काव्ये स्थायिनं चारयन्ति ये।
अनुभावादिहेतूंस्तान् वदन्ति व्यभिचारिणः॥ (वही, पृ० ८७)

३७. सम्मुखे चरणादेते संचारि-पदवीं श्रिताः। (साहित्यबिन्दु, पृ० ६४)

३८. स्थाय्यनुकूलत्वे सति विभावानुभावभिन्नत्वं लक्षणम्।
अनुकूलत्वं तु रसव्यञ्जकत्वे सति रसप्रतीतिविषयत्वम्।
(रसचन्द्रिका, पृ० ६९)

३९. तेषां च ईषत्स्फुट स्फुटतर प्रकाशरूपत्वात् (वही, पृ० ४६)

४०. रसानां सूक्ष्मरूपाणि स्थायिभावाश्च सम्मताः।
स्थायित्वव्यपदेशोऽत्र स्थायित्वाद् रसरूपतः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ३)

४१. यावदनुभवमव्याहतो भावः स्थायी। (काव्यकौमुदी, पृ० ४८)

४२. भावस्य स्थायित्वं नाम सजातीयविजातीयानभिभूततया यावदनुभवमवस्थानम्)
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ३७)

४३. विरुद्धाविरुद्धभावानभिभाव्यतया स्थायित्वव्यपदेशो, न तु नित्यतया
(शृंगारामृतलहरी, पृ० १३१)

४४. तस्मान्मुहुः प्रकटवासनाविशेषत्वं स्थायित्वमिति तल्लक्षणं फलितम्
(साहित्यसार-सरसामोद, पृ० १०४)

निवारण हो जाता है। चूंकि रत्यादि स्थायी भाव अभिलाषाद्यात्मक हैं, अतः इनका आस्वादन नहीं हो सकता और ये कथमपि रस नहीं हो सकते, क्योंकि रस तो आनन्दात्मक होता है।[४५] भूदेव शुक्ल रस से स्थायिभाव का वही भेद मानते हैं जो घटावच्छिन्न आकाश से घट का है।[४६] राजचूडामणि दीक्षित का मत है कि अन्य भावों (अनुभाव, व्यभिचारी भाव) के द्वारा उपकार्य होने के कारण स्थायी भाव प्रधान हैं।[४७]

राजचूडामणि दीक्षित मूलतः एक ही स्थायी मानते हैं; उनका मत है कि परिस्थिति विशेष में उसकी भिन्न-भिन्न संज्ञा हो जाती है।[४८] पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित नव स्थायी भावों के विषय में प्रायः विप्रतिपत्ति दृष्टिगत नहीं होती। आचार्य अच्युतराय भरतमुनि से भिन्न क्रम में नव रसों एवं उनके स्थायी का उल्लेख करते हैं।[४९] वे साहित्यसार की सरसामोद टीका में निर्वेदादि की परिभाषा के साथ-साथ उनकी सात्त्विकादि युक्तता का रहस्य भी उद्घाटित करते हैं। सत्त्व से ज्ञान, रजस् से लोभ और तमस् से से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान उत्पन्न होता है।

(१) निर्वेद—विवेकपूर्वक दृश्यों में उदासीनता का होना निर्वेद है। सत्-असत् के ज्ञान को विवेक कहते हैं। सदसत् ज्ञान मात्र पर आश्रित होने के कारण निर्वेद स्थायी शुद्ध सात्त्विक रूप है और शान्त रस का उपादान है।[५०]

(२) रति—स्त्री-पुरुष का परस्पर किसी एक पर आश्रित अथवा कहीं दोनों पर आश्रित प्रेम नामक चित्तवृत्ति विशेष को रति कहते हैं। यह ज्ञान घटित होने पर लोभ का हेतु होने से श्रृंगार का उपादान है।[५१] हरिदास सिद्धान्तवागीश रति के स्थान पर राग को श्रृंगार का स्थायी मानते हैं।[५२]

---

४५. अभिलाषाद्यात्मकत्वाद्रत्यादि स्थायिनां पुनः।
अतो न रसतैतेषामानन्दात्मा यतो रसः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०१)

४६. रसेभ्यः स्थायिभावानां घटावच्छिन्नाकाशात् घटानामिव भेदः।
(रसविलास, पृ० ६)

४७. भावान्तरोपकार्यत्वात्प्रधानत्वेन ते मताः (काव्यदर्पण, पृ० १८४)

४८. एक एवनित्यः सुखविशेषः सर्वेषु रसेषु स्थायीति पक्षे तु तत्तद्विभावादिभिः अङ्कुरादिदशां नीयमानं नित्यं सुखम् एकमेव रतिहासादिसंज्ञा लभते
(वही, पृ० १५८)

४९. निर्वेदोऽथ रतिः शोको हासोऽथ विस्मयो भयम्।
उत्साहोऽथ जुगुप्सा च क्रोधश्चेति पुरातनैः॥ (साहित्यसार, पृ० १०३)

५०. तस्य सदसज्ज्ञानघटितत्वेन शुद्धसात्त्विकत्वादुक्तरूपशान्तरसोपादानत्वम्।
(वही, पृ० १०३)

५१. अस्य तु ज्ञानघटितत्वेऽपि लोभहेतुत्वादुक्तरूपश्रृङ्गारोपादानत्वम्
(वही, पृ० १०३)

५२. रागादयो दश स्थायिभावाश्चामीषां बीजानि (काव्यकौमुदी, पृ० ४८)

(३) शोक—इष्ट व्यक्ति के वियोग से उत्पन्न रति-अनवच्छिन्न मन के विकार को शोक कहते हैं। विप्रलम्भ शृंगार में अतिव्याप्तिवारण के लिये 'रत्यनवच्छिन्न' कहा गया है। यह मोहपूर्वक ज्ञानविशेष होने के कारण करुणरस का उपादान है।[५३]

(४) हास—कुतूहल से उत्पन्न विकास को हास स्थायी कहते हैं। यह लोभपूर्वक ज्ञान घटित होने के कारण हास्य रस का उपादान है।[५४]

(५) विस्मय—चमत्कार के दर्शनादि से उत्पन्न चित्तवृत्ति विशेष को विस्मय कहते हैं। चूंकि यह अतिलोभपूर्वक होता है, अतः अद्‌भुत रस का हेतु है।[५५]

(६) भय—अपने प्रतिकूल अनुसन्धान से उत्पन्न चित्तवृत्ति विशेष को भय कहते हैं। यह अज्ञानपूर्वक लोभ का हेतु होता है, अतः भयानकरस का कारण होता है।[५६]

(७) उत्साह—सामर्थ्य से उत्पन्न उन्नति नामक मनोविकार को उत्साह कहते हैं। यह ज्ञानपूर्वक प्रमाद होने के कारण वीररस का उपादान होता है।[५७]

(८) जुगुप्सा—अनिच्छित वस्तु के दर्शनादि से उत्पन्न चित्तवृत्ति को जुगुप्सा कहते हैं। यह प्रमाद लोभपूर्वक होता है, अतः बीभत्स रस का उपादान है।[५८] गंगाराम जडी चिकित्सा (विशेष रूप से प्रतीकार की भावना) को जुगुप्सा कहते हैं।[५९]

(९) क्रोध—इच्छा के विनाश से उत्पन्न चित्तवृत्तिविशेष को क्रोध कहते हैं। यह मोहमूलक है और प्रमाद घटित होने के कारण रौद्र रस का उपादान है।[६०]

---

५३. इष्टविच्छेदजन्यो रत्यनवच्छिन्न मनोविकारः शोकः। अस्य च मोहपूर्वक ज्ञानविशेषघटितत्वादुक्तरूपकरुणरसोपादानत्वम्। (साहित्यसार, पृ० १०३)

५४. कुतूहलकृतो विकासो हासः। एतस्य लोभपूर्वकज्ञानघटितत्वादुक्तरूपहास्यरसोपादानत्वम्। (वही, पृ० १०३)

५५. चमत्कारदर्शनादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषो विस्मयः। एतस्यातिलोभपूर्वकत्वादुक्ताद्‌भुतहेतुत्वम् (वही, पृ० १०३)

५६. स्वप्रतिकूलानुसन्धानजं भयम्। अस्याज्ञानपूर्वकलोभहेतुत्वादुक्तरूपभयानकरसोपादानत्वम्। (वही, पृ० १०३)

५७. सामर्थ्यजन्य औन्नत्यनाम मनोविकार उत्साहः अयं च ज्ञानपूर्वकप्रमादैकत्वादुक्तरूपवीररसोपादानम् (वही, पृ० १०४)

५८. अहृद्यदर्शनादिजा चित्तवृत्तिर्जुगुप्सा। अस्याः प्रमादलोभपूर्वकत्वात्तादृशबीभत्सरसोपादानत्वम् (वही, पृ० १०४)

५९. विचिकित्सैव जुगुप्सा स्थायी भावो मतः सुधियाम्। (रसमीमांसा, पृ० २६)

६०. अभिलाषविच्छेदजो वृत्तिविशेषः क्रोधः अस्य च मोहमूलत्वे सति प्रमादघटितत्वादुक्तरूपरौद्ररसोपादानत्वम् (साहित्यसार, पृ० १०४)

### रस-लक्षण

प्राय: सभी आचार्य विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव एवं व्याभिचारी भावों से अभिव्यक्त स्थायीभाव को रस स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्णकवि[६१] समुल्लासित स्थायी-भाव को, नृसिंह कवि[६२] आस्वादनयोग्य स्थायीभाव को और विद्याराम[६३] उत्कृष्ट स्थायी भाव को रस कहते हैं। रामदेव चि० भट्टाचार्य रस को विभावादि से परिपूर्ण स्थायीभाव का परिणाम मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार सुवर्णादि कुण्डलादिरूप में परिवर्तित हो जाते हैं, उसी प्रकार विभावादि से परिपूर्ण स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं।[६४] आचार्य वेणीदत्त भी कविराज विश्वनाथ की भाँति दधिन्याय से अभिव्यक्त स्थायीभाव को रस मानते हैं। जिस प्रकार दुग्ध ही अम्ल के संयोग से जमने पर दही संज्ञक हो जाता है, उसी प्रकार रत्यादि ही विभावादि के संयोग से रस हो जाते हैं।[६५] अच्युतराय रसविषयक प्राचीन एवं नवीन दोनों ही लक्षणों का निरूपण करते हैं, किन्तु वे नवीन मत को अधिक उचित मानते हैं, क्योंकि वह श्रुत्यनुसारी है।[६६] प्राचीन आचार्य विभावादि के द्वारा अज्ञानावरण से रहित चित् के द्वारा वेद्य प्रत्यक्ष स्थायी भाव को रस मानते हैं।[६७] यहाँ यह ध्येय है कि आचार्य ने अभिनवगुप्तादि की भाँति भग्नावरणचिद्विशिष्ट स्थायी न कहकर चिद्वेद्य कहा है, क्योंकि चिद्वेद्यता ही चिद्विशिष्टता है, अन्यथा नील आदि के समान चित् जड़ हो जायगा। नव्य आलंकारिकों के अनुसार विभावादि के संयोग से व्यक्त स्थायी भाव से उपहित (अवच्छिन्न) चित् ही रस है।[६८] हरिदास सिद्धान्त वागीश विभावादि से आविर्भावित चमत्कारानन्दमय सहृदयानुभूति को रस कहते हैं।[६९] उनका कहना है कि जिस प्रकार पृथ्वी, जल और

---

६१. व्यभिचारिविभावानुभावैर्भावैश्च सात्त्विकैः।
एतैःसमुल्लासितोऽयं भावः स्थायी रसो मतः।
अनुभावविभावाद्यैर्यत्र चित्तस्य विश्रमः।
रसं तं ब्रुवतेऽन्येऽन्ये प्रबुद्धस्थायिवासनाम्॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १००)

६२. आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ३७)

६३. आनीयमान उत्कर्षं स्थायिभावो रसः स्मृतः (रसदीर्घिका, पृ० २)

६४. एते एव स्थायिभावा विभावाद्यैः परिपूर्णा रसरूपत्वेन परिणमन्ति, यथा सुवर्णादयः कुण्डलादिस्वेनेति (काव्यविलास, पृ० ४)

६५. विभावाद्यैः प्रतीतैश्च हृदयेषु सभासदाम्।
अभिव्यक्तो दधिन्यायात् स्थायी रत्यादिको रसः॥ (रसकौस्तुभ, पृ० २४)

६६. रसो वै स रसं लब्ध्वानन्दयं स्यादिति श्रुतेः।
पक्षश्चरम एवात्र परमः परमास्पदम्॥ (साहित्यसार)

६७. विभावाद्यैरपाज्ञानचिद्वेद्यः स्थाय्यसौ रसः। (वही, पृ० ८७)

६८. यद्वा तत्संयुतिव्यक्तस्थाय्युपाधिश्चिदेव सः (वही, पृ० ८७)

६९. विभावादिकृतश्चमत्कारानन्दमयः सहृदयानुभवो रसः (काव्यकौमुदी, पृ० ४७)

पवन से युक्त होकर बीज वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार विभावादि भावों से परिपुष्ट होकर रागादि स्थायी भाव रसरूप हो जाते हैं।[७०] भूदेव शुक्ल ने विभावादि से अभिव्यक्त वासनारूप रत्यादि एवं रत्याद्यवच्छिन्न चैतन्य दोनों को ही रस कहा है।[७१] सामराज दीक्षित आनन्दस्वरूप, प्रकाशमान, स्थायिभाव से अवच्छिन्न चैतन्य को रस कहते हैं।[७२]

**रसाभिव्यक्ति प्रकार**—रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में आचार्य विद्याराम का कहना है कि चित्त में चारों ओर से भरा हुआ उद्रिक्त घनीभूत भाव जब विभावादि के द्वारा निकलता है, तो उसे रस कहते हैं।[७३] इस प्रकार निष्पत्ति के तीन सोपान हैं—चित्त का भावों से पूर्ण होना, उद्रेक होना और उनका निकलना।

आचार्य अच्युतराय रसाभिव्यक्ति प्रक्रिया की रसविस्तर चर्चा करते हैं—सुन्दरी इत्यादि आलम्बन विभाव, चन्द्रिकादि उद्दीपन विभाव जब बाह्य होते हैं, तब प्रत्यक्षादि-प्रमाणगम्य होते हैं और स्वप्न व मनोराज्य में ये आन्तरिक रूप से होते हैं और तब केवल साक्षी चित् के द्वारा भास्य होते हैं। यही बात अनुभावादि के लिये भी है। स्वप्न मनोराज्य में कटाक्षादि अनुभाव और स्तम्भादि सात्त्विकभाव बाह्य होते हैं और निर्वेदादि व्यभिचारी भाव आन्तरिक होते हैं। अतः वहाँ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी व्यवसायात्मक प्रत्यक्ष होता है। विभावादि बाह्य पदार्थों का जब चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ संनिकर्ष होता है, तब प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियार्थ संनिकर्ष होने पर अन्तःकरण वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य चक्षुके द्वारा बाहर निकल कर विषयावच्छिन्न चैतन्य आकारता को धारण करता है। इस विषयावच्छिन्न चैतन्याज्ञान के अपसरण से रस की स्फूर्ति होती है। इस प्रकार आन्तर विभावादि का भी साक्षी चित् के द्वारा ही प्रत्यक्ष होता है। विभावादित्रय के संयोग से उत्पन्न लौकिक मानस व्यापारवश आत्मनिष्ठ आनन्दांश आवरण के तात्कालिक अपसरण से साक्षी चित् ही अन्तःकरण में वासना रूप में स्थित रत्यादि स्थायी भाव को भासित करता है। चूंकि वह सुख का

---

७०. बीजं यथा क्षितिजलपवनाद्यनुगृहीतं सत् पादरूपतां भजते तथा रागादयो दश स्थायिनो भावा विभावादिभि र्भावैः परिपोषिताः सन्तः क्रमेण शृङ्गारादिरूपतां भजन्ते। (वही, पृ० ४८)

७१. वासनारूपो रत्यादिरेव रसः। रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यं वा रसः (रसविलास, पृ० ३)

७२. आनन्दरूपप्रकाशमानं स्थायिभावावच्छिन्नं रसः (शृंगारामृतलहरी)

७३. भावैस्तैस्तैर्हि यश्चित्ते पूर्यमाणः समन्ततः।
उद्रिक्तः कोऽपि निर्यायात् भावः सान्द्रो रसः स्मृतः॥ (रसदीर्घिका, पृ० २)

हेतु होता है, इसलिये उसे रस कहते हैं।[७४] 'तात्कालिक' कहने से सिद्ध है रसप्रतीति सद्यः होती है। केवल चिद्वेद्यस्थायीभावत्व कहने पर सुखाभाव की आपत्ति होती, इसलिये आनन्दादि पद की योजना हुई है।

गंगाराम जडी को भी यही रसाभिव्यक्ति प्रकार मान्य है। उनका कहना है कि काव्य से सहृदयों के मानस-सदन में स्थित स्थायी भावों के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के एक साथ मिलने से सहृदय मानस में विभावादि एवं स्थायिभावों के साधारणीकरण का हेतुरूप एक अलौकिक व्यापार की उत्पत्ति होती है और उसी व्यापार से आत्म चैतन्य का आवरण शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अतः मानस वृत्तिरूप स्थायी कान्तादि आलम्बन से उपलक्षित होकर प्रकाशित-चिद्विषय—होता है तथा भग्नावरण ज्ञान से ग्राह्य यह स्थायी ही रस कहलाता है।[७५]

आचार्य भूदेव शुक्ल का भी मत है कि काव्य के द्वारा समुत्पन्न सत्त्वात्मक मनोवृत्ति से अज्ञानांश नष्ट हो जाता है और तब काव्यात्मरूप रस स्फुरित होता है।[७६]

अर्वाचीन आचार्य सम्मत चित् (ब्रह्मानन्द) को रस मानने पर यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्मानन्द तो अनादि—उत्पत्तिशून्य है, फिर 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' और 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' में रस की उत्पत्ति कैसे कही गयी? अच्युतराय इस शङ्का का निवारण करते हुये कहते हैं कि जिस प्रकार कुत्ता अस्थि का चर्वण करता हुआ अपने मुख से उत्पन्न रुधिर को अस्थि जनित मानता हुआ आनन्दित होता है और उसके अभाव में खिन्न होता है, उसी प्रकार जीव अनादि संस्कार से शब्दादि विषयों का सेवन करता हुआ, शब्दादि के प्राप्त हो जाने पर, शब्दादि

---

७४. निरुक्तविभावादित्रयसंयोगेन जनिता लौकिकमानसव्यापारवशात् आत्मनिष्ठानन्दांशावरणस्य तात्कालिकापसरणेन साक्षिचित् एव अन्तःकरणे वासनात्मकतयावस्थितं रत्यादिस्थायिभावं भासयतीति स एव उक्तरीत्या सुखहेतुत्वात् रस इति। विभावादिसामग्र्या तात्कालिकापसरितानन्दावरणचिद्वेद्यस्थायिभावत्वं रसत्वमिति। —(साहित्यसार, पृ० ८७-८८)

७५. कविभिः काव्यैः सुहृदां मानससदनं समानीतैः।
अनुभावैश्च विभावैर्व्यभिचारिभिरपि च सम्भूय॥
कश्चिदलौकिकरूपो व्यापारो जन्यते तत्र।
तस्मात् स्वतः प्रकाशाज्ज्ञानावरणमपसरति द्राक्।
इत्थं च मनोवृत्तिः स्वयकं स्थायी प्रकाशते भूम्ना।
भग्नावरणज्ञानग्राह्यः स्थायी रसोऽनुमन्तव्यः॥ (रसमीमांसा, पृ० ३, ७)

७६. काव्यवाक्यसमुत्पन्न मनोवृत्त्या विनाशिते।
अज्ञानांशे स्फुरन्नव्यादात्मा नवरसात्मकः॥ (रसविलास, पृ० १)

की इच्छा के समाप्त हो जाने से मन के अन्तर्मुख हो जाने पर उस अन्तर्मुखी निर्मल मन में प्रतिबिम्बित अद्वैत ब्रह्मानन्द को विभावादि-सम्बद्ध मानकर सुख-दुःख को प्राप्त होता है।[७७]

इस प्रकार कान्तादि आलम्बन विभावों का रसव्यञ्जकत्व भ्रान्ति ही है। वस्तुतः ब्रह्मानन्द ही रस है और इच्छाध्वंस ही उसका व्यञ्जक है।[७८] अतः पूर्वाचार्यो से विरोध पड़ता है। इस पर अच्युतराय का अभिमत है कि पूर्वाचार्यों ने अलङ्कारशास्त्र की प्रक्रिया के अनुरोध से लौकिक दृष्टि से वैसा कहा है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि अन्ततः उन्हें भी यही अभीष्ट है। पुनः प्रश्न उठता है कि उन्होंने यह अद्वैत मत क्यों नहीं प्रस्तुत किया। इसका एक ही उत्तर है कि गुडजिह्विकान्याय और स्थलारून्धती न्याय से मूढ़ जनों का चिद्रत्न में दृढ़ता से बोध असम्भव होने के कारण परम्परया प्रवेश के लिये। सभी शास्त्रों का वस्तुतः अद्वैतात्म में ही पर्यवसान होता है। इस प्रकार अच्युतराय अद्वैत ब्रह्म को ही मुख्यतः रस मानते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि रस उक्त रूप ही है तो उसे नित्य होना चाहिये और यह अनुपपन्न है क्योंकि 'उत्पन्नो रसः, नष्टो रसः, सम्यगद्य अनुभूते रसः' इत्यादि अनुभव से विरुद्ध है। इस पर अच्युतराय का कहना है कि रस की नव्य परिभाषा में स्थायीभाव से उपहित चित्त को ही प्रकृत रस स्वीकार किया गया है और अंश भेद से उभय व्यवस्था भी है। स्थायीभाव से उपहित चित् में चिदंश नित्यत्व, आनन्दत्व एवं आत्मभत्व (प्रकाशत्व) तथा रत्यादिस्थायीभावांश से भास्यत्व व अनित्यत्व सिद्ध है।[७९] पण्डितराज ने चिदंश से नित्यत्व व प्रकाशत्व ही माना है,[८०] जबकि अच्युतराय उसमें आनन्दत्व भी जोड़ देते हैं, जिससे रसस्वरूप स्पष्टतर हो जाता है।

---

७७. श्वा यथा चर्वयन्नस्थि ततः स्वमुखशोणितम्।
मत्वा तदीयं रमते तद्वियोगे च खिद्यति॥
तथैवानादिसंस्कारैर्जीवः शब्दादिकं भजन्।
तल्लाभेन तदिच्छाया ध्वंसेऽन्तर्मुखमानसे॥
प्रतिबिम्बितमानन्दं ब्रह्मैवात्मानमद्वयम्।
तदीयत्वेन मत्वाथ सुखदुःखे व्रजत्यलम्॥ (साहित्यसार)

७८. वस्तुतस्तु प्रत्यगभिन्नाद्वैतब्रह्मरूपानन्दस्यैव रसत्वात् इच्छाध्वंसस्यैव उक्तरीत्या तद्व्यञ्जकत्वात् चेति सिद्धम् (वही, पृ० ८६)

७९. नित्यानन्दात्मभत्वानि सिद्धान्यत्र चिदंशतः।
रत्याद्यंशेन भास्यत्वमनित्यत्वमपि स्फुटम्॥ (वही, पृ०)

८०. चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्।
(रसगंगाधर, पृ० ११८)

## रस-भेद

रसों की संख्या के विषय में पण्डितराजोत्तर आचार्यों में मतवैभिन्न्य है। कुछ आचार्य रस के आठ भेद स्वीकार करते हैं तो कुछ नव और कुछ इससे भी अधिक। प्राय: आचार्य नव रस मानने के पक्षपाती दिखायी पड़ते हैं। श्रीकृष्ण कवि[८१] प्रभृति कुछ आचार्य पहले तो सर्वमान्य आठ रसों का उल्लेख करते हैं किन्तु अन्ततः शान्तरस को मात्र श्रव्यकाव्यगत मानकर उसका भी निरूपण करते हैं। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण कवि, हरिदास सिद्धान्तवागीश[८२] प्रभृति आचार्य वात्सल्य रस एवं श्रीकृष्ण कवि विद्याराम प्रभृति आचार्य माया रस और विद्याराम, अच्युतराय प्रभृति आचार्य भक्ति-रस का भी विवेचन करते हैं। शिवराम त्रिपाठी श्रद्धा रस भी मानते हैं।

आचार्य वेणीदत्त[८३] एवं अच्युतराय[८४] भरतकारिकाक्रम को छोड़कर भिन्न क्रम से नव रसों का परिगणन करते हैं। वेणीदत्त भिन्न-क्रमता का कोई कारण नहीं देते। अच्युतराय के भिन्नक्रमत्व का कारण यह है कि वे रसों को सात्त्विक, राजस और तामस मानते हैं तथा इसी क्रम से रसों का परिगणन भी करते हैं। उनके अनुसार शान्त, शृंगार और करुण सात्त्विक हैं, हास्य, अद्‌भुत और भयानक राजस हैं तथा वीर, बीभत्स और रौद्र तामस प्रकृति के रस हैं।[८५] अब प्रश्न उठता है कि शान्त, शृंगार और करुण तीनों ही सात्त्विक हैं तो फिर इनमें परस्पर भेद कैसे है? आचार्य इसके समाधान का बीज श्रीमधुसूदन सरस्वती विरचित 'सिद्धान्तबिन्दु' ग्रन्थ में पाता है। सरस्वती ने जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति इन तीन दशाओं में से प्रत्येक का तीन-तीन भेद स्वीकार किया है—जाग्रज्जाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, जाग्रत्सुषुप्ति; स्वप्नजाग्रत्, स्वप्नस्वप्न, स्वप्नसुषुप्ति; सुषुप्तिजाग्रत्, सुषुप्तिस्वप्न और सुषुप्तिसुषुप्ति। इसी आधार पर आचार्य सात्त्विकादि त्रिक का पुनः तीन-तीन भेद करता है[८६]—सात्त्विकसात्त्विक—शान्त, सात्त्विकराजस—शृंगार, सात्त्विकतामस—करुण, राजससात्त्विक—हास्य, राजसराजस—अद्‌भुत, राजसतामस—भयानक, तामससात्त्विक—वीर, तामसराजस—बीभत्स, तामसतामस—रौद्र।

---

८१. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्सोऽद्‌भुत इत्यष्टविधः स्यादुभयो रसः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १००)

८२. स चात्र दशधा (काव्यकौमुदी, पृ ४८)

८३. शृंगारवीरकरुणाद्‌भुतहास्यभयानकाः।
बीभत्सश्च तथा रौद्रः शान्तो नव रसाः स्मृताः॥ (रसकौस्तुभ, पृ० २४)

८४. शान्तशृंगारकरुणहास्याद्‌भुतभयानकाः।
वीरबीभत्सरौद्राश्च लोके नव रसाः स्मृताः॥ (साहित्यसार, पृ० १०२)

८५. त्रयस्त्रयःक्रमादेते विज्ञेयाः सात्त्विकादयः (वही, पृ० १०२)

८६. जाग्रदादिवदेकैकत्रिकेऽपि च पुनस्तथा (वही पृ० १०२)

शिवराम त्रिपाठी श्रृंगारादि नव रसों की नव दृष्टियों का उल्लेख करते हैं—स्निग्ध, दृष्ट, दीन, क्रुद्ध, दृप्त, भयान्वित, जुगुप्सित, विस्मित और शान्त।[८७]

## श्रृंगार-रस

प्रायः आचार्यों ने रसों के लक्षण में परम्परागत विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव, व्यभिचारीभावों का उल्लेख कर उनसे अभिव्यक्त तत्तद् स्थायीभाव को रस कहा है।

गंगाराम जडी[८८] एवं विद्याराम[८९] श्रृङ्गार को मुख्य रस मानते हैं।

युवक स्त्री-पुरुष आलम्बन विभाव, ज्योत्स्ना-वसन्तादि उद्दीपन विभाव, आलम्बनविभाव के परस्पर अवलोकनादि अनुभाव, हर्षादि व्यभिचारीभाव और रति नामक स्थायी भाव जहाँ होता है, वह श्रृंगार रस है।[९०] आचार्य विद्याराम संक्षेप में श्रृंगार रस का लक्षण करते हैं—युवक-युवतियों का परस्पर योग होने पर जो आनन्दानुभूति होती है, उसे श्रृंगार कहते हैं।[९१] हरिदास सिद्धान्तवागीश का भी मत है कि काव्य के दर्शन या श्रवण से सहृदयों में जिससे काम का आविर्भाव होता है, उसे श्रृंगार कहते हैं।[९२]

श्रृंगार रस के उद्दीपन माला इत्यादि[९४], अनुभाव स्मित इत्यादि[९५] और व्यभि-

---

८७. स्निग्धा दृष्टा तथा दीना क्रुद्धा दृप्ता भयान्विता।
जुगुप्सिता विस्मिता च शान्तेति रसदृष्टयः॥ (रसरत्नहार, १००)

८८. तस्याभिव्यक्तिर्या श्रृंगाराख्यः स रसमूर्धा (रसमीमांसा, पृ० १९)

८९. श्रृंगारस्तेषु मुख्योऽस्ति यथा देवेषु केशवः (रसदीर्घिका, पृ० २)

९०. स्त्रीपुंसालम्बनो ज्योत्स्ना मध्वाद्युद्दीपनस्तथा।
तदीक्षाद्यनुभावश्च हर्षादिसहकार्यपि।
रत्याख्यः एव स्थाय्यत्र श्रृंगारोऽसौ॥ (साहित्यसार, पृ० १०८)

९१. आनन्दानुभवो वा यो यूनोर्योगे परस्परम्। (रसदीर्घिका, पृ० ६)

९२. कामाविर्भावको रसः श्रृंगारः (काव्यकौमुदी, पृ० ४९)

९३. माल्यालंकारतुंगानकाव्यसेवासुधाकराः॥
चन्दनोद्यानगत्याद्याः श्रृंगारोद्दीपका मताः।
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ९९)

९४. स्मितं नेत्रप्रसादश्च प्रमोदो मधुरं वचः।
कटाक्षश्च भुजाक्षेपो धृतिरास्यप्रसन्नता॥
इत्याद्यङ्गविकाराः स्युः श्रृंगारे त्वनुभावकाः।
(वही पृ० ९९)

चारी भाव व्रीडा इत्यादि[९५] बीस होते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि शृंगार रस में समस्त व्यभिचारी भाव हो सकते हैं।

आचार्य वेणीदत्त भरतमुनि के आधार पर शृंगार रस का देवता विष्णु और उसका वर्ण मेघसदृश श्याम मानते है।[९६]

शृंगार रस के दो भेद होते हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ। युवक-युवतियों के दर्शनादि से उत्पन्न सुख-विशेष को सम्भोग कहते हैं अथवा दोनों का संयोगकाल से अवच्छिन्न रति सम्भोग कहलता है।[९७]

अवलोकनादि भेद से सम्भोग शृंगार के अनेक भेद हो सकते हैं। इसलिये आचार्य सम्भोग शृंगार का एक ही भेद स्वीकार करते हैं। राजचूडामणि दीक्षित आश्रय के आधार पर इसका दो भेद मानते हैं—नायिकारब्ध और नायकारब्ध।[९८] भूदेव शुक्ल इसके अतिरिक्त उभयारब्ध नामक एक और भेद स्वीकार करते हैं। आचार्य अच्युतराय सम्भोग शृंगार का परम्परागत भेद न मानकर उसके अन्य दो भेद मानते हैं—गुप्त और स्पष्ट।[९९] परकीयाविषयक सम्भोग को गुप्त तथा स्वकीयाविषयक को स्पष्ट सम्भोग शृंगार कहते हैं।[१००] पुनः इन दोनों के सम व विषम रति भेद से कुल चार भेद हो जाते हैं। आचार्य नरहरि संयोग शृंगार के चार भेद करते हैं—सम्पन्न, समृद्धिमान्, संक्षिप्त और संकीर्ण। नायक-नायिकाओं के मर्यादि रहित भोग को सम्पन्न कहते हैं। चिरकालीन विरहदुःखी एवं रागसम्पन्न तरुणी के द्वारा प्रिय-प्राप्ति को समृद्धिमान् कहा जाता है। नायिका एवं नायक का ससम्भ्रम रतोद्यत होना संक्षिप्त संयोग कहलाता

---

९५. व्रीडोन्मादमदावेगविषादौत्सुक्यविस्मयाः ॥
शंकासूया भयं ग्लानिर्निद्रा व्याधिः स्मृतिः धृतिः।
चिन्तावहित्था मरणं चापलं जडतापि च ॥
इत्येव विंशतिर्भावाः शृंगारे व्यभिचारिणः।
केचिदूचुश्च सकलाः शृंगारे व्यभिचारिणः। (वही, पृ० १०६)

९६. अस्यास्तु दैवतं विष्णुर्वर्णो वारिमुचां समः (रसकौस्तुभ, पृ० २४)

९७. सम्भोगः यूनोर्दर्शनादिजः सुखविशेषः। यूनोः संयोगकालावच्छिन्नरतिः सम्भोगः (साहित्यसार, पृ० १०८)

९८. सम्भोगोऽत्रालोकनादिभेदाद्यद्यप्यनेकधा।
तथापि कामिनीकान्तारब्धभेदाद् द्विधा मतः।
(काव्यदर्पण, पृ० १५८)

९९. सम्भोगो विप्रलम्भश्च गुप्तौ स्पष्टौ च तौ पुनः।
(साहित्यसार, पृ० १०८)

१००. परकीया विषयत्वं गुप्तत्वम्। स्वकीयाविषयत्वं स्पष्टत्वम्।
(वही, पृ० १००)

है तथा रागी नायक-नायिकाओं को अप्रिय स्मरणादि से जो मनः संकोच होता है, उसे संकीर्ण संयोग कहते हैं।[१०१]

प्रणयी युवक-युवतियों के परस्पर न मिल पाने से उत्पन्न अन्तर्दुःखात्मक भाव को विप्रलम्भ कहते हैं।[१०२] आचार्य चित्रधर भी अभीष्ट की प्राप्ति न होने पर प्रकृष्ट रति को विप्रलम्भ कहते हैं।[१०३] हरिदास सिद्धान्तवागीश के अनुसार भी अनुराग विद्यमान होने पर नायक-नायिका की परस्पर अप्राप्ति को विप्रलम्भ शृंगार कहते हैं।[१०४] इस प्रकार इसमें युवक-युवती परस्पर इन्द्रिय सम्बन्ध से रहित होते हैं।[१०५]

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में विप्रलम्भ के भेद के विषय में बहुत मतभेद है। कुछ आचार्य दो भेद तो कुछ आचार्य प्राचीनों का अनुसरण करते हुए चार अथवा पांच भेद स्वीकार करते हैं। विश्वेश्वर पाण्डेय विप्रलम्भ के दो भेद करते हैं — अभिलाषहेतुक और संगमोत्तरकालीन।[१०६] किन्तु वे संगमोत्तरकालीन भेदों की चर्चा नहीं करते, सम्भवतः ग्रन्थविस्तार के भय से। रामदेव भट्टाचार्य भी दो भेद स्वीकार करते हैं—(१) भावी वियोग की सम्भावना से और, (२) वियोग से।[१०७] भट्टाचार्य अभिलाषहेतुक

---

१०१. संयोगोऽयं चतुर्धा स्यात्सम्पन्नश्च समृद्धिमान् ।
तथा संक्षिप्तसंकीर्णौ तल्लक्षणमिहोच्यते ।।
भयादिरहितैर्भावैर्यो भवेदधिकोन्नतः ।
यूनोः परस्परं भोगः स सम्पन्न इतीरितः ।।
तरुणी रागसम्पन्ना चिरं विरहदुःखिता ।
प्रेमास्पदं प्रियं प्राप्य सर्वस्वमनुते प्रियम् ।।
नायिकानायकौ भीडा साध्वसाभ्यां रतोद्यतौ ।
संक्षिप्तमेनं संयोग मुदा हृतिरथोच्यते ।।
प्रवृद्धरागयोर्यूनो र्व्यलीकस्मरणादिभिः ।
मनः संकोचमायाति संकीर्णोऽयं भवेद्यथा ।। (नवरसमंजरी, पृ० ६४-६५)

१०२. यो भवेत् स्निग्धयोर्यूनोरनावप्तौ परस्परम् ।
अन्तर्दुःखात्मको भावो विप्रलम्भः स कथ्यते ।। (रसदीर्घिका)

१०३. तत्र अभीष्टानवाप्तौ प्रकृष्टा रतिर्विप्रलम्भः (शृंगारसारिणी, पृ० ४)

१०४. रागे सत्यप्राप्तिर्विप्रलम्भः (काव्यकौमुदी, पृ० ५०)

१०५. यूनोरन्योन्यमुदितेन्द्रियसम्बन्धवर्जनम् । स्याद् विप्रलम्भशृंगारः ।
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०१)

१०६. अभिलाषहेतुकः पूर्वसङ्गमस्यानुपजातत्वात् । सङ्गमोत्तरकालीनः ।
(रसचन्द्रिका, पृ० ४९)

१०७. विप्रलम्भस्तु द्विविधः भाविवियोगसम्भावनातो वियोगाच्च ।
(काव्यविलास, पृ० ५)

विप्रलम्भ नहीं मानते और इसका कोई कारण भी नहीं देते। वे भावी वियोग की संभावना से उत्पन्न विप्रलम्भ का जो उदाहरण[१०८] देते हैं, वह वस्तुतः भवत्प्रवासहेतुक विप्रलम्भ की कोटि में आता है और उनका दूसरा भेद विरहहेतुक विप्रलम्भ ही है। इस प्रकार वे प्रवासहेतुक एवं विरहहेतुक दो प्रकार का विप्रलम्भ मानते हैं। कदाचित् प्राचीन आचार्यों द्वारा कृत विप्रलम्भ के पाँच भेदों में पण्डितराज[१०९] की भाँति इन्हें भी कोई विशेषता की अनुभूति नहीं होती। इसीलिए विप्रलम्भ का प्रपञ्च नहीं करते। भूदेव शुक्ल विप्रलम्भ के मुख्यतः दो भेद करते हैं—संगमपूर्वक और संगमरहित।[११०] पुनः प्रथम भेद के चार प्रकार मानते हैं—ईर्ष्याहेतुक (मान), प्रवासहेतुक, शापहेतुक और विरहहेतुक। इस प्रकार इन्हें मम्मटसम्मट[१११] पांच भेद स्वीकार है। सामराज-दीक्षित भी उपर्युक्त पाँच भेद स्वीकार करते हैं।[११२] नरसिंह कवि[११३], विद्याराम,[११४] चित्रधर[११५] नरहरि,[११६] हरिदास सिद्धांतवागीश[११७] शापहेतुक विप्रलम्भ नहीं मानते। अतः इनके मत में चार ही भेद होते हैं। विद्याराम, चित्रधर, हरिदास सिद्धान्तवागीश, कविराज विश्वनाथ की भाँति विरह के स्थान पर करुणात्मक विप्रलम्भ मानते हैं।

---

१०८. यामीत्युक्ते सकृत्प्राणनाथे निशीथे,
बाला म्लाना स्रगिव कलिता भानुभिर्भानवीयैः।
आनम्रास्यं करकिसलयन्यस्तताम्बूलगुच्छं,
चित्रारूढाकृतिरिव परं भित्तिमालम्ब्य तस्थौ॥

१०९. ते च प्रवासाभिलाषविरहेर्ष्याशापानां विशेषानुपलम्भान्नास्माभिः प्रपञ्चिताः। (रसगंगाधर, पृ० १७३)

११०. वियोगः संगमपूर्वस्तदपूर्वश्च (रसविलास, पृ० १५)

१११. अपरस्तु अभिलाष-विरह-ईर्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविधः (काव्यप्रकाश, पृ० १२३)

११२. विप्रलम्भः पुनरभिलाषेर्ष्याविरहप्रवासहेतुकत्वेन चतुर्विधः (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ५७)

११३. स च अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवास शापहेतुकः पञ्चधा।

११४. प्रवासोऽथ च मानात्मा तथा च करुणात्मकः।
पूर्वानुरागकश्चेति विप्रलम्भश्चतुर्विधः॥ (रसदीर्घिका, पृ० २३)

११५. स चायं विप्रलम्भश्चतुर्धा, पूर्वरागमानप्रवासकरुणभेदात् (शृङ्गारसारिणी, पृ० ४)

११६. पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणात्मकः।
विरहोऽपि चतुर्धा स्यात्तेषां लक्षणमुच्यते॥ (नवरसमंजरी, पृ० ६५)

११७. स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणारूपश्चतुर्विधः (काव्यकौमुदी, पृ ५०)

राजचूडामणि दीक्षित अभिलाषहेतुक (पूर्वानुराग या संगमरहित) विप्रलम्भ के भी दो भेद करते हैं—नायिकारब्ध और नायकारब्ध।[११८] वे विप्रलम्भ के समस्त भेदों में काम की दस अवस्थायें स्वीकार करते हैं।[११९] आचार्य वेणीदत्त ईर्ष्याहेतुक (मानहेतुक) विप्रलम्भ के दो भेद करते हैं—ईर्ष्यामान और प्रणयमान।[१२०] राजचूडामणि दीक्षित ईर्ष्यामान भी दो प्रकार का मानते हैं—नायिकाकृत और नायककृत।[१२१] आचार्य नरहरि मानविप्रलम्भ के दो भेद करते हैं—सहेतुक और निर्हेतुक।[१२२] भूदेव शुक्ल एवं वेणीदत्त कविराज विश्वनाथ की भाँति प्रवासहेतुक विप्रलम्भ के तीन भेद करते हैं—भवन्, भावी और भूत।[१२३] श्रीकृष्ण कवि विरहहेतुक विप्रलम्भ के स्थान पर वियोग शब्द का प्रयोग करते हैं।

आचार्य चित्रधर प्रवास से पृथक् विरह की सत्ता नहीं मानते। उनका कहना है कि विरह स्थल में भी प्रवासोपाधित्व रूप विप्रलम्भ सम्भव है। विरहोत्कण्ठिता नायिका की सन्निधि में प्रिय तो रहता नहीं अतः उसे प्रवास कहा जा सकता है। प्रियगमनजनित दुःख से प्रिय-अनागमनजनितदुःख विलक्षण है, इसलिए पृथक् गिनना चाहिए, ऐसा कहना उचित नहीं है। तब तो अतिचिर प्रवासजनित प्रवास जनित दुःख के उससे भी विलक्षण होने के कारण उसकी भी पृथक् गणना पड़ेगी।[१२४]

---

११८. अयं च पूर्ववद् द्विधा नायिकारब्धो नायकारब्धश्चेति
(काव्यदर्पण, पृ० १६३)

११९. अभिलाषहेतुके विप्रलम्भे चक्षुःप्रीतिमनःसंगसंकल्पाद्या दशावस्था भवन्ति। एता दशास्वथा वक्ष्यमाणविप्रलम्भश्रृंगारान्तरेष्वपि। (वही, पृ० १६३)

१२०. ईर्ष्यामानस्तथा ज्ञेयो मानः प्रणयसंज्ञकः (रसकौस्तुभ, पृ० २८)

१२१. यद्यपि 'स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कार्योऽन्यासंगिनि प्रिये' इत्युक्त्या मानस्य नायिका कर्तृकत्वैव, तथापि 'तत्र प्रणयमानः स्यात् कोपोपहतयोर्द्वयोः' इत्युक्त्या प्रणयात् नायककर्तृककृतापि मानस्य क्वचिद् भवति।
(काव्यदर्पण, पृ० १७०-१७१)

१२२. चुम्बनादिपदार्थानां रोधो मानो हि वामतः।
सहेतुकोऽथ निर्हेतुर्लक्ष्यं तस्योच्यतेऽधुना॥ (नवरसमंजरी, पृ० ६६)

१२३. भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः (साहित्यदर्पण, पृ० २४४)
भवन् भावी च भूतश्च प्रवासस्त्रिविधो मतः (रसकौस्तुभ, पृ० २७)

१२४. प्रवासाद्विरहस्य पृथग् गणनमयुक्तम्। विरहस्थलेऽपि प्रवासस्यैवोपाधिता सम्भवात्। न हि विरहोत्कण्ठितायाः प्रियः सन्निधौ वर्तते येन प्रवासस्तत्र न स्यात्। न च प्रियगमनजनितदुःखात् समुचितप्रियानागमनजनितं दुःखं विलक्षणमिति पृथग् गण्यत इति वाच्यम्। अतिचिरप्रवासजनितदुःखस्यापि पृथक् गणनमनुचितं तत्रापि प्रवासस्यैव सम्भवात्। (श्रृंगारसारिणी, पृ० १५)

इसी प्रकार आचार्य चित्रधर के मत में शाप विप्रलम्भ की भी पृथक् गणना उचित नहीं है। शाप में भी प्रवास के द्वारा ही वियोग होता है। अतः शाप का प्रवास में अन्तर्भाव हो सकता है। प्रकारभेद मात्र से पृथक् गणना करने पर तो कार्यंज प्रवास से सम्भ्रमज प्रवास की भी पृथक् गणना करनी पड़ेगी,[१२५]

भूदेव शुक्ल करुणविप्रलम्भ भेद को नहीं मानते। उनका मत है कि चूंकि इसमें सामान्य रूप से विरह ही होता है, अतः इसका विरहहेतुक विप्रलम्भ में अन्तर्भाव हो जायगा।[१२६] वेणीदत्त करुणा नामक भेद तो करते हैं, किन्तु उसका उदाहरण नहीं देते। उनका कहना है कि विप्रलम्भ शृंगार में करुणा रसभंग हेतु हो सकती है, अतः वे उसकी उपेक्षा करते हैं।[१२७] पण्डितराज करुणविप्रलम्भ का अंशतः विप्रलम्भ शृंगार में और अंशतः करुण रस में अन्तर्भाव करते हैं। कविराज विश्वनाथ करुण विप्रलम्भ को विप्रलम्भ शृंगार का भेद मानते हैं। चिरञ्जीव भट्टाचार्य करुणरस के प्रसंग में करुणरस एवं करुणात्मक विप्रलम्भ रस में भेद मानते हैं किन्तु विप्रलम्भ शृंगार के भेद में इनकी गणना नहीं करते।[१२८]

आचार्य अच्युत राय विप्रलम्भ के उपर्युक्त परम्परागत भेद न मानकर सम्भोग शृंगार की भांति गुप्त और स्पष्ट भेद करते हैं तथा पुनः प्रत्येक के सम और विषम भेद से कुल चार भेद स्वीकार करते हैं।

विवाह से पूर्व श्रवण, दर्शन से जो परस्पर प्रगाढ़ आसक्ति उत्पन्न होती है, उसे अभिलाष विप्रलम्भ कहते हैं।[१२९] नायक-कृत अपराध का ज्ञान हो जाने पर नायिका की जो क्रोधात्मक स्थिति होती है, उसे ईर्ष्या विप्रलम्भ कहते हैं।[१३०] विदेश चले जाने पर

---

१२५. न ह्यसंनिधानमन्तरा शापः संयोगं विघटयति किन्तु प्रवाससम्पादनद्वारा प्रकारभेदमात्रेण पृथक् गणने कार्यजप्रवासात् सम्भ्रमजप्रवासस्यापि पृथग् गणनापत्तेः। (वही, पृ० १५)

१२६. स एष विरहहेतुक इत्युच्यते। करुणशृंगारस्यापि अत्रैवान्तर्भावः (रसविलास, पृ० १५)

१२७. रसभंगभियात्र करुणोपेक्षिता। (रसकौस्तुभ, पृ० ३१)

१२८. कान्तयोरन्यतरस्मिन् मृते पुनर्मेलनस्यासम्भावितत्वेन ज्ञानात् इष्टसमीहाया एवाऽसम्भवः। अतएव रत्यभावान्न विप्रलम्भः किं तु करुण एव। यदि पुनर्मेलनसम्भावनाऽपि भवति तदा भवत्येव विप्रलम्भः (काव्यविलास, पृ० १०-११)

१२९. पाणिग्रहणतः पूर्वं श्रवणाद् दर्शनाद् भवेत्।
पूर्वानुरागो योऽन्योन्यं गाढासक्तेः समुद्भवः।। (रसदीर्घिका, पृ० २४)

१३०. अपराधे परिज्ञाते या स्याद्रुष्टतया स्थितिः।
नायिकाया विशेषेण स मानः परिकीर्तितः।। (वही, पृ० २३)

वियुक्त युवक-युवतियों के हृदय में जो सन्ताप उत्पन्न होता है, वह प्रवास विप्रलम्भ कहलाता है।[131] श्रीकृष्ण कवि[132] एवं राजचूडामणि दीक्षित[133] प्रिय के विदेशगमनोन्मुख होने पर भी प्रवास विप्रलम्भ मानते हैं। संयोग के अनन्तर गुरुलज्जादि किसी कारणवश नायक-नायिका के वियोग को विरह विप्रलम्भ कहते हैं।[134] मुनि, देव, स्वामी इत्यादि के कोप से उत्पन्न वियोग को शापहेतुक विप्रलम्भ कहते हैं।[135] युवक-युवतियों में से अकस्मात् किसी एक के अदर्शनजनित दुःखपूर्वक प्रलाप को करुणाविप्रलम्भ कहते हैं। युवक-युवतियों में से वियोग में किसी एक के जीवन की आशा के नष्ट न होने पर जो प्रलाप होता है, वह करुणास्य विप्रलम्भ कहलाता है और जीवन की आशा नष्ट हो जाने पर करुणरस हो जाता है।[136]

## हास्य रस

कुतूहलवश वाणी, वेश, चेष्टादि के विकारों से जो मन में विकार उत्पन्न होता है, उसे हास कहते हैं और वह परिपुष्ट होकर हास्य रस कहलाता है।[137] विकृत अलंकार इत्यादि[138] हास्य रस के उद्दीपन, संकुचन इत्यादि[139] अनुभाव और शंका इत्यादि[140] व्यभिचारी भाव होते हैं।

---

१३१. देशान्तरस्य गमने परितापो वियुक्तयोः।
हृदये जायते यूनोः स प्रवासाभिधः स्मृतः ॥ (वही, पृ० २३)

१३२. प्रवासजो विप्रलम्भः प्रिये देशान्तरोन्मुखे (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०१)

१३३. प्रिये देशान्तरोन्मुखेऽपि प्रवासजो विप्रलम्भः, किमुत देशान्तरस्थित इति (काव्यदर्पण, पृ० १७१)

१३४. विरहो नाम लब्धसंयोगयोः केनचित् कारणेन पुनः समागमकालातिक्षेपः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ५७)

१३५. मुन्यादिकोपजो श्लेषो विप्रलम्भस्तु शापजः (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०१)

१३६. यूनोरदर्शने कस्मादेकस्याज्ञातहेतुके।
प्रलापो यो भवेद् दुःखात् स प्रोक्तः करुणात्मकः ॥
अच्छेदो जीविताशाया यूनोरन्यतमस्य यः।
प्रलापः करुणात्मासौ छेदे तु करुणो रसः ॥ (रसदीर्घिका, पृ० २४)

१३७. विकारैर्या वचोवेशचेष्टादीनां कुतूहलात्।
मनसो विकृतिर्हासः पूर्णो हास्यरसश्च सः (वही, पृ० २६)

१३८. विकृतालंकारवेषाचारव्याहारपूर्वकाः।
उद्दीपनविभावास्तु रसे हास्ये प्रकीर्तिताः ॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ९९)

१३९. कुञ्चनं वेषवाक्याङ्गविकारा ओष्ठचालनम्।
कपोलनासास्यन्दाद्या हास्ये स्युरनुभावकाः ॥ (वही, पृ० ९८)

१४०. शंकासूयाचपलता निद्रा स्वप्नः श्रमस्तथा।
अवहित्था ग्लानिरिति हास्ये स्यु र्व्यभिचारिणः ॥ (वही, पृ० १०६)

आचार्य वेणीदत्त भरतमुनि के अनुसार हास्य रस का वर्ण शुक्ल और देवता प्रमथगण मानते हैं।[१४१] चिरञ्जीव भट्टाचार्य मारुत को हास्य का देवता मानते हैं।[१४२] श्रीकृष्ण कवि हास्य का देवता गजानन को तो कुछ आचार्य चन्द्र को मानते हैं।[१४३]

कुछ पण्डितराजोत्तर आचार्य, मम्मट की भाँति हास्य के भेदों की चर्चा नहीं करते तो कुछ आचार्य विश्वनाथ की भाँति ६ भेद मानते हैं तो कुछ आचार्य पण्डितराज की भाँति १२ भेद स्वीकार करते हैं। छज्जू राम शास्त्री हास्य रस के मात्र दो भेद करते हैं—[१४४] (१) आत्मस्थ (स्वनिष्ठ)—अपने आप हँसने वाला, और (२) परस्थ (परनिष्ठ)— दूसरों को हँसाने वाला। आचार्य नरहरि उत्तम, मध्यम और अधम भेद से हास्य रस तीन प्रकार का मानते हैं।[१४५] श्रीकृष्ण कवि सर्वप्रथम हास्य के दो भेद करते हैं—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। पुनः प्रत्येक के उत्तम, मध्यम और अधमप्रकृतिक मनुष्यों के भेद से कुल ६ भेद मानते हैं। वे उत्तम मध्यम और अधम पुरुषों के हास के केवल एक-एक भेद क्रमशः स्मित, हसित तथा अतिहसित ही मानते हैं।[१४६] किन्तु अच्युतराय एवं विद्याराम प्रत्येक कोटि के पुरुष का हास दो-दो प्रकार का अर्थात् स्मित, हसित; विहसित, उपहसित और अपहसित, अतिहसित मानते हैं। अत; उनके मत में कुल १२ भेद हो जाते हैं।[१४७] अच्युतराय समस्त भेदों का स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् उदाहरण उपन्यस्त करते हैं जबकि पण्डितराज ने केवल एक ही उदाहरण प्रस्तुत किया है।

आचार्य अच्युतराय के अनुसार जहाँ विकृतवेशभूषादियुक्त पुरुषरूप आलम्बन विभाव के दर्शन से द्रष्टा में स्वयं हास स्थायीभाव उत्पन्न होता है, उसे स्वनिष्ठ हास्य रस कहते हैं और जहाँ अन्य पुरुष के हास्य से (हँसते हुए पुरुष को देखकर) द्रष्टा में

---

१४१. हास्यो हासस्थायिभावः शुक्लः प्रमथदैवतः (रसकौस्तुभ, पृ० ११६)

१४२. विष्णुर्मारुतवरुणौ रुद्रः शक्रस्तदनु कृतान्ताख्यः।
महाकालो विधाता ब्रह्मेति दैवतं रसानाम्॥ (काव्यविलास, पृ० ९)

१४३. वर्णोऽस्य शुक्लः देवस्तु सिन्धुरानन ईरितः।
हास्यस्य देवतां केचिद् ब्रुवन्ति रजनीकरम्॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०३)

१४४. आत्मस्थश्च परस्थश्च द्विविधो मन्यते बुधैः (साहित्यबिन्दु, पृ० ६८)

१४५. हासमूलो भवेद्धास्यः फुल्लगल्लैः स्फुटैः रदैः।
साश्रुनेत्रैः क्रमान् सोऽयमुत्तमो मध्यमोऽधमः॥ (नवरसमंजरी, पृ० ६६)

१४६. उत्तमानां स्मितं प्रोक्तं मध्यानां हसितं मतम्।
प्रोक्तं तयातिरसितमधमानां कवीश्वरैः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०३)

१४७. विभावजः स्वनिष्ठोऽसौ परनिष्ठोऽन्यहास्यजः।
पुन. स्मितादिषड्भेदैः क्रमाद् द्वादशधा यथा॥ (साहित्यसार, पृ० ११५)

हास स्थायी भाव उत्पन्न हो, उसे परनिष्ठ कहते हैं। श्रीकृष्ण कवि[१४८] एवं विद्याराम[१४९] भिन्न शब्दावलि में लक्षण करते हैं। उनके अनुसार अपनी ही विकृतियों पर अपने आप हँसना स्वनिष्ठ है और परगत विकारों से उत्पन्न हास परनिष्ठ है।

## करुण रस

जहाँ इष्ट-विनाश रूप आलम्बनविभाव, आशा समाप्तिरूप उद्दीपन विभाव, अश्रुपात अनुभाव और जडतादि व्यभिचारी भाव के द्वारा शोक स्थायीभाव पुष्ट हो, उसे करुणरस कहते हैं।[१५०] श्रीकृष्ण कवि के अनुसार जहाँ इष्ट-विनाश एवं अनिष्ट-प्राप्ति से शोक पुष्ट होता है, उसे करुण रस कहते हैं।[१५१] विद्याराम के अनुसार इसमें आशा का विनाश हो जाता है, समस्त इन्द्रियाँ क्लान्त हो जाती हैं और दुःखाधिक्य की अनुभूति होती है।[१५२]

करुण रस में शाप इत्यादि[१५३] उद्दीपन, निःश्वासन इत्यादि[१५४] अनुभाव एवं दैन्य इत्यादि[१५५] व्यभिचारी भाव होते हैं। करुण रस में स्वेदादि सभी सात्त्विक भाव न्यून अथवा अधिक मात्रा में रहते हैं।[१५६]

---

१४८. स्वीयहासपरीपोषी विकृतस्वक्रियादिभिः
यः स स्वनिष्ठो हास्यः स्याद्रस इत्युदितो बुधैः ॥
अन्यहासपरीपोषो विकृतान्मक्रियादिभिः।
परनिष्ठो हास्य इति प्रोक्तः स रसकोविदैः ॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०३)

१४९. स्वनिष्ठश्चेत् स्वसम्मूर्तैर्विकारैर्हसति स्वयम्।
परनिष्ठः परोद्भूतैर्हसत्येतैश्च चेत् परम् ॥ (रसदीर्घिका, पृ० २६)

१५०. आशाच्छेद विनष्टेष्टाश्रुपातम्लानतादिभिः।
शोकस्थायि विभावाद्यैः पुष्टः स्यात् करुणा रसः ॥ (साहित्यसार, पृ० ११७)

१५१. अनिष्टाप्तीष्टनाशाभ्यां करुणः शोकपोषणम् (रन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०३)

१५२. आशाविनाशे सर्वेषामिन्द्रियाणां क्लमोऽथवा।
दुःखस्यानुभवोऽत्यन्तं करुणः स निगद्यते ॥ (रसदीर्घिका, पृ० २९)

१५३. शापेष्टनाशदारिद्र्यबन्धनव्यसनादयः।
उद्दीपनविभावास्तु कथिताः करुणे रसे ॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ९९)

१५४. निःश्वासवचनं मोहः सन्तापः परिदेवनम्।
देहाभिघातरुदितदाहाद्याः करुणे रसे ॥ (वही, पृ० ९८)

१५५. दैन्यं ग्लानिर्व्याधिचिन्ते निर्वेदो जडता स्मृतिः।
रसे भावाः प्रयोक्तव्याः करुणे व्यभिचारिणः ॥ (वही, पृ० १०६)

१५६. सर्वे च ते सात्त्विका भावा स्वदसंस्तम्भनादयः।
स्वल्पं वाप्यथ भूयिष्ठं भवन्ति करुणे रसे ॥ (रसदीर्घिका, पृ० २९)

आचार्य वेणीदत्त भरतमुनि के अनुसार करुणरस का वर्ण कपोल एवं उसका अधिष्ठातृ देव यम मानते हैं।[१५७] जबकि विद्याराम इसका देवता वरुण मानते हैं।[१५८]

आचार्य मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डितराज करुणरस के भेदों का निरूपण नहीं करते। रसतरंगिणी के आधार पर अच्युतराय, श्रीकृष्ण कवि, विद्याराम इत्यादि आचार्य दो भेद करते हैं—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। स्वशाप. स्वबन्धन, स्वक्लेश, स्वानिष्ट विभाव से उत्पन्न करुण को स्वनिष्ठ कहते हैं और पर-इष्ट नाश, परशाप, परबन्धन, परक्लेश आदि के दर्शन, श्रवण, स्मरण विभाव से उत्पन्न करुण को परनिष्ठ कहते हैं।[१५९]

करुणात्मक विप्रलम्भ शृंङ्गार में भी करुणारस के समान रोदन, विलाप इत्यादि होता है। अतः विप्रलम्भ का अन्तर्भाव करुण रस में होना चाहिये। इस शंका का समाधान करते हुए चिरंजीव भट्टाचार्य कहते हैं कि करुण में शोक कारण होता है और विप्रलम्भ में शोक का अभाव होता है। अतः विप्रलम्भ शृङ्गार का अन्तर्भाव करुण रस में सम्भव नहीं है।[१६०]

## रौद्र रस

अपराधी इत्यादि आलम्बन, अपराधी का उत्कर्ष इत्यादि उद्दीपन, निष्ठुर-वचनादि अनुभाव, उग्रतादि संचारी भाव से युक्त क्रोधस्थायी को रौद्र रस कहते हैं।[१६१] आचार्य विद्याराम के अनुसार अपमानादि से उत्पन्न प्रमोद के प्रतिकूल जो मनोविकार होता है उसे क्रोध कहते हैं और वह विभावादि से पूर्ण होने पर रौद्र रस कहलाता है। अथवा शस्त्रों के आघातादि से ज्वलित चित्त में जो असहनता उत्पन्न होती है वह रौद्र रस है अथवा समस्त इन्द्रियों का उद्धत हो जाना रौद्र रस है।[१६२]

---

१५७. शोकः स्थायी कपोताभः करुणो यमदैवतः (रसकौस्तुम, पृ० ११४)

१५८. कपोतचित्रितो वर्णो वरुणश्चास्य दैवतम् (रसदीर्घिका पृ० २९)

१५९. स्वविभावैः समुत्पन्नः स्वनिष्ठः स उदीरितः।
परनिष्ठोऽन्यदीयानां विभावानां विबोधतः ॥ (साहित्यसार, पृ० ११७)

१६०. ननु विप्रलम्भश्रृङ्गारः करुण एवाऽन्तर्भवतु रुदितविलापादेस्तत्रापि सत्त्वादिति, चेन्न करुणे शोकः कारणं, विप्रलम्भे शोकरूपकारणस्याभावात्।
(काव्यविलास, पृ० १०)

१६१. अपराधि तदुत्कर्षनिष्ठुरोक्तयुग्रतादिभिः।
विभात्रार्थैश्चितः क्रोधस्थायी रौद्रो रसः स्मृतः ॥ (साहित्यसार, पृ० ११८)

१६२. अवज्ञादिकृतो मोदप्रतिकूलो मितस्तु यः।
मनोविकारः स क्रोध; सम्पूर्णो रौद्रसंज्ञकः ॥ (रसदीर्घिका, पृ० ३०)
शस्त्राघातादिभिश्चित्ते ज्वलिते सहनोद्भवम्।
सर्वेन्द्रियाणां चौद्धत्यं रौद्रो रस इतीर्यते ॥ (रसदीर्घिका पृ० ३०)

रौद्र रस में खड्गादि का अभिभवादि[163] उद्दीपन विभाव, दन्तसंघट्टन इत्यादि[164] अनुभाव तथा हर्ष इत्यादि[165] व्यभिचारी भाव होते हैं।

आचार्य वेणीदत्त भरतमुनि के आधार पर रौद्र रस का वर्ण रक्त एवं अभिमानी देवता रुद्र मानते हैं।[166] किन्तु विद्याराम रौद्र का अधिष्ठातृ देव गरुड को मानते हैं।[167]

## वीर रस

प्रभावादि उद्दीपन, धैर्यादि अनुभाव एवं गर्वादिसहचारी से पुष्ट उत्साह नामक स्थायी भाव वीर रस कहलाता है।[168] विद्याराम के अनुसार समस्त इन्द्रियों का प्रहर्षित होना वीर रस है।[169]

वीर रस में उत्साहादि[170] उद्दीपन विभाव, शौर्यादि[171] अनुभाव और वितर्कादि[172] व्यभिचारी भाव होते हैं।

---

१६३. खड्गाद्यभिभवः शत्रोर्दर्शनोद्भर्त्सनादिकम्।
रौद्रस्यायं विभावोऽस्ति तथात्यन्तमसत्क्रिया।। (वही, पृ० ३०)

१६४. दन्तसंघट्टनं चौष्ठदर्शनं भुग्नता भ्रुवोः।
प्रकोष्ठोन्मर्दनं गात्रप्रकम्पः शस्त्रधारणम्।।
हतोऽसीत्यादिवचनाडम्बरश्च सहुङ्कृतिः।
अनुभावोऽस्य विज्ञेयो रौद्रस्येत्यादि विक्रिया।। (वही, पृ० ३०)

१६५. हर्षासूयोत्साहगर्वमदाश्चपलतोग्रता।
रसे रौद्रे प्रयोक्तव्यास्ते भावा व्यभिचारिणः।। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०६)

१६६. रक्तः क्रोधस्थायिभावो रौद्रो रुद्राधिदैवतः (रसकौस्तुभ, पृ० ११९)

१६७. वर्णो रौद्रस्य रक्तोऽस्ति देवतं विनतासुतः (रसदीर्घिका, पृ० ३०)

१६८. प्रभावस्थैर्यगर्वाद्यैर्विभावादिभिरुन्नत.।
उत्साहस्थायिभावः स्याद् वीरो द्वादशधा तु सः।। (साहित्यसार, पृ० ११९)

१६९. सर्वेषामिन्द्रियाणां वा प्रहर्षो वीर उच्यते (रसदीर्घिका, पृ० ३१)

१७०. उत्साहोऽध्यावसायश्चाऽविषादोऽविस्मयो बलम्।
विविधार्थविशेषोऽस्य विभावो विनयोऽथ मुद्।। (वही, पृ० ३२)

१७१. शौर्यं वीर्यं च धैर्यं च प्रभावोल्लासविक्रयाः।
वाक्यान्याक्षेपयुक्तानि विनयो दानसूनृतम्।।
हृदः प्रवणता श्वासवचनानि विशेषतः।
अनुभावोऽस्य विज्ञेयो वीराख्यस्य रसस्य हि।। (वही, पृ० ३२)

१७२. वितर्कामर्षसम्मोहक्रोधासूयामदोग्रता।
गर्वो विबोध आवेगो वीरे हर्षस्तथा धृतिः।। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०७)

आचार्य वेणीदत्त भरतमुनि के आधार पर वीररस का वर्ण गौर और देवता इन्द्र स्वीकार करते हैं।[१७३]

वीर रस के भेद के विषय में पण्डितराजोत्तर आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। चिरञ्जीव भट्टाचार्य, विद्याराम, वेणीदत्त, नरहरि, गंगाराम जडी, श्रीकृष्ण कवि प्रभृति आचार्य रसतरंगिणी के अनुकरण पर वीर रस के—युद्ध, दान और दया—तीन भेद मानते हैं तो विश्वेश्वर पाण्डेय, छज्जूराम शास्त्री, कविराज विश्वनाथ के आधार पर चार भेद—युद्ध, दान, दया और धर्म—स्वीकार करते हैं। पण्डितराज इन मुख्य चार भेदों के अतिरिक्त सत्य, पाण्डित्य, क्षमा और बल भेद स्वीकार कर कुल आठ भेद मानते हैं। आचार्य अच्युतराय का मत है कि जब आठ भेद सम्भव है, तब त्याग, योग, क्षमा, ज्ञान इत्यादि उपाधि भेद से अन्य भेद भी माने जा सकते हैं।[१७४] वे कुल २१ भेद स्वीकार करते हैं—युद्ध, दान, दया, धर्म, सत्य, विद्या, तप, यत्न, त्याग, योग, क्षमा, ज्ञान, संपद्, रूप, कला, गान, अहिंसा, ऐश्वर्य, कवित्व, श्रद्धा और भक्ति।[१७५] अच्युतराय ने समस्त भेदों का उदाहरण उपन्यस्त किया है।

चिरञ्जीव भट्टाचार्य दयावीर और करुणरस का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि दया में करुण होता है, लेकिन यह करुण व्यवहार गौण रूप से होता है। दयावीर का अन्तर्भाव करुण में सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों के स्थायीभाव में भेद है।[१७६] पण्डितराज जिसे पाण्डित्य एवं बल वीर रस कहते हैं, अच्युतराय उसे विद्या एवं यत्न कहते हैं।

---

१७३. गौरो वीरस्य वर्णोऽस्ति दैवतं त्रिदशाधिपः (रसदीर्घिका, पृ० ३१)

१७४. रसगंगाधरे युद्धदानदयाधर्मसत्यविद्यातपोक्षमाबलभेदैरष्टविधस्यापि तस्योपलब्धत्वेन धर्मादिवत्तपस्त्यागयोगज्ञानाख्यानां भेदानामप्यनिराकार्यत्वात्।
(साहित्यसार, पृ० ११६)

१७५. युद्धदानदयाधर्मसत्यविद्यातपोबलैः।
त्यागयोगक्षमा ज्ञानैस्तदुपाधेर्विभेदतः ।:
एवमन्येऽपि तद्भेदा बुधैरूह्याः सतां मताः।
न चैवमस्यासंख्यत्वं दोषस्तस्येप्सितत्वत. ॥
संपद्रूपकलागानाऽहिंसैश्वर्यकवित्वतः।
श्रद्धाभक्त्यादिभिश्चास्य तथैवानुभवो यतः॥
(वही, पृ० ११६, १२४)

१७६. दयायां करुणव्यवहारस्तु, गौण एव न तु दया करुणेऽप्यन्तर्भवति, दयाया उत्साहः करुणस्य तु शोक इति भेदात् (काव्यविलास, पृ० ८)

## भयानक रस

क्रूर वस्तुओं के दर्शन-श्रवणादि, विभाव, कम्पनादि अनुभाव और मोहादि सहकारी से परिपुष्ट भय स्थायी को भयानक रस कहते हैं।[१७७] आचार्य विद्याराम के अनुसार इसमें समस्त इन्द्रियाँ विक्षुब्ध हो जाती हैं।[१७८]

भयानक रस में भय का हेतु आलम्बन विभाव,[१७९] घोरसत्त्व दर्शनादि[१८०] विभाव, शरीरकम्पनादि[१८१] अनुभाव और सन्त्रासादि[१८२] व्यभिचारी भाव होते हैं।

आचार्य वेणीदत्त नाट्यशास्त्र के अनुसार भयानक रस का देवता यम और वर्ण कृष्ण स्वीकार करते हैं।[१८३]

श्रीकृष्ण कवि एवं विद्याराम भयानक रस के दो भेद करते हैं—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। स्वकीय अपराधादि से उत्पन्न भय स्वनिष्ठ और घोर, अलोकादि से उत्पन्न भय परनिष्ठ कहलाता है।[१८४]

## बीभत्स रस

अमनोरम पदार्थों के स्पर्श, दर्शन और स्मरण से उत्पन्न मनोविकार को जुगुप्सा कहते हैं और यह जुगुप्सा विभावादि से परिपूर्ण होने पर बीभत्स रस कहलाता है।

---

१७७. क्रूरेक्षादिविभावैश्च कम्पनाद्यनुभावकैः।
मोहादिभिः सहायैश्च भयस्थायी भयानकः॥ (साहित्यसार, पृ० १२७)

१७८. सर्वेन्द्रियाणां विक्षोभो भयानकरसोऽथवा (रसदीर्घिका, पृ० ३३)

१७९. भयहेतुः आलम्बनम्। (रसचन्द्रिका, पृ० ६५)

१८०. घोरसत्त्वावलोकश्च विकृतारावसंश्रुतिः।
संग्रामारण्यगमनं प्रवेशः शून्यवेश्मनि॥
गुरुस्वेशापराधश्च बन्धुबन्धाद्यभिश्रुतिः।
श्मशानस्पर्शनाद्यं च विभावोऽस्य प्रकीर्तितः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ३४)

१८१. सर्वांगानां प्रकम्पोऽथ शुष्कताल्वोष्ठकण्ठता।
रोमाञ्चस्वरभेदास्यवैवर्ण्यस्तब्धतादयः।
भयानकस्यानुभावः कविभिः परिदर्शितः। (वही, पृ० ३४)

१८२ संत्रासमरणावेगमोहचापलदीनताः।
अत्रापस्मारशङ्काद्या भवन्ति व्यभिचारिणः॥ (वही, पृ० ३४)

१८३. श्यामो भयानकस्यास्ति वर्णो वै देवतं यमः। (वही, पृ० ३३)

१८४. स्वापराधात् स्वनिष्ठस्तु घोराऽलोकादिजोऽपरः। (वही, पृ० ३३)

इसमें समस्त इन्द्रियों का संकुचन होता है।[१८५] छज्जूराम शास्त्री के अनुसार इस रस की उत्पत्ति स्त्री और कायरों में होती है।[१८६]

बीभत्स रस में अमेध्यादि पदार्थों का स्मरण, श्रवण, गन्ध स्पर्शादि विभाव,[१८७] मुख-नाक का ढकना आदि[१८८] अनुभाव, उन्मादादि[१८९] व्यभिचारी भाव होते हैं।

आचार्य वेणीदत्त नाट्यशास्त्र के आधार पर बीभत्स रस का वर्ण नील तथा देवता महाकाल मानते हैं।[१९०]

श्रीकृष्ण कवि एवं विद्याराम बीभत्स रस के दो भेद करते हैं—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। स्वकीय निन्द्य पदार्थ के दर्शन, स्मरणादि से उत्पन्न बीभत्स को स्वनिष्ठ तथा दूसरे के गर्ह्यादि पदार्थों के दर्शन, स्मरणादि से उत्पन्न बीभत्स को परनिष्ठ कहते हैं।[१९१]

## अद्भुतरस

चमत्कृत पदार्थों के स्मरण, दर्शन, स्पर्श एवं श्रवण से उत्पन्न अपूर्ण मनोविकार को विस्मय कहते हैं। यह विभावादि से परिपूर्ण होने पर अद्भुत रस कहलाता है।[१९२]

---

१८५. अहृद्यार्थोपसंस्पर्शदर्शनस्मरणोद्भवा।
मिता विकृतिर्मनसः सा जुगुप्सा स्मृता बुधैः॥
परिपूर्णा जुगुप्सा च बीभत्साख्यो रसो भवेत्।
सकलेन्द्रियसंकोचो बीभत्सो वा प्रकीर्तितः॥ (वही, पृ० ३५)

१८६. बीभत्सः स रसः प्रोक्तो जुगुप्सा स्थायिनी मतः।
श्यामवर्णो मतः स्त्रीषु कातरेष्वस्य सम्भवः॥ (साहित्यबिन्दु, पृ० ७८)

१८७. अमेध्यानामहृद्यानां तथानभिमतात्मनाम्।
वस्तूनां स्मृतिसंश्रावो गन्धस्पर्शादिदूषणम्।
बीभत्सस्य विभावोऽन्ये तथा चोद्वेगकारिणः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ३५)

१८८. मुखनासापिधानं चाऽननेत्रविघूर्णनम्।
अव्यक्तपादपतनं गतिः शीघ्राङ्गकूणनम्।
अनुभावोऽस्य विज्ञेयः कुत्सा निष्ठीवनं तथा॥ (वही, पृ० ३५)

१८९. उन्मादमोहापस्मारग्लानिचापलदीनताः।
गर्वावेगविषादाद्या बीभत्से व्यभिचारिणः॥ (वही, पृ० ३६)

१९०. नीलवर्णश्च बीभत्सो महाकालोऽस्य दैवतम्। (वही, पृ० ३५)

१९१. स्वावद्यदर्शनस्मृत्याद्युद्भवः स्वप्रतिष्ठितः।
परावद्याद्यवेक्षाद्यैः परनिष्ठः प्रकीर्तितः॥ (वही, पृ० ३५)

१९२. चमत्कृतपदार्थानां स्मृतीक्षास्पर्शसंश्रवैः।
विकारो परिपूर्णो यो मनसो विस्मयस्तु सः॥
विस्मयः परिपूर्णोऽसावद्भुताख्यो रसो भवेत्। (वही, पृ० ३६)

विद्याराम अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, विरोधाभासोक्ति, विचित्रोक्ति इत्यादि उक्तियों में अद्भुत रस स्वीकार करते हैं।[१९३]

अद्भुत रस में लोकोत्तर कर्मादि[१९४] विभाव निर्निमेषदर्शनादि[१९५] अनुभाव तथा स्वेदादि[१९६] व्यभिचारीभाव होते हैं।

आचार्य विद्याराम नाट्यशास्त्र के अनुसार अद्भुतरस का देवता ब्रह्मा तथा वर्ण पीत स्वीकार करते हैं।[१९७] वेणीदत्त[१९८] कन्दर्प (कामदेव) को तथा छज्जूराम शास्त्री[१९९] गन्धर्व को अद्भुतरस का देवता मानते हैं। कुछ आचार्य अद्भुत का वर्ण श्याम[२००] तथा चिरञ्जीव भट्टाचार्य गौर[२०१] स्वीकार करते हैं।

विद्याराम एवं श्रीकृष्ण कवि स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ भेद से अद्भुत रस दो प्रकार का मानते हैं। स्वकर्मातिशयादि से उत्पन्न अद्भुत रस स्वनिष्ठ तथा परकर्मातिशयादि से उत्पन्न अद्भूत रस परनिष्ठ कहलाता है।[२०२] आचार्य राजचूडामणि दीक्षित अद्भुत रस को दिव्य व मानुष भेद से द्विविध मानते हैं। दिव्य विभाव के होने पर दिव्य अद्भुत रस तथा मनुष्य के विभाव होने पर मानुष अद्भुत रस होता है।[२०३]

---

१९३. अत्युक्तिश्च भ्रमोक्तिश्च विरोधाभासकस्तथा।
चित्रोक्त्याद्याश्च विज्ञेया अद्भुता एव सर्वशः॥ (वही, पृ० ३८)

१९४. लोकोत्तराणि कर्माणि शिल्पं रूपं तथाविधम्।
लोकोत्तरार्थयुक् वाक्यसन्दर्भोऽथ घनागमः।
अद्भुतस्य विभावो यमिन्द्रजालादिकं तथा॥ (वही, पृ० ३७)

१९५. निर्निमेषक्षणं स्पर्शग्रहणोल्लासहुंकृतिः।
साधुवादश्च रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपुथः॥
अनुभावोऽद्भुतस्यायं गद्गदाभाषणादि च॥ (वही, पृ० ३७)

१९६. स्वेदाश्रुपुलकावेगहर्षाद्या व्यभिचारिणः।
चेष्टा च नेत्र विस्फारशिरःकम्पादिकाद्भुते॥ (वही, पृ० ३७)

१९७. वर्णोऽद्भुतस्य पीतोऽस्ति दैवतञ्च पितामहः। (वही, पृ० ३६)

१९८. कन्दर्पदैवतः पीतः स्थायी च विस्मयोऽद्भुतः। (रसकौस्तुभ, पृ० ११५)

१९९. गन्धर्वा दैवतं चास्य वर्णः स्वर्णसमो भवेत्। (साहित्यबिन्दु, पृ० ७९)

२००. श्यामवर्णं त्वद्भुतस्य केचिद्चुर्विपश्चितः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०५)

२०१. रसास्तु श्यामस्फटिकपारावतविचित्रताः।
आरक्तगौरमलिननीलगौरसिताः क्रमात्॥ (काव्यविलास, पृ० ९)

२०२. स्वनिष्ठः स्वस्यसम्भूतः स्वकर्मातिशयादिभिः।
परनिष्ठोऽद्भुतोऽन्यस्य परकर्मादिसम्भवः॥
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०५)

२०३. अयं चाद्भुतरसो दिव्यो मानुषश्चेति द्विविधः। तत्र दिव्यविभावकत्वे दिव्यः, मनुष्यविभावकत्वे तु मानुषः। (काव्यदर्पण, पृ० १८२)

## शान्त रस

प्राचीन आचार्यों की भाँति पण्डितराजोत्तर आचार्य भी शान्तरस की स्थिति के विषय में एकमत नहीं हैं। आचार्य विद्याराम,[२०४] राजचूडामणि दीक्षित,[२०५] अच्युतराय,[२०६] विश्वेश्वर पाण्डेय,[२०७] गंगाराम जड़ी,[२०८] छज्जूराम शास्त्री,[२०९] चिरञ्जीव भट्टाचार्य[२१०] प्रभृति आचार्य शान्तरस का स्थायी भाव निवद को मानते हैं तो वेणीदत्त,[२११] भूदेव शुक्ल,[२१२] श्रीकृष्ण कवि,[२१३] हरिदास सिद्धान्त वागीश,[२१४] नरहरि[२१५] प्रभृति आचार्य शम को शान्त का स्थायी स्वीकार करते हैं।

राजचूडामणि दीक्षित, गंगाराम जड़ी प्रभृति आचार्य शान्त रस को अनभिनेय मानते हैं, अतः उसे केवल काव्यरस स्वीकार करते हैं, नाट्य रस नहीं। विश्वेश्वर पाण्डेय, भूदेव शुक्ल, छज्जूराम शास्त्री प्रभृति आचार्य इस मत का खण्डन कर उसकी अभिनेयता प्रतिपादित कर पण्डितराज की भाँति शान्तरस को काव्यनाट्य दोनों में स्वीकार करते हैं।

राजचूडामणि दीक्षित शान्तरस की स्थापना करते हुए पूर्वपक्षीय मत कि अनादि सिद्ध रागद्वेषवासनादि से युक्त पुरुष को शान्तरस का आस्वादन कसे होगा, अतः यह रस नहीं हो सकता, का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वीतरागादि पुरुषों को शृङ्गारादि की भी चर्वणा नहीं होती, फिर इन्हें भी रस नहीं माना जाना चाहिये। शृङ्गारादि को सभी आचार्य रस मानते हैं अतः शान्त का रसत्व भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[२१६] कुछ शान्तरस विरोधी आचार्य भरतमुनि के द्वारा शान्तरस के

---

२०४. निर्वेदः स तु सम्पूर्णो भवेच्छान्ताभिधो रसः। (रसदीर्घिका, पृ० ३८)

२०५. निर्वेदस्थायिकः काव्ये शान्तोऽपि नवमो रसः। (काव्यदर्पण, पृ० २०३)

२०६. विभावाद्यैस्तु निर्वेदस्थायी शान्तो रसः स्मृतः। (साहित्यसार, पृ० १२८)

२०७. काव्ये शान्तोऽपि रसोऽनुभवसिद्धत्वात्। तत्र निर्वेदः स्थायिभावः। (रसचन्द्रिका, पृ० ६६)

२०८. विषयेष्वलं मतिर्या निर्वेदः स्थायिभावोऽसौ। (रसमीमांसा, पृ० २९)

२०९. स शान्तो यत्र निर्वेदः स्थायी भावः प्रकीर्तितः। (साहित्यबिन्दु, पृ० ८०)

२१०. निर्वेदस्थायिकः शान्तः। (काव्यविलास, पृ० ९)

२११. शान्तः शमस्थायिभावः। (रसकौस्तुभ, पृ० १२०)

२१२. तस्माच्छमोऽस्य स्थायी। निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः। (रसविलास, पृ० २७)

२१३. शमस्य परिपोषस्तु रसः शान्त उदाहृतः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०६)

२१४. शमस्थायिभावकः शान्तः। (काव्यकौमुदी, पृ० ५३)

२१५. शान्तः शमात्मा विज्ञेयः तत्त्वज्ञानसमुद्भवः। (नवरसमंजरी, पृ० ७३)

२१६. न चानादिसिद्धरागद्वेषवासनानामयं न चर्वणीय इति कथमस्य रसतेति वाच्यम्, तर्हि वीतरागादिभिः शृंगारादीनामप्यचर्वणीयतया रसत्वं न स्यात्। (काव्यदर्पण, पृ० २०४)

विभावादि का उल्लेख न किये जाने के कारण उसे रस नहीं मानते। राजचूडामणि इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि परमपुरुषार्थत्व (मोक्ष) से लौकिक यात्रा का अतिक्रमण होने के कारण भरतमुनि ने शान्त के विभावादि का प्रतिपादन नहीं किया। विभावादि की कल्पना तो सरलता से की जा सकती है।[२१७] वस्तुतः यह तर्क भट्टगोपालोक्त है।[२१८]

राजचूडामणि दीक्षित शान्त के नाट्य रसत्व का खण्डन करते हुये कहते हैं कि शान्त में समस्त व्यापारों का लय हो जाता है, अतः उसका अभिनय अशक्य है। इस प्रकार शान्तरस केवल (श्रव्य) काव्य में ही सम्भव है।[२१९]

विश्वेश्वर पाण्डेय नाट्य में शान्तरस का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि नट में तो रसाभिव्यक्ति स्वीकार नहीं की गयी है। सामाजिक यदि रत्यादि की तरह राम से युक्त है तो शान्तरस की अभिव्यक्ति सम्भव है। नट में वास्तविक भय-क्रोधादि का अभाव होने पर भी जिस प्रकार शिक्षा व अभ्यास से भय-क्रोधादि के चिह्न का अभिनय सम्भव है, उसी प्रकार शान्तरस के चिह्नों का भी अभिनय हो सकता है।[२२०]

राजचूडामणि दीक्षित निर्वेद के शान्तरसस्थायित्व के इस तर्क को स्वीकार करते हैं कि निर्वेद के अमङ्गलसूचक शब्द होने के कारण प्रारम्भ में अनुपादेय होने पर भी इसका प्रथम उपादान व्यभिचारी होने के साथ-साथ शान्तरस के स्थायी भावत्व का भी सूचक है।[२२१] विश्वेश्वर पाण्डेय निर्वेद के स्थायी मानने का एक अन्य हेतु भी

---

२१७. न चैवमपि भरतेन तस्य विभावाद्यनुपदेशात् कथं रसत्वमिति वाच्यम्, तस्य विभावाद्यप्रतिपादनं परमपुरुषार्थतया लोकयात्रातिक्रान्तत्वात्।
(वही, पृ० २०४)

२१८. विभावाद्यप्रतिपादनं तस्य परमपुरुषार्थतया लोकयात्रातिक्रान्तत्वात्।
(काव्यप्रकाश व्याख्या, पृ० १३९, उद्धृत The number of Rasas Pg. 86)

२१९. निर्वेदस्थायिकः काव्ये शान्तोऽपि नवमो रसः।
न चात्र काव्यग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्। समस्तव्यापारप्रविलयलक्षणस्याभिनेतुमशक्यतया तस्य नाट्यरसत्वायोगादित्याहुः। (वही, पृ० २०३-२०४)

२२०. तदपि अनुपयुक्तम्। नटे रसाभिव्यक्तेरनङ्गीकारात्। सामाजिकानां शमवत्त्वे तदभिव्यक्तौ बाधकाभावात्। नटे भयक्रोधाद्यभावेऽपि तल्लिङ्गानामिव शिक्षाभ्यासपाटवेन शान्तरसलिङ्गानामप्यभिनयोपपत्तेः।
(रसचन्द्रिका, पृ० ६७)

२२१. अतएव व्यभिचारिषु हर्षौत्सुक्यादिषू विद्यमानेषु निर्वेदस्यामङ्गलप्रायत्वेन प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि तस्य शान्तरसं प्रति स्थायिसूचनार्थम्। (काव्यदर्पण, पृ० २०३)

उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि नित्यानित्यवस्तुविवेकरूप तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद शृंगारादि रस में व्यभिचारी नहीं हो सकता। अतः शान्तरस के प्रति निर्वेद का स्थायित्व ही अनुमत है।[२२२]

भूदेव शुक्ल निर्वेद के स्थायित्व का निषेध कर शम को स्थायी मानने का समर्थन करते हुए कहते हैं कि शान्ति में सम्पूर्ण विषयों के परिहार से उत्पन्न आत्म-मात्र में विश्राम (आत्मलीन) के कारण आनन्दानुभव होता है। अतएव समस्त-वृत्तिविलयरूप (सब चित्तवृत्तियों का अभाव रूप) निर्वेद शान्तरस का स्थायी नहीं हो सकता। शान्त का स्थायी तो भावरूप शम है, निर्वेदादि तो व्यभिचारी हैं।[२२३]

वस्तुतः शम को स्थायी भाव मानना अधिक उपयुक्त नहीं है क्योंकि शम को स्थायी मानने पर भावों की संख्या ५० हो जाती है, जबकि भरतमुनि ने कुल ४९ भावों की गणना की है।

द्वैत आलम्बन, प्रबोध (साक्षात्कार) उद्दीपन, उदासीनता अनुभाव और मति आदि व्यभिचारी भाव से पोषित निर्वेद स्थायी शान्तरस कहलाता है।[२२४] आचार्य विद्याराम शान्तरस की परिभाषा भिन्न शब्दावलि में करते हैं। उनके अनुसार काम-क्रोधादि दोषों का शमन शान्त रस है।[२२५]

शान्तरस में दोषदर्शनादि[२२६] विभाव, गृहत्यागादि[२२७] अनुभाव और स्वेदादि[२२८] व्यभिचारी भाव होते हैं।

---

२२२. नित्यानित्यवस्तुविवेकरूपतत्त्वज्ञानजन्यस्य च निर्वेदस्य
शृंगारादौ व्यभिचारित्वानुपपत्त्या तत्स्थायित्वस्य तदनुमतत्वात्।
(रसचन्द्रिका, पृ० ६७)

२२३. न चैतस्य स्थायी निर्वेदो युज्यते। तस्य विषयेष्वलं प्रत्ययरूपत्वादात्मावमान-रूपत्वाद् वा। शान्तेश्च निखिलविषयपरिहारजनितात्ममात्रविश्रामानन्दप्रादुर्भावमयत्वानुभवात्। अतएव सर्ववृत्तिविरामोऽस्य स्थायीति निरस्तम्। तस्माच्छमोऽस्य स्थायी। निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः।
(रसविलास, पृ० २६-२७)

२२४. द्वैत प्रबोधौदासीन्यमतिमुख्यैः सुपोषितः।
विभावाद्यैस्तु निर्वेदस्थायी शांतोरसः स्मृतः॥ (साहित्यसार, पृ० १२८)

२२५. कामक्रोधादिदोषाणां शमः शान्तोऽथवा रसः। (रसदीर्घिका, पृ० ३८)

२२६. दोषालोको विरक्तिश्च विषयोद्भवकर्मणि।
सत्सङ्गः शास्त्रसद्ज्ञानं विभावोऽत्र निरूपितः॥ (वही, पृ० ३८)

२२७. अनुभावो गृहत्यागः पुण्यैकान्तस्थलाश्रयः।
आत्मसंचिन्तनं देहाद्यनपेक्षणमक्रिया॥ (वही, पृ० ३८)

२२८. स्वेदहर्षाश्रुपुलकस्तम्भा गद्गद्वाक् तथा।
आनन्दाविर्भावो मोह इत्याद्या व्यभिचारिणः॥ (वही, पृ० ३८)

आचार्य वेणीदत्त साहित्यदर्पण के आधार पर शान्त रस का देवता नारायण तथा वर्ण श्वेत स्वीकार करते हैं।[२२९] किन्तु विद्याराम शान्त का देवता ब्रह्मा तथा वर्ण कषाय मानते हैं।[२३०]

## वत्सलरस

कविराज विश्वनाथ वत्सल में भी चमत्कार होने के कारण वत्सल रस की स्थापना करते है। वे वात्सल्य स्नेह को इसका स्थायी भाव और पुत्रादि को आलम्बन विभाव मानते हैं।[२३१] पण्डितराजोत्तर आचार्यगण प्रायः प्राचीन आलङ्कारिक परम्परा का अनुकरण करते हुए पुत्रादिविषयक रतिभाव की अभिव्यक्तिरूप वत्सलरसध्वनि न मानकर भाव ध्वनि ही मानते हैं। छज्जूराम शास्त्री स्नेह, वात्सल्य, मैत्री और आबन्ध को रतिविशेष ही कहते हैं, ये रसपदवाच्य नहीं हो सकते।[२३२]

हरिदास सिद्धान्तवागीश 'स्नेह' को वत्सल रस का स्थायी स्वीकार करते हैं[२३३] किन्तु श्रीकृष्ण कवि वत्सलता स्नेह को स्थायी न मानकर 'कारुण्य' को स्थायीभाव मानते हैं।[२३४]

## भक्ति रस

शाण्डिल्य (भक्तिशास्त्र के सूत्रकार) मार्गीय भक्तिनामक दसवाँ रस मानते हैं। भक्तिरस की स्थापना का श्रेय मधुसूदन सरस्वती को है। वे इसे समस्त रसों में श्रेष्ठ मानते हैं। उनका कहना है कि चूँकि इसमें भी आस्वाद्यत्व होता है तथा इसका स्थायीभाव होता है, इसलिये यह रस कहलाने योग्य है। इसके अतिरिक्त रूपगोस्वामी एवं कविकर्णपूर भी भक्तिरस के समर्थक हैं। रूप-गोस्वामी समस्त रसों को भक्ति में पर्यवसित मानते हैं। वे भक्ति को मुख्य रस तथा अन्य रसों को इसका अङ्ग मानते हैं। रूपगोस्वामी ने भक्तिरस का स्थायीभाव भगवद्-रति माना है। उनके अनुसार अन्य किसी की अभिलाषा से शून्य ज्ञान और कर्मों आदि से अनाच्छादित सर्वथा अनुकूल भावना से श्रीकृष्ण का अनुशीलन ही भक्ति है। भरतमुनि भक्ति को रस के अन्तर्गत नहीं

---

२२९. शान्तः शमस्थायिभावः श्वेतः श्रीपतिदैवतः। (रसकौस्तुभ, पृ० १२०)

२३०. वर्णः कषायः शान्तस्य परं ब्रह्माथ दैवतम्। (रसदीर्घिका, पृ० ३८)

२३१. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥ (साहित्यदर्पण, पृ० २६६)

२३२. स्नेहो वात्सल्यं मैत्र्याबन्ध एते तु रतेरेव विशेषा न रसाः।
(साहित्यबिन्दु, पृ० ८०)

२३३. स्नेहस्थायिभावको वत्सलः। (काव्यकौमुदी, पृ० ५७)

२३४. अन्ये तु करुणास्थायी वात्सल्यं दशमोऽपि च।
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १००)

मानते। अभिनवगुप्त इसका अन्तर्भाव शान्त रस में और पण्डितराज भाव (ध्वनि में) करते हैं।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में अच्युतराय, विद्याराम प्रभृति आचार्यों को भक्ति रसरूप में मान्य है। अच्युतराय भक्ति रस के प्रति गम्भीर नहीं हैं। वे कहते हैं कि भक्ति सम्प्रदाय के लोग भक्ति रस मानते हैं और आलङ्कारिकमानी उसका खण्डन करते हैं। प्रश्न उठता है कि भक्तमत श्लाघ्य है अथवा आलङ्कारिकमत? आचार्य अच्युतराय को दोनों ही मत मान्य हैं।[२३५] उन्हें इनमें विरोध नहीं दिखायी देता। वे संक्षेप में दोनों मतों की आलोचना प्रस्तुत करते हैं। भक्ति दो प्रकार की होती है—मुख्या और अमुख्या। मुख्या भक्ति को जीवन्मुक्ति कहते हैं। आलङ्कारिक मुख्या भक्ति का अन्तर्भाव शान्त रस में करते हैं और अमुख्या भक्ति को भाव मानकर उसका खण्डन करते हैं। भक्तमतानुयायी शान्तरस का ही अन्तर्भाव मुख्या भक्ति में करते हैं और भक्ति को रस मानते हैं।[२३६]

आचार्य विद्याराम भक्ति को पृथक् रस मानते हैं। उनका कहना है कि भक्ति रस का अन्तर्भाव शान्तरस में नहीं हो सकता क्योंकि शान्तरस का स्थायी निर्वेद है, वहाँ सर्वत्र निर्वेद रहता है और भक्तिरस में ऐहिक व आमुष्मिक सुख का आस्वादन होने के कारण शान्तरसीय निर्वेद नहीं होता। अत: भक्ति शान्त से भिन्न है।[२३७]

भूदेव शुक्ल भक्ति को रस नहीं मानते। वे उसे प्राचीन आलङ्करिकों की भाँति भावध्वनि मानते हैं। उनका मत है कि भक्ति में ईश्वर विषयक रति होती है, अत: उसका अन्तर्भाव 'भाव' में हो जाता है।[२३८]

विद्याराम के अनुसार भक्तिरस का स्थायी भाव 'भाव' है। रूप रसादि विषयों को छोड़कर ईश्वर में दृढ़ प्रेम उत्पन्न होना भाव कहलाता है और यह भाव स्थायीभाव पुष्ट होकर भक्तिरस में परिणत हो जाता है।[२३९] विद्याराम भावध्वनि से भाव स्थायी-भाव का भेद करते हुए कहते हैं कि देवादिविषयक रति को भाव कहते हैं। यहाँ

---

२३५. वस्तुतस्तूभयश्लाध्यं यो मद्भक्त इति स्मृतेः। (साहित्यसार, पृ० १३१)

२३६. भक्तिर्हि द्विविधा मुख्याऽमुख्या च। तत्र आद्याया आलङ्कारिकमते शान्तेऽन्तर्भावात् अन्त्यायाश्च भावत्वात् तत्खण्डनम्, भक्तमते तु शान्तस्येव तत्रान्तर्भावात् आद्याया एव रसत्वोक्त्या तन्मण्डनं च इत्यविरोधः (वही, पृ० १३१)

२३७. निर्वेदस्थायिनि शान्तरसे सर्वतो निर्वेद एव, भक्तौ त्वैहिकामुष्मिक सुखास्वादनोत्तरायां न तथा निर्वेदोऽतो भक्तिर्भिन्नैवोच्यते।
(रसदीर्घिका, पृ० ४०)

२३८. भक्ते रतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः। (रसविलास, पृ० २७)

२३९. विषयाध्यासमुन्मुच्य दृढप्रेमा य ईश्वरे।
स भाव इति विज्ञेयः पूर्णो भक्तिरसस्तु सः।। (रसदीर्घिका, पृ० ४०)

देवादि साधारण पद प्रयोग करने के कारण वह भी साधारण होता है। वह भक्ति रस का स्थायी नहीं हो सकता क्योंकि उस भाव में विषयाध्यास की निवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार विषयाध्यास निवृत्तिपूर्वक निज ईश्वर में दृढ़प्रेम नामक असाधारण भाव ही भक्तिरस का स्थायी है, साधारण भाव नहीं।[२४०] प्रेम का तात्पर्य है ऐकान्तिक तादात्म्य होना और इन्द्रिय सहित मन का निज ईश्वर के साथ तादात्म्य होना ही भक्ति है।[२४१]

भक्तिरस में पूर्व पुण्य का संचय इत्यादि[२४२] विभाव, अपने पूज्यदेव में दृढ़ विश्वास इत्यादि[२४३] अनुभाव और हर्षादि[२४४] व्यभिचारी भाव होते हैं।

आचार्य विद्याराम भक्तिरस का देवता विष्णु एवं वर्ण कृष्ण स्वीकार करते हैं।[२४५] विद्याराम ने भागवतोक्तो नव प्रकार की भक्ति के आधार पर भक्ति रस नव प्रकार का माना है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।[२४६]

---

२४०. रतिर्देवादिविषया भाव इत्यत्र देवादिसाधारणपदप्रयोगात् स भावोऽपि साधारण: स: भक्तेः स्थायी भावो न भवति। तत्र विषयाध्यासनिवृत्तेरभावात्। अतो विषयाध्यासनिवृत्तिपूर्वकं निजेश्वरे दृढप्रेमाख्यो साधारणो भाव एव भक्तेः स्थायिभावो न साधारण:। (वही, पृ० ४१)

२४१. तदेकतानतात्पर्थं स प्रेमा परिकीर्तितः।
भक्तिर्वा सेन्द्रियस्यैकतानता मनसः प्रभौ॥ (वही, पृ० ४१)

२४२. पूर्वपुण्योच्चयः साधोः सङ्गतिस्तीर्थसेवनम्।
सच्छास्त्राभ्यसनं चास्य विभावः परिकीर्तितः॥ (वही, पृ० ४१)

२४३. अनुभावस्तु विश्वासो दृढः स्वोपास्यदैवते।
यत्कर्मकरणे श्रद्धा तत्कथायां महारुचिः॥
अनन्यचित्तताभीक्ष्णं तदीक्षणनमस्क्रिया।
प्रेम्णा संशीलनं भोगस्तन्निवेदितवस्तुनः॥
प्रतिपर्वोत्सवस्तस्य क्षेत्रयात्रानुकालतः।
तदर्थं मन्दिरारामनिपानादिविनिर्मितः॥
नर्तनं वादनं गानं मुक्त्वा लज्जां तदग्रतः।
ज्ञेया भक्तिरसस्यैतेऽनुभावाः स्मरणादयः॥ (वही, पृ० ४१)

२४४. हर्षावेगौ तथा स्वेदः पुलकः प्रेम।
स्तम्भाश्रु मतिमोहाद्या भक्तो तु व्यभिचारिणः॥ (वही, पृ० ४२)

२४५. वर्णो भक्तैर्घनश्यामो दैवतं पुरुषोत्तमः। (वही, पृ० ४१)

२४६. श्रवणं कीर्तनं चैव स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (वही, पृ० ४२)

## माया रस

रसतरंगिणीकार भानुदत्त मिश्र माया को दसवाँ रस स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि चित्तवृत्ति दो प्रकार की होती है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। जब निवृत्ति में पूर्वाचार्यों द्वारा शान्त रस अङ्गीकार किया गया है, तब प्रवृत्ति में माया रस अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। वे इसका स्थायी भाव मिथ्या ज्ञान मानते हैं।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में विद्याराम, श्रीकृष्ण कवि प्रभृति आचार्य माया रस की सत्ता स्वीकार करते हैं। विद्याराम माया रस स्वीकार करने पर भी रसों की कुल संख्या नव ही मानते हैं। उनका कहना है कि माया रस और शान्तरस विरोधी हैं। एक के रहने पर दूसरा नहीं रह सकता। संसार में निवृत्ति होने पर शान्त रस की प्राप्ति होने से माया रस का अभाव हो जाता है और संसार में प्रवृत्ति होने पर माया रस की प्राप्ति होने से शान्त रस का अभाव हो जाता है। अतः शान्त रस व माया रस में अन्योन्याभाव सम्बन्ध होने से दोनों में से एक ही रस की स्थिति सम्भव है।[२४७]

चिरञ्जीव भट्टाचार्य और विश्वेश्वर पाण्डेय माया के रसत्व का खण्डन करते हैं। चिरञ्जीव भट्टाचार्य का कहना है कि माया आदि होने के कारण अजन्य है। अजन्य होने से माया रस नहीं हो सकता क्योंकि सभी रस जन्य हैं। चिरञ्जीव भट्टाचार्य मिथ्याज्ञान के स्थायीभावत्व का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि मिथ्याज्ञानादि को माया का कारण मानते हैं तब शास्त्र से विरोध होगा क्योंकि आलङ्कारिक रस को नित्य, आनन्दरूप मानते हैं। अतः रस के ब्रह्मस्वरूप होने के कारण माया का रसत्व असम्भव है।[२४८]

वस्तुतः चिरञ्जीव भट्टाचार्य की आलोचना अधिक संगत नहीं है। यदि माया को ब्रह्मभिन्नत्व के कारण ब्रह्मस्वरूप रस नहीं मान सकते तो शृङ्गारादि का रसत्व भी सन्दिग्ध हो जाता है क्योंकि ये सभी माया के अन्तर्गत आते हैं। यदि बीभत्स, भयानक और रौद्र रसरूप में मान्य हैं तो माया के रसत्व को इस तर्क के आधार पर अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

---

२४७. यथा निवृत्तौ शान्तरसे सति मायारसाभावस्तथा प्रवृत्तौ मायारसे सति शान्तरसाभाव एवमन्योन्यभावेन द्वयोरन्यतर एव रसः। अतो नव रसा इत्युक्तम्।
(वही, पृ० ४०)

२४८. अत्रेदं चिन्त्यम्—मायाया अनादित्वेनाऽजन्यत्वाद्रसत्वासम्भवः। रसास्तु सर्वे जन्या एव। कथं वा कथयेन्मिथ्याज्ञानादिर्मायायाः कारणमिति शास्त्रविरुद्धत्वात्। वस्तुतस्तु आलङ्कारिकाणां मते रसो नित्य आनन्दरूपः। अतस्तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन मायाया रसत्वाऽसम्भवः। (काव्यविलास, पृ० १०)

माया रस के प्रतिष्ठापक आचार्य माया को स्वतन्त्र रस मानते हैं। वे माया को सामान्य रस व अन्य रसों को माया विशेष रस मानने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि शान्तरस बहिर्भूत हो जायगा। विश्वेश्वर पाण्डेय इस तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं कि शान्त-रस भी मायाविषयक अथवा माया कार्यविषयक होता है अतः माया को सामान्य रस मान लेने पर शान्त के बहिर्भाव की आशङ्का करना व्यर्थ है।[२४९]

विश्वेश्वर पाण्डेय का मत उपयुक्त है। वस्तुतः माया स्वतन्त्र अथवा पृथक् रस नहीं है। प्रवृत्तिप्रधान शृंगारादि आठ रसों के समूह को माया रस कहा जा सकता है।

आचार्य विद्याराम के अनुसार संसार में प्रगाढ़ राग उत्पन्न होना मिथ्या ज्ञान कहलाता है। इसी मिथ्या ज्ञानरूपी स्थायी भाव को विभावादि से परिपुष्ट होने पर माया रस कहते हैं।[२५०]

माया रस में सांसारिक भोगों के उपार्जन में उद्यत रहना इत्यादि[२५१] विभाव, लौकिक कर्मों में आग्रह इत्यादि[२५२] अनुभाव और हर्षादि[२५३] व्यभिचारी भाव होते हैं।

विद्याराम मायारस का देवता निर्ऋति (मृत्यु) और वर्ण नील स्वीकार करते हैं।[२५४]

## लौकिक एवं अलौकिक रस

रसतरंगिणीकार भानुदत्त ने समस्त रसों के दो भेद किये हैं--लौकिक और अलौकिक श्रीकृष्ण कवि एवं अच्युतराय ने भी रसों की लौकिकता व अलौकिकता प्रतिपादित की

---

२४९. शान्तरसस्याप्यविद्यातत्कार्यान्यतरविषयकत्वेन बहिर्भावस्य शङ्कितुमनर्हत्वात्।
(रसचन्द्रिका, पृ० ६९)

२५०. प्रगाढरागः संसारे मिथ्याज्ञानं प्रकीर्तितम।
मिथ्याज्ञानं तु सम्पूर्णं माया रस इति स्मृतः।। (रसदीर्घिका, पृ० ३९)

२५१. सांसारिकानां भोगानामुपार्जनसमुद्यमः।
विषयाभिनिवेशश्च गृहे रागो दृढस्तथा।।
ज्ञेयो मायारसस्यायं विभावोऽप्यतिमूढता। (वही, पृ० ३९)

२५२. अनुभावस्तु निर्बन्धो लौकिकेष्वेव कर्मसु।
लोभोऽनृतं कलिर्हिंसा द्वेषः स्तैन्यं रुषस्तथा।
स्त्रीपुत्रद्रविणाद्येषु प्रगाढाभिनिवेशनम्।। (वही, पृ० ३९)

२५३. हर्ष स्तम्भो मदोऽसूया मोहो ग्लानिर्भ्रमस्तथा।
आलस्याद्या भवन्त्यत्र कतिचिद् व्यभिचारिणः।। (वही, पृ० ३९)

२५४. वर्णो नीलो सवर्णोऽस्य दैवतं निर्ऋतिस्तथा। (वही, पृ० ३९)

है।[२५५] उपर्युक्त श्रृंगारादि रसों का विवेचन लौकिक है। अच्युतराय के अनुसार रत्यादि स्थायी भावों का उद्बोध नैयायिकोक्त संयोगादि लौकिक षोढा सन्निकर्ष से होने पर जो रस उत्पन्न होता है, वह लौकिक है।[२५६] श्रीकृष्ण कवि भी बहिर्भूत स्वसंनिकर्ष से उत्पन्न रस को लौकिक कहते हैं।[२५७]

जो रस केवल आत्मचेतस् के संनिकर्ष से उत्पन्न होता है, उसे अलौकिक कहते हैं।[२५८] अच्युतराय इस अलौकिक संनिकर्ष को ज्ञान कहते हैं।[२५९] यह ज्ञान वर्तमान जन्म में तो साक्षात् अनुभूत ही होता है। स्वप्न में उपस्थित होने वाले वस्तुओं में भी पूर्व संस्कार द्वारा ज्ञान ही संनिकर्ष होता है। अच्युतराय इस अलौकिक रस के तीन भेद स्वीकार करते हैं—स्वाप्न, मानोरथ और औपनायिक। स्वप्न में उत्पन्न होने वाले अर्थात् स्वप्न जगत् के वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सुख को स्वाप्न कहते हैं।[२६०] किसी वस्तु की कल्पना में उत्पन्न होने वाले अर्थात् मनोराज्य में में ही प्राप्त सुख को मानोरथ कहते हैं।[२६१] काव्य में बुद्धिस्थ और नाट्य में निकटवर्ती नट में अपने को अभिन्नत्वेन भावना करने से (दोनों दशाओं में समीपवर्ती नायक में अभिन्नत्वेन भावना से) जो रस उत्पन्न होता है, वह औपनायिक कहलाता है।[२६२] दूसरे शब्दों में काव्य में पदादि के द्वारा और नाट्य में अभिनयादि के द्वारा सहृदयों को चमत्कार से जो रस उत्पन्न होता है, वह औपनायिक है।[२६३]

**रस का प्रकारान्तर से विभाजन**—गंगा राम जडी रस के दो भेद करते हैं—(१) मुख्य और (२) गौण। इनमें प्रथम के दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्य क्रम। जहाँ विभावादि के द्वारा रस स्फुट रूप में प्रतीयमान होता है उसे असंलक्ष्यक्रम तथा जहाँ कष्ट कल्पनापूर्वक विभावादि में से किसी एक असाधारण की स्फुट रूप में प्रतिपत्ति होने पर शीघ्र ही आक्षेप से अन्य भावों की प्रतिपत्ति हो जाती है उसे संलक्ष्य-

---

२५५. एते रसाः पुनर्द्वेधा लौकिकालौकिकत्वतः। (साहित्यसार, पृ० १२९)
२५६. संयोगादिलौकिकसंनिकर्षजन्यत्वं लौकिकत्वम्। (वही, पृ० १२९)
२५७. बहिः स्वसंनिकर्षेभ्यः स्यादुद्भूतस्तु लौकिकः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १००)
२५८. आत्महेतुः संनिकर्षमात्रजातस्त्वलौकिकः। (वही, पृ० १००)
२५९. ज्ञानाख्यालौकिकसंनिकर्षजन्यत्वमलौकिकत्वम्। (साहित्यसार, पृ० ११९)
२६०. स्वप्ने भवाः स्वाप्नाः। (वही, पृ० १२९)
२६१. मनोरथे भवाः मानोरथाः। (वही, पृ० १२९)
२६२. उपनायके काव्ये बुद्धिस्थत्वेन नाट्ये निकटवर्तिनटाभिन्नत्वेन भावितत्वात् समीपवर्तिनि नायके भवा औपनायिकाः। (वही, पृ० १२९)
२६३. पदादिभिश्चमत्कारात्काव्ये चाभिनयादिभिः।
नाट्ये च सुविधां जात औपनायिक उच्यते॥ (वही, पृ० १२९)

क्रम कहते हैं। जहाँ पर भाव मुख्य होता है वहाँ रस गौण होता है।[२६४] पण्डितराज भी कहीं-कहीं रस को संलक्ष्यक्रम स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जहाँ विभावादि का ज्ञान प्रकरणादि के अनुसन्धान से होता है, वहाँ प्रकरणादि के अनुसन्धान में विलम्ब होने से क्रम स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।[२६५]

**रस की प्रकृति**—विद्याराम एवं श्रीकृष्ण आठ रसों को चार भागों में बाँटते हैं[२६६]—(१) अत्यन्त सुकुमार रस—श्रृंगार और करुण, (२) किञ्चित् सुकुमार रस—हास्य और अद्‌भुत, (३) अत्युद्धत रस—रौद्र और बीभत्स, (४) ईषत् प्रौढ—वीर और भयानक। विद्याराम ने शान्त रस को भी किञ्चित सुकुमार प्रकृति का माना है।[२६७]

**रस संङ्कर**—श्री कृष्ण कवि के अनुसार यदि देश, कालादि के भेद से अनेक रसों का अङ्गतथा सन्निवेश हो तो उसे रस सङ्कर कहते हैं।[२६८] विद्याराम इसे रस-शबलता का नाम देते हैं।[२६९]

**मूल रस**—पण्डितराजोत्तर आचार्यों ने भी रस के क्षेत्र में अद्वैत की स्थापना का प्रयत्न किया। आचार्य विद्याराम[१७०] एवं गंगाराम जड़ी[१७१] श्रृंङ्गार को समस्त रसों

---

२६४. स रसो द्वेधा प्रोक्तः प्रथमो मुख्योऽपरो गौणः।
आद्योऽपि द्विविधः स्यादक्रम एकोऽथ सक्रमोऽन्योऽपि ॥
तत्रासंलक्ष्यक्रम उक्तैर्व्यक्तः स यो विभावाद्यैः।
उन्नेय-विभावो यः सतु संलक्ष्यक्रमः कथितः ॥
भावोऽस्ति यत्र मुख्यो रसोऽत्र गौणो मतः सुधियाम्।
(रसमीमांसा, पृ० ५१-५२)

२६५. यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणं उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति।
(रसगंगाधर, पृ० ३७३)

२६६. अत्यन्त सुकुमारौ तु श्रृंङ्गारकरुणौ मतौ।
हास्याद्भुतावुभौ किञ्चित्सुकुमारौ प्रकीर्तितौ।
अत्युद्धतरसौ रौद्रबीभत्सौ परिकीर्तितौ।
ईषत्प्रौढौ समाख्यातौ रसौ वीरभयानकौ ॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १८६)

२६७. ईषन्मृदुनिसर्गाश्च शान्तहास्याद्‌भुता रसाः। (रसदीर्घिका, पृ० ५४)

२६८. अनेकेषां रसानां चोद्‌देशकालादिभेदतः।
मेलनेऽङ्गतया तत्र रससंकर इष्यते ॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १८५)

२६९. अङ्गाङ्गीभावापन्नानामेकत्र युगपच्च यः।
समावेशो हि शाबल्यं रसानां परिकीर्तितम् ॥ (रसदीर्घिका, पृ० ४८)

१७०. श्रृंङ्गारः प्रथमः तत्र मुख्यत्वात् सकलेष्वपि। (वही, पृ० ९)

१७१. तस्याभिव्यक्तिर्या श्रृंङ्गाराख्यः स रसमूर्धा। (रसमीमांसा, पृ० १९)

में श्रेष्ठ मानते हैं। विद्याराम का कहना है कि रसों का रसत्व शृंङ्गार की अनुगता में है।[२७०] शृंङ्गार की श्रेष्ठता के ही कारण आचार्य प्रायः पहले उसका ही विवेचन करते हैं।

भूदेव शुक्ल, पण्डित नारायण की अद्भुतैकरसता से सहमत नहीं हैं। वे रस-प्रदीपोक्त तर्कों के आधार पर उसका खण्डन करते हैं।

श्रीकृष्ण कवि प्राचीन आलंकारिक परम्परा का अनुसरण करते हुए शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स को मूल (प्रकृति) रस मानते हैं और इनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[२७१] विद्याराम इस जन्य जनकभाव को रसों की मैत्री का कारण मानते हैं अर्थात् शृंगार और हास्य, रौद्र और करुण, वीर और अद्भुत तथा बीभत्स और भयानक परस्पर मित्र रस हैं।[२७२] श्रीकृष्ण कवि ने हास्य और करुण, वीर और भयानक, रौद्र और अद्भुत तथा शृंगार और बीभत्स को शत्रु-रूप कहा है।[२७३]

**रस और औचित्य**—प्रायः सभी आलंकारिकों ने औचित्य की महत्ता को स्वीकार किया है। वे औचित्य को रस का प्राणभूत तत्त्व मानते हैं। विद्याराम प्रभृति आचार्यों ने भी यह स्वीकार किया है कि ये रस जब औचित्यपूर्वक प्रवृत्त होते हैं तभी रस कहलाते हैं अन्यथा इन्हें रसाभास कहते हैं।[२७४] औचित्यपूर्वक प्रवृत्त न होने पर मित्र रस भी शत्रु हो जाते हैं और औचित्यपूर्वक प्रवृत्त होने पर शत्रु रस भी मित्र हो जाते हैं।[२७५] इसी प्रकार भाव भी औचित्य-प्रवर्तित होने पर ही भावत्व को प्राप्त होते हैं।[२७६]

---

२७०. शृंङ्गारस्यानुगत्वेन रसाः स्वारस्यमाप्नुयुः। (रसदीर्घिका, पृ० २)

२७१. शृंगाराद्धास्यसंभूती रौद्राच्च करुणो भवेत्।
वीरात्स्यादद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०७)

१७२. शृंगारहास्ययोर्मैत्री रौद्रस्य करुणस्य च।
वीराद्भुतौ मिथो मित्रे बीभत्साख्यभयानकौ॥
अप्येषां जन्यजनकभावो मैत्र्ऽयेस्ति कारणम्। (रसदीर्घिका, पृ० ४६)

२७३. अन्योन्यं हास्यकरुणौ तथा वीरभयानकौ।
रौद्राद्भुतौ च शृंगारबीभत्सौ शत्रुरूपिणौ॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०७)

२७४. रसत्वं तु तदैवैषां यदौचित्येन वर्णनम्।
अनौचित्यप्रवृत्ताश्चेद्रसाभासा भवन्त्यमी॥ (रसदीर्घिका, पृ० ४५)

२७५. अनौचित्ये भवन्त्येते मित्राण्यपि हि शत्रवः।
शत्रवोऽपि च मित्राणि यदौचित्यप्रवर्तितम्॥ (वही, पृ० ४६)

२७६. यथा रसास्तथा भावा औचित्याद् भावतामियुः। (वही, पृ० ४६)

भाव, रसाभास, भावाभास इत्यादि के विषय में पण्डितराजोत्तर युग में नवीनता का सर्वथा अभाव दिखाई देता है। अच्युतराय भाव (ध्वनि) को अवर भक्ति भी कहते हैं।[२७७] उनका कहना है कि देवादिविषयक रति तो प्रीति ही होती है।[२७८] राजचूडामणि दीक्षित रति पद का आशय बताते हुए कहते हैं कि यहाँ रति पद से मन्मथानुद्दीपनीय प्रीति विशेष ही विवक्षित है। अतः पार्वती की परमेश्वरविषया रति अभिव्यक्त होने पर काम की उद्दीप्यता के कारण शृंगार रस ही है।[२७९] हरिदास सिद्धान्तवागीश भाव (ध्वनि)की अतिस्पष्ट परिभाषा करते हैं—सहृदय सामाजिक में रत्यादि स्थायीभावों के आविर्भाव मात्र को भाव (ध्वनि) कहते हैं।[२८०] यहाँ 'मात्र' पद के प्रयोग से 'विभावादि से परिपुष्टि' की व्यावृत्ति हो जाती है। वस्तुतः यह परिभाषा अव्याप्ति-दोषग्रस्त है क्योंकि प्राचीन आलंकारिक सामाजिक गत प्रधानतया अभिव्यंग्य तेंतीस व्यभिचारी भावों को भी भावध्वनि कोटि का मानते हैं।

यदि आलम्बन विभाव असम्मत हो तो रस सदृश आभासित होने के कारण रसाभास होता है।[२८१] छज्जूराम शास्त्री अनौचित्य (असम्मत) का तात्पर्य बतलाते हुए कहते हैं कि जहाँ सहृदयों को अनुचित प्रतीत हो वही अनौचित्य होता है।[२८२] रसाभास प्रसङ्ग में आचार्यों ने प्रायः श्रृंगाररसाभास का ही विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। नृसिंह कवि म्लेच्छादिविषयक शृंगार को शृंगाराभास मानते हैं क्योंकि लोकोत्तर व्यक्ति के आश्रय होने पर ही शृंगार, वीर, रौद्र और अद्भुत रसों का परिपोष होता है। इसी प्रकार नायक-नायिकान्यतर अनुराग, तिर्यक् विषयक अनुराग एवं एक स्त्री का अनेक पुरुषों के प्रति अनुराग रसाभास की ही कोटि में आता है।[२८३] राजचूडामणि दीक्षित

---

२७७. अथ अवरभक्त्यपरनामिकां देवादिविषयिकां रतिं लक्षयति।
(साहित्यसार, पृ० १३८)

२७८. देवादौ रतिः तु प्रीतित्वमेव देवादिविषयकरतित्वम्। (वही, पृ० १३८)

२७९. अत्र रतिशब्देन मन्मथानुद्दीपनीयप्रीतिविशेषस्यैव विवक्षितत्वात्।
ततश्च पार्वत्याः परमेश्वरविषया रतिः अभिव्यक्ता मन्मथोद्दीप्यतया शृंगार-रस एवेत्याहुः। (काव्यदर्पण, पृ० २०५)

२८०. आविर्भूतमात्रः स्थायीभाव एव भाव.। (काव्यकौमुदी, पृ० ५७)

२८१. असंमतावलम्बित्वादयोग्यविषयत्वत·।
रसाभासास्तथा भावाभासाश्च स्युरनुक्रमात्॥ (साहित्यसार, पृ० १२९)

२८२. अनौचित्यन्तु सहृदयव्यवहारतो ज्ञेयम्। यत्र तेषामनुचितधीः।
(साहित्यबिन्दु, पृ० ८४)

२८३. शृंगारवीररौद्राद्भुतानां लोकोत्तरनायकाश्रयत्वेन परिपोषातिशय·। अतएव शृंगारस्य म्लेच्छादिविषयत्वेनाभासत्वम्।
एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यङ् म्लेच्छगतोऽपि वा।
योषितो बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः॥ (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ३८)

तिर्यक् विषयक अनुराग को मम्मट की भांति शृंगाररस ही मानते हैं, शृंगाराभास नहीं। उनका मत है कि तिर्यंगादि में भी विभावादि सम्भव है। यह नहीं कह सकते कि चूंकि तिर्यंगादि को विभावादि ज्ञान नहीं होता अतः वे रस-पात्र नहीं हो सकते क्योंकि विभावादि की सत्ता ही रस का प्रयोजक है, विभावादि का ज्ञान नहीं। राजचूडामणि दीक्षित वेश्या के अनेक पुरुषविषयक राग को भी शृंगाराभास ही मानते हैं।[२८४] भूदेव शुक्ल इनके अतिरिक्त गुरुपत्नीविषयक अनुरागादि को भी शृंगाराभास मानते हैं। वे पण्डितराज के आधार पर शृंगार की भांति शृंगाराभास के भी दो भेद मानते हैं— संयोगाभास और वियोगाभास।[२८५]

इसी प्रकार वैराग्यरहित व्यक्तिविषयक शान्त को शान्ताभास, क्षुद्र व्यक्तिविषयक वीर को वीराभास, उत्तमप्रकृतिक व्यक्ति विषयक भय को भयानकाभास, निजकुकर्मवशदुर्गतिप्राप्त व्यक्तिविषयक करुण को करुणाभास, तत्त्वज्ञानविषयक बीभत्स को बीभत्साभास इत्यादि कहेंगे।[२८६]

राजचूडामणि दीक्षित रसाभासत्व की स्थापना करते हुए कहते हैं कि यद्यपि सहृदय सामाजिकगत स्थायी ही अभिव्यक्त होता हैं, फिर भी काव्यवर्णनादि विषय में अनौचित्य का प्रतिसन्धान होने के कारण व्यंग्य रस में भी आभासत्व का व्यवहार होता है।[२८७]

रसाभास की ही भांति भाव जब अनौचित्य प्रवर्तित होता है तब भावाभास होता है। छज्जूराम शास्त्री इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अगम्या में प्रीति भावाभास होता है।[२८८]

---

२८४. केचित्तु तिर्यगादिषु रसाभासमाचक्षते। तदयुक्तम्, तेष्वपि विभावादिसम्भवात्। न च विभावादिज्ञानशून्यास्तिर्यञ्चो रसभाजनं भवितुं नार्हन्तीति वाच्यम्। विभावादिसद्भावो हि रसप्रयोजको न विभावादिज्ञानम्। न च वेश्याया अनेकविषयकरागेऽपि नानौचित्यमिति नात्र रसाभासतेति वाच्यम, तस्या अपि युगपदनेकानुरागस्यानौचित्यात्। (काव्यदर्पण, पृ० २११)

२८५. तत्र शृंगारवत् शृंगाराभासोऽपि द्विधा संयोगाभासो वियोगाभासश्च। (रसविलास, पृ० ५०)

२८६. वैराग्यादिहीने पुरुषे शान्तः ब्रह्मादिवधार्थमुत्साहः क्षुद्रे वीरः, उत्तमे पात्रे सहजं भयम्, निजकुकर्मवशलभ्यदुर्गतिके करुणः, तत्त्वज्ञानिनि बीभत्सः, विशेषदर्शिनि अद्भुतः, अपकारिणि स्नेह इत्यादयः (रसगंगाधर मधुसूदनी, पृ० ३५६)

२८७. यद्यपि काव्यश्रवणनाट्यदर्शनाभ्यां विभावादीनां साधारण्येन ज्ञाने सति सामाजिकानां स्वीयस्थाय्यभिव्यक्तिरित्यलौकिको रसः स्वतो नाभासः तथापि साधारण्यप्रतीतिप्रयोजककाव्यवर्णनादिविषये तत्रानौचित्यप्रतिसन्धानात्तद्व्यंग्ये रसेऽप्याभासत्वव्यवहार इति। (काव्यदर्पण, पृ० २११)

२८८. अगम्यायां प्रीतिर्भावाभासः। (साहित्यबिन्दु, पृ० ८६)

राजचूडामणि दीक्षित रस के उदय, शान्ति, सन्धि और शबलता का निराकरण करते हुए कहते हैं कि चूंकि रस नित्य है अत: रसोदय और रसशान्ति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार रससन्धि व रसशबलता भी सम्भव नहीं है क्योंकि जब तक स्थायी भाव विभावादि से संवलित नहीं होगा, रसाभिव्यक्ति नहीं होगी और विभावादि से संवलित होने पर रसानुभूति होने के कारण अन्य विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं है।[२८९] इसीलिए असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य की कारिका में मध्य में 'भाव' शब्द का निवेश हुआ है। कुछ आचार्य 'भाव' पद का अर्थ व्यभिचारिभाव मात्र करते हैं।[२९०]

आचार्यों ने अभिव्यञ्जित व्यभिचारी भावों की चार अवस्थाओं के आधार पर चार भेद किये हैं—भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता। 'भाव' पद से भावस्थिति का बोध हो जाता है।[२९१] भावोदय इत्यादि सभी अन्ततः भाव ही है।[२९२]

अनुत्पन्न भाव की अकस्मात् उत्पत्ति को भावोदय कहते हैं।[२९३] किसी कारणवश उत्पन्न हुए भाव का अकस्मात् प्रशमन हो जाना भावशान्ति कहलाता है।[२९४] अच्युतराय का मत है कि यह क्षय भी उत्पत्तिकालावच्छिन्न ही होता हैं, कालान्तरावच्छिन्न नहीं अर्थात् भाव उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाय।[२९५]

जहाँ एक साथ दो भावों का समावेश हो, उसे भावसन्धि कहते हैं।[२९६] भूदेव शुक्ल के अनुसार सन्धि का तात्पर्य है एक समय में तुल्य कक्षा वाले भावों का

---

२८९. रसस्य हि न शान्त्युदयौ सम्भवतः, तस्य नित्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्, नापि सन्धिशबलते सम्भवतः, स्थायिभावस्य विभावाद्यसंवलने रसतयानभिव्यक्तेस्तत्संवलने तु रसतात्पर्यविसानेन विगलितवेद्यान्तरत्वात् (काव्यदर्पण, पृ० १३७)

२९०. 'रसभावतदाभाषभावशान्त्यादयो यदा' अत्र तदाभासशान्त्यादय इति वक्तुं शक्यत्वेऽपि भावशान्त्यादय इति मध्ये भावपदनिवेशो रसशान्त्यादिप्रतिषेधार्थः। केचित्तु भावशब्दस्य मध्ये ग्रहणं व्यभिचारिभावानामेवात्र भावशब्दप्रतिपाद्यत्वमिति द्योतयितुमित्याहुः।

(वही, पृ० १३७)

२९१. भावस्थितेः भावस्वरूपाव्यतिरेकात् भावस्वरूपनिरूपणेनैव सा निरूपिता।

(वही, पृ० २१९)

२९२. भावशान्त्यादिरपि भावा एव। (रसविलास, पृ० ४३)

२९३. अनुत्पन्नस्य चाकस्मादुत्पत्तिरुदयो मतः। (रसदीर्घिका, पृ०४९)

२९४. उत्पन्नस्याथ भावस्य प्रशमो सुखतो भवेत्।
केनचिद्धेतुना कस्माद् भाव .न्तिस्तु सा मता॥ (वही, पृ० ४९)

२९५. सोऽपि चोत्पत्त्यवच्छिन्नः। (साहित्यसार, पृ० १३०)

२९६. भावयोर्युगपत्सन्धिः समावेशः प्रकीर्तितः। (रसदीर्घिका, पृ० ४९)

आस्वादन।[२९७] अच्युतराय भावसन्धि की परिभाषा का सुन्दर विश्लेषण करते हैं। यदि केवल दो समानाधिकरणक भावों को भावसन्धि कहेंगे तो व्याधि और जड़ता में सामानाधिकरण होने पर भी विशिष्ट चमत्काराधायक नहीं होता, अतः यह कहना पड़ेगा कि परस्पर पराभव करने में समर्थ दो भावों का समानाधिकरण होना चाहिये। व्याधि और जड़ता में अन्योन्याभिभवपटुत्व नहीं है, अपितु अनुकूलत्व ही है। प्रश्न उठता है कि परस्पर पराभव करने में पटु होने पर सुन्दोपसुन्दन्याय से दोनों भाव ध्वंस हो सकते हैं फिर सन्धि कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि पराभव में समर्थ होने पर भी परस्पर पराभव को न प्राप्त हुए भावों का समानाधिकरण ही भाव सन्धि है।[२९८]

एक स्थल पर एक साथ अनेक भावों के विरोध रहित समावेश को भावशबलता कहते हैं।[२९९] इन भावों में परस्पर बाध्य-बाधक भाव होना चाहिए अथवा उदासीन भाव होने चाहिये क्योंकि चपलता, आवेग और उन्मादरूपी परस्परानुकूल भावों का मिश्रण होने पर भी चमत्कारोत्पत्ति नहीं होती। अतएव अच्युतराय की परिभाषा अधिक परिष्कृत है बाध्य-बाधकभाव अथवा औदासीन्य होने पर अनेक भावों के मिश्रण को भावशबलता कहते हैं।[३००] भूदेव शुक्ल भावसन्धि व भावशबलता में अन्तर बताते हुए कहते हैं कि सन्धि में एक समय में दोनों भावों का आस्वादन होता है और शबलता में तो भिन्न-भिन्न काल में एक भाव के उपमर्दन का फिर दूसरे भाव की निष्पत्ति का आस्वादन होता है। भावशबलता में भावोदय व भावशान्ति की अवस्था ही होती है किन्तु भावोदय व भावशान्ति में केवल एक-एक भाव का आस्वादन होता है जबकि शबलता में उदय व शान्ति मिश्रितरूप में उपस्थित होते हैं।[३०१] पण्डितराज ने भावों की पूर्वपूर्वोपमर्दता का खण्डन किया है।

प्रश्न उठता है कि व्यभिचारीभाव स्थल में तो नियमतः मुख्य रस होता ही है, फिर वहाँ भावध्वनि कैसे मानी जा सकती है, क्योंकि रस का अङ्ग होने के कारण भाव गुणीभूत हुए। राजचूडामणि दीक्षित इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि रस के मुख्य होने पर भी भावशान्त्यादि रससदृश चमत्कार से युक्त होने पर कभी-कभी प्रधान हो

---

२९७. सन्धिरेककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वाद्यः। (रसविलास, पृ० ५३)

२९८. अन्योन्याभिभवे पट्वोरन्योन्यानभिभूतयोः।
सामानाधिकरण्यं यद् भावसन्धिः स भावयोः॥ (साहित्यसार, पृ० १४१)

२९९. एकत्रयुगपच्चैषां समावेशो विरोधतः।
ज्ञेयं तद् भावशाबल्यं रसभावविचक्षणैः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ४९)

३००. बाध्यबाधकभावेऽपि यद्वौदास्येऽपि मिश्रणम्।
भावानां यत्तदेवात्र भावशाबल्यमीप्सितम्॥ (साहित्यसार, पृ० १४२)

३०१. सन्धिरेककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वाद्यः। शबलता तु कालभेदेन निरन्तरया पूर्वपूर्वोपमर्दादिना। न च भावस्य शबलतायाः शान्त्युदयाभ्यामविशेषः। शान्तेरुदयस्य वा एकैकस्यास्वादे तद्भेदद्वयोपगमात्। (रसविलास, पृ० ५३)

जाते हैं। रस भी मुख्य हो और भावशान्त्यादि भी प्रधान हों, यह कैसे सम्भव है ? इस पर राजचूडामणि का पारम्परिक उत्तर है—'यथैव राजानुगता भृत्याः परिणयोन्मुखाः'। इस प्रकार विभावादि के संकलन से पूर्व भावशान्त्यादि का प्राधान्य होता है और विभावादि का संवलन होने पर रस का प्राधान्य होता है।[३०२]

## ध्वनि-भेद

प्रायः सभी पण्डितराजोत्तर आचार्य ध्वन्यात्मक काव्य को उत्तम काव्य स्वीकार करते हैं। ध्वनि के असंख्य भेद सम्भव हैं, फिर भी आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से गणना कर उसकी इयत्ता निश्चित करने का प्रयास किया है।

ध्वनि के प्रथमतः दो भेद किये जाते हैं—(१) लक्षणामूला ध्वनि या अविवक्षितवाच्यध्वनि, और (२) अभिधामूला ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि। पुनः प्रथम भेद दो प्रकार का होता है—(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।

श्रीकृष्ण कवि एवं नरसिंह कवि प्रभृति आचार्य अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य एवं अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि के पदगत एवं वाक्यगत भेद मानकर लक्षणामूला ध्वनि के कुल चार भेद स्वीकार करते हैं।

**लक्षणामूला ध्वनि**—राजचूडामणि दीक्षित के अनुसार इस ध्वनि भेद के मूल में लक्षणा होती है और व्यंग्य गूढ हुआ करता है और वह गूढ व्यंग्य प्रधान होता है।[३०३] लक्षणामूलत्व कहने से अभिधामूला ध्वनि में अतिव्याप्ति नहीं होती और गूढव्यंग्यप्रधानक कहने से अगूढ एवं अपराङ्गरूप गुणीभूतव्यंग्य का निरास हो जाता है।

जहाँ मुख्यार्थ स्वरूप अनुपयोगी होने के कारण बाधित होकर भिन्न रूप में अन्वित होता है, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि कहते हैं।[३०४] नरसिंह कवि अर्थान्तरसंक्रमण का बीज बताते हुए कहते हैं कि आकांक्षा और योग्यता ही प्रतीति का हेतु है। इनके अभाव में प्रयुक्त पदार्थ के उपयोगी न होने के कारण अथवा उपपन्न न होने के कारण वाक्यार्थ बोध नहीं होता। अतः वाच्यार्थ का अर्थांतरसंक्रमण अथवा अत्यन्ततिरस्कार

---

३०२. ते भावशान्त्यादयो रसे मुख्येऽङ्गत्वं प्राधान्यं प्राप्नुवन्ति कदाचन तादृशचमत्कारे लब्धे न तु सर्वदा। ततश्च विभावादिसंवलनात् पूर्वं भावशान्त्यादीनां प्राधान्यम्, तत्संवलने तु रसस्यैवेति तात्पर्यम्। (काव्यदर्पण, पृ० २१६)

३०३. लक्षणामूलत्वे सति गूढं यद् व्यंग्यं तत्प्रधानो यः सो विवक्षितवाच्यध्वनिः। (काव्यदपण, पृ० १२६)

३०४ येन मुख्यार्थः स्वेन रूपेण अनुपयोगबाधितः रूपान्तरेण अन्वेति तत्र अर्थान्तरसंक्रमः। (रसविलास, पृ० ६६)

होता है।[३०५] नृसिंहकवि माला-सूत्र के दृष्टान्त से अर्थान्तरसंक्रमण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार माला में सूत्र उपपद्यमान होने पर भी अनुपयोगी होता है और वह निर्मित माला में दृष्टिगत नहीं होता, उसी प्रकार जो अर्थ उपपद्यमान होने पर भी अनुपयोगी होने के कारण उपयुक्त अर्थान्तर योजन में स्वयं उपस्थित नही होता, उसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य कहते हैं।[३०६] कुछ आचार्य अर्थान्तरसंक्रमण को अजहत्स्वार्था-लक्षणा कहते हैं।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का अर्थ है वाच्यार्थ का किसी भी दशा में अन्वित न हो पाना। राजचूडामणि दीक्षित कहते हैं कि जहाँ वाच्यार्थ अर्थान्तर में परिणत हो जाने पर भी अन्वय योग्य न हो, उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि कहते हैं।[३०७] नृसिंह कवि इसे और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि इसमें वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने के कारण किसी उपपन्न अर्थ की प्रतीति कराकर स्वयं निवृत्त हो जाता है।[३०८] इसीलिए कुछ आचार्य इसे जह्‌तस्वार्था लक्षणा कहते हैं।

**अभिधामूला ध्वनि**—श्रीकृष्ण कवि के अनुसार जहाँ वाच्यार्थ विवक्षित हो और गूढ व्यंग्य प्रधान हो, उसे अभिधामूला ध्वनि कहते हैं।[३०९] व्यंग्यप्रधान कहने से वाच्य-सिद्ध्यङ्गादि गुणीभूत व्यंग्य में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार गूढ व्यंग्य कहने से अगूढरूप गुणीभूत व्यंग्य में और विवक्षितवाच्य कहने से लक्षणामूला ध्वनि में अति-व्याप्ति का निरास हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि स्थल में भी पद से वाच्यार्थ और वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ उपस्थित होता है, अतः यहाँ वाच्यार्थ की विवक्षा होती है, तब इसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि कैसे कहते हैं। राजचूडामणि दीक्षित इसका उत्तर देते हुए कहते

---

३०५. आकांक्षायोग्यतयोः वाक्यार्थप्रतीतिहेतुत्वात् प्रयुक्तपदार्थस्यानुपयोगेऽनुपपत्तौ वा तयोरभावान्न वाक्यार्थस्फूर्तिरित्यर्थान्तरसंक्रमणात्यन्ततिरस्कारयोरवतारः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २४)

३०६. योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावताऽनुपयोगात् स्रजि सूत्रवदुपयुक्तार्थान्तरवलने स्वयं न दृश्यते, सोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः। (वही, पृ० २४)

३०७. यत्र वाच्यार्थस्य अर्थान्तरपरिणतया अपि अन्वयायोग्यत्वं तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो नाम ध्वनिः। (काव्यदर्पण, पृ० १३३)

३०८. यः पुनः अनुपपद्यमान एव कस्यचित् उपपन्नार्थस्य प्रतीतिं समर्प्य स्वयं निवर्तते सोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २४)

३०९. यस्तु वाच्यविवक्षायां गूढव्यंग्यप्रधानकः।
स विज्ञेयोऽभिधामूलो द्विविधश्चैष कीर्तितः।। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १५४)

हैं कि विवक्षितवाच्यत्व का अर्थ है आकांक्षा व योग्यता से युक्त होना।[३१०] अविवक्षित वाच्य ध्वनि में इनका अभाव होता है।

अभिधामूला ध्वनि के दो भेद किये जाते हैं—(१) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और (२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। राजचूडामणि दीक्षित इन दोनों का भेद बताते हुए कहते हैं कि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का अभाव नहीं है, इनमें प्रतियोगी-अनुयोगी का सम्बन्ध नहीं है, अपितु नील और पीत वर्ण की भाँति इनमें परस्पर विरहव्याप्यत्व है।[३११]

रसादिध्वनि को ही असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहते हैं। विभावादि की प्रतीति और रसाभिव्यक्ति युगपत् नहीं होती। विभावादि रसाभिव्यक्ति के हेतु हैं, अतः दोनों में क्रम होता है। किन्तु वह क्रम 'शतपत्रपत्रशतभेदनक्रमवत्' तथा 'गर्जितश्रवणघनानुमिति-क्रमवत्' सहृदयों को लक्षित नहीं होता।[३१२] वस्तुतः विभावादिव्यञ्जक शब्द ही हेतु होते हैं लेकिन लाघववश विभावादि को ही हेतु मान लिया जाता है।[३१३]

रसादि व्यंग्य भेद से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के असंख्य भेद सम्भव हैं, अतः सभी आचार्य असंलक्ष्यक्रम व्यग्यत्वोपहित रसादि ध्वनि को एकविध ही स्वीकार करते हैं। श्री कृष्ण कवि आधारभेद से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के ६ भेद स्वीकार करते हैं—वाक्यगत, पदैकदेशगत, प्रबन्धगत, पदगत, वर्णगत और रचनागत।[३१४] नृसिंह कवि प्रबन्धगत भेद नहीं मानते, अतः उनके मत में पाँच भेद ही होते हैं।[३१५] पदैकदेश के प्रकृति, प्रत्ययादि अनेकविध होने पर भी पदैकदेशव्यंग्यत्वोपाधि से सबको एक मान लिया गया है।[३१६] राजचूडामणि दीक्षित 'एकदेशभूत पदविषय ध्वनि महावाक्योपयोगी कैसे होगी'? की

---

३१०. आकाङ्क्षायोग्यतावत्त्वमेव वाच्यस्य विवक्षितत्वम्।

(काव्यदर्पण, पृ० १३४)

३११. असंलक्ष्यक्रमत्वं हि न लक्ष्यक्रमाभावः, किन्तु नीलपीतयोरिव परस्परविरह-व्याप्यत्वमेव न प्रतियोग्यनुयोगिभावः। (वही, पृ० १३४)

३१२. स तु व्युत्पन्नतमायाः प्रतिपत्तृप्रतीतेस्तीव्रप्रवृत्तितोया शतपत्रपत्रशतभेदन-क्रमवद्गर्जितश्रवणघनानुमितिक्रमवच्च न संलक्ष्यत इत्यसंलक्ष्यक्रमव्यंग्य इत्येव वक्तुमुचितम्। (वही, पृ० १३६)

३१३. विभावादिव्यञ्जकशब्दस्य हेतुत्वे च विभावादीनामेव लाघवात्तत्र हेतुत्वमिति।

(वही, पृ० १३६)

३१४. वाक्ये पदैकदेशे च प्रबन्धे च तथा पदे।
वर्णेषु रचनायां च गतत्वेन स षड्विधः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १५७)

३१५. अर्थशक्तिमूला रसादिध्वनिभिर्वाक्यपदपदैकदेशरचनावर्णगतैः पञ्चभिः।

(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २५)

३१६. पदैकदेशानां प्रकृतिप्रत्ययादिभेदेनानेकविधत्वेपि तद्व्यंग्यानां पदैकदेशव्यंग्य-त्वेनैकीकरणात्। (काव्यदर्पण, पृ० २८१)

शंङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार नायिका के एक अवयव कर्णादि में स्थित ताटङ्कादि उसकी शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार पदगत व्यंग्य से भी वाक्य में चारुता उत्पन्न होती है।[३१७]

आचार्यगण रसाभासादि के उपर्युक्त भेदों का वर्णन नहीं करते। इसका कारण यह है कि रसाभासादि वाक्यगत होने पर भी रस की अपेक्षा निकृष्टचमत्कारकारी होते हैं और पदगत होने पर तो निकृष्टतमचमत्कारकारी होंगे।[३१८]

श्रीकृष्णकवि एवं राजचूडामणि दीक्षित संलक्ष्यक्रमव्यंग्य अभिधामूला ध्वनि की उपमा अनुरणन से देते हैं। जहाँ वाच्यार्थ प्रतीति के बाद अव्यवधानेन व्यंग्यप्रतीति हो उसे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—(१) शब्दशक्त्युत्थ (२) अर्थशक्त्युत्थ और (३) उभयशक्त्युत्थ। आचार्यों ने प्रथम भेद चार प्रकार का माना है—वस्तु व्यंग्य और अलंकार व्यंग्य तथा इनके पदगत व वाक्यगत भेद। आचार्यों ने अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के प्रायः ३६ भेदों की गणना की है। श्रीकृष्णकवि प्रभृति आचार्य प्रथमतः इसके तीन भेद करते हैं—(१) स्वतः सिद्ध, (२) कवि-प्रौढोक्तिकल्पित और (३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकल्पित। विश्वेश्वर पाण्डेय एवं सिद्धिचन्द्र गणि पण्डितराज की भाँति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध भेद नहीं मानते। उनका कहना है कि कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति—इन दोनों भेदों में साधारणतः कविनिबद्धत्व ही है। कविनिबद्ध वक्ता के लोकोत्तरवर्णनानिपुण होने के कारण उसमें कवित्व है ही, अतः तत्कल्पित अर्थ कविप्रौढोक्तिकल्पित ही है।[३१९] नृसिंह कवि भी यही मानते हैं। उनका कहना है कि यदि कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध नामक पृथक् भेद माना जा सकता है तो कविनिबद्धवक्तृनिबद्धकविप्रौढोक्ति भेद की भी कल्पना की जा सकती है।[३२०] अतः तीसरे भेद का अन्तर्भाव दूसरे भेद में सम्भव है।

---

३१७. कर्णाद्येकावयवस्थितताटङ्कादिमात्रेण कामिन्या भूषितत्ववत् पदविषयेण व्यंग्येनापि वाक्यस्य चारुत्वोपपत्तेः। (वही, पृ० २४३)

३१८. रसाभासादयो हि वाक्यप्रकाश्या अपि रसोपेक्षया निकृष्टचमत्कारा इति पदप्रकाश्यानां तु तेषां निकृष्टतमचमत्कारिकारितैवेति नोदाहरणमादृतमस्माभिरिति। (वही, पृ० २४६)

३१९. तस्यापि कविनिबद्धत्वमविशिष्टमित्युक्तौ तु प्रथमस्यापि कविनिबद्धवक्तुर्लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्वेन कवित्वानपायात्। तत्कल्पितस्यापि कविप्रतिभाकल्पितत्व दुर्वारत्वात्। (रसचन्द्रिका पृ० ५१)

३२०. ननु कविनिबन्धनवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलाः प्रबन्धगताः किमिति न परिगणिता इति। मैवम्। कविप्रौढोक्तिष्वेवान्तर्भावात्। अन्यथाकविनिबन्धवक्तृनिबन्धकविप्रौढोक्तयोऽपि किमिति न सिध्येयुः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ३१-३२)

इन तीन प्रकार की ध्वनियों के वस्तु व अलंकार के व्यंग्य-व्यञ्जक भेद से बारह प्रकार तथा वाक्यगत, पदगत और प्रबन्धगत आधारभेद से कुल ३६ भेद हो जाते हैं। राजचूडामणि दीक्षित प्रबन्धगतभेद के भी दो भाग करते हैं—अवान्तर प्रबन्ध और महाप्रबन्ध।[३२१]

शब्दार्थ उभय सामर्थ्य से उत्पन्न ध्वनि एक ही प्रकार की—वाक्यगत—होती है। इसके एकमात्र भेद का कारण बताते हुए राजचूडामणि दीक्षित कहते हैं कि यद्यपि यहाँ भी वस्तु व अलंकार व्यंग्य भेद से तथा स्वतः सिद्धत्वादि अर्थभेद से बहुत से भेद सम्भव हैं, पर सबको शब्दार्थोभयशक्तिमूलत्व उपाधि से एक मान लिया गया है।[३२२]

उपर्युक्त ध्वनि के ५१ भेद शुद्ध ध्वनि कहलाते हैं। आचार्यों ने इन भेदों के परस्पर मिलने से उनके संसृष्टि तथा संकरकृत भेदों की भी कल्पना की है।

**ध्वनिभेद संकलन**—आचार्यों में ध्वनिभेद के विषय में पर्याप्त मतभेद है। अभिनवगुप्त ने लोचन में ध्वनि के ३५ शुद्ध भेद दिखलाये हैं और मम्मट, विश्वनाथ, विद्यानाथ, प्रभृति आचार्य ५१ भेद करते हैं। अभिनव गुप्त ३५ शुद्ध भेदों के साथ गुणीभूत व्यंग्य, अलङ्कार और ध्वनिभेदों की संसृष्टि व संकर से ध्वनि के कुल ७४२० भेद करते हैं। मम्मट ने केवल ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों की एक प्रकार की संसृष्टि व तीन प्रकार के संकर भेद से गुणन प्रक्रिया का आश्रय लेकर १०४०४ भेद किया है और शुद्ध भेद मिलाकर ध्वनि का कुल १०४५५ भेद स्वीकार किया है। विश्वनाथ एवं विद्यानाथ शुद्ध ५१ भेद मानते हुए भी संकलन प्रक्रिया का आश्रय लेकर संकर तथा संसृष्टिकृत ५३०४ तथा शुद्धभेद मिलाकर कुल ५३५५ ध्वनिप्रभेद मानते हैं।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में राजचूडामणि दीक्षित ध्वनि के शुद्ध ५१ भेद मानते हैं और मम्मट की ही भाँति कुल १०४५५ प्रभेद स्वीकार करते है।[३२३] श्रीकृष्ण कवि ५१ शुद्ध भेद तो मानते हैं किन्तु विश्वनाथ की संकलन-प्रक्रिया का अनुसरण कर शुद्ध भेदों के परस्पर मिश्रणजनित भेद की संख्या १३२६ स्वीकार करते हैं। कविराज विश्वनाथ तो तीन प्रकार का संकर व एक प्रकार की संसृष्टि मानते हैं किन्तु श्रीकृष्ण कवि चार प्रकार का संकर व एक प्रकार की संसृष्टि मानकर कुल १३२६ × ५

---

३२१. वाक्यसमूहः प्रबन्धः। स चावान्तरप्रबन्धो महाप्रबन्धश्चेति द्विधा।
(काव्यदर्पण, पृ० २६३)

३२२. यद्यपि उभयशक्तिमूलेऽपि व्यंग्यानां वस्त्वलङ्कारादिभेदेन व्यञ्जकानाम् अर्थानां स्वतः सिद्धत्वादिभेदेन बहवो भेदाः सम्भवन्ति, तथापि शब्दार्थोभयशक्तिमूलत्वोपाधिना एकीकृत्य एकविध इत्युक्तम्। (वही, पृ० २४१)

३२३. संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।
तेषां योगे मिथो भेदा वेदखाम्बुधिखेन्दवः॥
शुद्धभेदैर्मिलित्वा तु शरेषुयुगखेन्दवः॥ (वही, पृ० २७९-८०)

=६६३० भेद करते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण कवि, कविराज विश्वनाथ से १३२६ भेद अधिक मानते हैं।[324]

नृसिंह कवि शुद्ध ध्वनि ३० प्रकार का ही मानते हैं।[325] वे अर्थशक्त्युत्थ स्वतः सिद्ध प्रबन्धगत ४ भेद, अर्थशक्त्युत्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध प्रबन्धगत ४ भेद, अर्थशक्त्युत्थ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध १२ भेद तथा प्रबन्धगत रसादि एक भेद (कुल मिलाकर २१ भेद) नहीं स्वीकार करते। आचार्य ने इन भेदों के परस्पर मिश्रण की भी चर्चा नहीं की है।

अच्युतराय के अनुसार संगीत स्वरों की भाँति ध्वनि के सात सामान्य भेद होते हैं।[326] (१) अलक्ष्यक्रमव्यंग्य रसध्वनि (२) लक्ष्यक्रमव्यंग्य शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि, (३) अर्थशक्तिमूल वस्तुध्वनि, (४) शब्दशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि, (५) अर्थशक्तिमूल अलङ्कार ध्वनि, (६) लक्षणामूल अर्थान्तर संक्रमित, और (७) लक्षणामूल अत्यन्त-तिरस्कृत। आचार्य मम्मट की भाँति अच्युतराय इनका विस्तार १८ भेदों तक ही करते हैं। इसके आगे के भेद-प्रभेद उनकी दृष्टि में अनुपयुक्त हैं।[327] अतः उन्होंने उदाहरणादि का उल्लेख नहीं किया है।

विश्वेश्वर पाण्डेय ध्वनि के मुख्य १३ भेद ही मानते हैं[328] और इनके मिश्रण तथा उपभेदादि का उल्लेख नहीं करते।

## गुणीभूत व्यंग्य

प्रायः पण्डितराजोत्तरवर्ती सभी आचार्य प्राचीन आलंकारिक सम्मत गुणीभूत-व्यंग्य के आठ भेद स्वीकार करते हैं—अगूढ, अपराङ्ग, बाच्यसिधङ्ग, अस्फुट, सन्दिग्ध-प्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर।

---

३२४. एवं चैकपञ्चाशद्विधः शुद्धो ध्वनिर्मतः।
मिश्रणेऽन्योन्यमेतेषां भेदा द्विडदृग्गुणध्रुवाः॥
चतुर्विधैः संकरैश्च संसृष्ट्या चैकरूपया।
पञ्चधा योजने तेषां भेदाः खाग्निरसारयः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १५७)

३२५. लक्षणामूलाश्चत्वारो ध्वनयः······इति शुद्धध्वनयस्त्रिंशत्।
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० २५)

३२६. इत्येते सप्त सामान्या ध्वनिभेदा स्वरा इव। (साहित्यसार, पृ० ८१)

३२७. अवान्तरभेदास्त्वनुपयुक्तत्वात् नैवोक्ताः। (वही, पृ० १५३)

३२८. द्वौ शाब्दी शक्तिरष्टार्थी द्व्युत्थैकं भेदमञ्चति।
द्वौ लक्षणेत्यमी भेदाः प्राधान्येन त्रयोदश॥ (रसचन्द्रिका, पृ० ५५)

नरसिंह कवि केवल सात भेदों का उल्लेख करते हैं।[३२९] वे वाच्यसिद्ध्यङ्ग भेद नहीं मानते। किन्तु इन भेदों के निरूपण के समय आठों भेदों का उदाहरण उपन्यस्त करते हैं। राजचूडामणि दीक्षित,[३३०] श्रीकृष्ण कवि,[३३१] अच्युत राय[३३२] प्रभृति आचार्यों को आठ भेद मान्य है।

आचार्य मम्मट ने अगूढ व्यंग्य के केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थशक्तिमूलक। नरसिंह कवि एवं राजचूडामणि दीक्षित इनके अतिरिक्त शब्दशक्तिमूलक भेद का भी निरूपण कर अगूढ व्यंग्य चार प्रकार का मानते हैं। अच्युतराय इन चार भेदों के अतिरिक्त चन्द्रालोक[३३३] के आधार पर तीन अन्य भेद—व्यक्तव्यंग्य, आर्थिक और वाच्यचमत्कृति स्वीकार कर अगूढ व्यंग्य के कुल सात भेद करते हैं।[३३४]

नरसिंह कवि अपराङ्ग व्यंग्य के प्रथमतः दो भेद करते हैं—व्यंग्याङ्ग और वाच्याङ्ग। पुनः वाच्याङ्ग के शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल दो उपभेद कर कुल तीन प्रकार का अपरांग व्यंग्य मानते हैं। राजचूडामणि दीक्षित अपराङ्ग व्यंग्य के सात भेद करते हैं—रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता। किन्तु अन्ततः वे शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल और उभयशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम-

---

३२९. स च सप्तधा। अपराङ्गत्वेन, अगूढत्वेन, अस्फुटत्वेन, वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यसन्देहेन, तौल्येन, (वा काक्वा) स्वरगतत्वेन, असुन्दरत्वेन।
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ३२)

३३०. तथा च अगूढव्यंग्यम्, अपराङ्गव्यंग्यम्, वाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्यम्, अस्फुटव्यंग्यम्, सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्यम्, तुल्यप्राधान्यव्यंग्यम्, काक्वाक्षिप्तव्यंग्यम्, असुन्दरव्यंग्यम् चेति गुणीभूतव्यंग्यमष्टविधम्। (काव्यदर्पण, पृ० २८८-२८९)

३३१. गुणीभूतव्यंग्यमपि चाष्टधा परिकीर्तितम्।
अगूढं वाच्यसिद्ध्यङ्ग तुल्यप्राधान्यमस्फुटम्।
सन्दिग्धमपराङ्गं च काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १५७)

३३२. तददोऽगूढमित्यादिप्राचीनोक्तेः समीक्ष्यताम्।
सुधीभिरष्टमूर्त्यैव सदोत्तममनुक्रमात्॥ (साहित्यसार, पृ० १५५)

३३३. व्यक्त एव क्वचिद्व्यंग्यः क्वचिदर्थस्वभावतः।
क्वचिच्चारुतरस्याग्रे स विमुञ्चति चारुताम्॥
अगूढं कलयेदर्थान्तरसंक्रमितादिकम्। (चन्द्रालोक, पृ० १०७-१०८)

३३४. तेष्वाद्यं सप्तधैवेष्टं व्यक्तव्यंग्यादिभेदत.।
विप्रकृष्टतयान्येषां विभेदानामसम्भवात्॥ (साहित्यसार, पृ० १५६)

व्यंग्य के वाक्यार्थ का अङ्ग होने पर आठवें प्रकार का अपराङ्ग व्यंग्य मानते हैं।[335] इस प्रकार आठवें भेद के तीन उपभेदों को मिलाकर अपराङ्ग व्यंग्य कुल दस प्रकार का होता है। आचार्य अच्युतराय भी मम्मट सम्मत दस भेद स्वीकार करते हैं।[336]

अच्युतराय ने वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य का मम्मट के समान दो भेद किये हैं—एकवक्तृकपदवाच्याङ्ग और अन्यवक्तृकपदवाच्याङ्ग। अन्य सभी भेद एकविध ही हैं।

—०--

३३५. रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि तथैव च समाहितम्।
भावोदयो भावसन्धिशबलत्वे इति क्रमात्॥
अपराङ्गं सप्तविधं प्रवदन्ति मनीषिणः।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थास्त्रयस्ते ध्वनयो यदा।
वाच्याङ्गतां भजेयुः स्यादपराङ्गं तदाष्टमम्॥ (काव्यदर्पण, पृ० २९१, ३०४)

३३६. अपरस्य रसादेस्तदङ्गं दशविधं मतम्।
रसस्तु रसवद् भावः प्रेय आभासको तयोः॥
ऊर्जस्वद् भावशान्त्यादिचतुष्कं तु समाहितः।
चतुर्भेदाः स्युरित्यष्टौ रसालंकारनामकाः॥
अपिशब्दार्थयोः शक्तिमूले लक्ष्यक्रमात्मके।
वाच्यस्याङ्गे दशैवं तत्क्रमाज्ज्ञेयं विपश्चिता॥ (साहित्यसार, पृ० १५९)

पञ्चम अध्याय

# काव्य-दोष विवेचन

दोष शब्द का अर्थ है—दूषयतीति दोषः अर्थात् जिस तत्त्व के कारण किसी वस्तु की उपादेयता अथवा आकर्षकता कम हो जाती है, उसे दोष कहते हैं। काव्य के प्रसंग में दोष का तात्पर्य आनन्दरूप रस के भङ्ग के कारण से है। रस भङ्ग का अर्थ है रसानुभूति में विलम्ब अथवा रसानुभूति का अभाव।

दोष मुख्यतः दो प्रकार का होता है—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। अन्तरङ्ग दोष उन्हें कहते हैं जो साक्षात् रसभङ्ग करते हैं। यह एक ही प्रकार का माना गया है। बहिरङ्ग दोष के अनेक भेद हैं। यथा रस के अभिव्यञ्जक अर्थ में रहने वाले दोष, अर्थ के प्रतिपादक पद, पदैकदेश, वर्ण, रचना, प्रत्यय इत्यादि में रहने वाले दोष।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-दोष विवेचन प्रारम्भ से ही महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। प्रायः आचार्यों ने दोष परिहार पर पर्याप्त बल दिया है। आद्य आचार्य भरतमुनि ने काव्यदोष का निरूपण करते हुए कहा है कि गुण दोषों के अभाव से उत्पन्न होते हैं—'गुणा विपर्ययादेषाम्'। इस प्रकार काव्य में दोषों की भावात्मक सत्ता तथा गुणों की अभावात्मक सत्ता होती है। भरत ने काव्य में कुल दस दोषों की कल्पना की—गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ अभिलुप्तार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि एवं शब्दहीन।

आचार्य भामह ने दोष निरूपण करते हुए कहा कि दोष ऐसी भावात्मक सत्ता नहीं है जो काव्य में नित्य दोष के रूप में ही रहे, पारिस्थितिविशेष में वही गुण भी हो सकता है। इस प्रकार भामह के मत में दोष अनित्य भी होते हैं। उन्होंने काव्यदोषों को दो भागों में विभाजित किया—(१) वक्रोक्ति दोष—नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, गूढशब्दाभिधान, अयुक्तिमत्, श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट एवं कल्पनादुष्ट तथा (२) सामान्य दोष—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, विसन्धि, देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगमविरोधी एवं प्रतिज्ञाहेत्वादिहीन।

भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने दोष-स्वरूप का विवेचन नहीं किया और भामह के प्रतिज्ञाहेत्वादिहीन दोष न मानकर कुल दस दोषों की गणना की।

वामन ने भरतमुनि के विपरीत काव्य में गुणों की भावात्मक सत्ता तथा दोषों की गुणाभावरूप सत्ता स्वीकार की —'गुणविपर्ययात्मनो दोषाः' तथा सर्वप्रथम दोषों के चार भेद किए—पददोष, पदार्थदोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष । किन्तु रुद्रट ने भरत का समर्थन करते हुए गुण को दोषाभावरूप ही माना और दोष को दो भागों में विभाजित किया—शब्ददोष एवं अर्थदोष ।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने गुण एवं दोष को रसपरिपाक के सन्दर्भ में ग्रहण किया और रसभङ्ग का सबसे बड़ा दोष अनौचित्य को ठहराया तथा काव्य में दोषों की नित्यता एवं अनित्यता स्वीकार की । व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने भी अनौचित्य को ही सबसे बड़ा दोष स्वीकार किया ।

अचार्य भोज ने दोषस्वरूप का निरूपण नहीं किया। उन्होंने दोषों को तीन भागों में विभाजित किया—पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थ दोष तथा प्रत्येक के सोलह भेद मानकर कुल अड़तालीस काव्यदोषों की परिगणना की ।

आचार्य मम्मट ने मुख्य अर्थ के अपकर्षक तत्त्व को दोष कहा। उनके अनुसार रस ही मुख्य तत्त्व है । अतः दूसरे शब्दों में रस के अपकर्षक तत्त्व दोष कहलाते हैं । चूँकि रस की अभिव्यक्ति शब्द-अर्थ के माध्यम से होती है, अत: शब्दार्थगत दोष भी परोक्षतः रसदोष अथवा काव्यदोष कहे जायेंगे ।

कविराज विश्वनाथ ने आचार्य मम्मट के काव्यदोषविषयक सिद्धान्त को ही स्वीकार किया। जयदेव के अनुसार जिस तत्त्व के चित्त में प्रवेश करने पर काव्य की रमणीयता नष्ट हो जाती है, उसे दोष कहते है ।

प्राय: सभी पण्डितराजोत्तर आचार्यों ने काव्य-दोष पर विचार किया है । कुछ आचार्यों ने समस्त काव्यदोषों तो कुछ भूदेव शुक्ल प्रभृति आचार्यों ने मात्र रसदोषों का ही निरूपण किया है । सभी आचार्य काव्य में दोष को हेय मानते हैं । आचार्य विद्याराम दुष्ट काव्य की उपमा कर्कर मिश्रित ओदन से देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कर्कर-मिश्रित ओदन स्वादुयुक्त नहीं होता उसी प्रकार दोषयुक्त काव्य आस्वाद्य नहीं होता । ये दोष रसप्रतीति के प्रतिबन्धक होते है, अतः काव्य में ये त्याज्य हैं ।[1] आचार्य का कहना है कि दोषों की अधिकता होने पर गुणी भी गुणहीन हो जाता है, इसलिए दोषाभाव को भी गुण स्वीकार किया जाता है ।[2]

आचार्य विश्वनाथ देव के अनुसार काव्य के सालंकार एवं सगुण होने पर भी जिस तत्त्व के ज्ञान होने से चमत्कार-प्रतीति सम्यक् रूप से नहीं होती उसे दोष कहते

---

१. दोषा: काव्ये परित्याज्यास्ते रसप्रतिबन्धिका: ।
तथाहि कर्करैर्मिश्रं न भक्तं स्वदते मृदु ॥ (रसदीर्घिका, पृ० ६७)

२. गुणवानपि दोषाणां बाहुल्यादगुणो भवेत् ।
गुणो मुख्य: स एवास्ति दोषाभाव: किलात्र य: ॥ (वही, पृ० ६७)

हैं।[3] वस्तुतः रसानुभूति में अपकर्ष उत्पन्न करने वाले ज्ञान का विषय ही दोष है और अपकर्ष का अर्थ है रत्यादि भावों से संवलित आत्मा के आनन्दांश में आवरण की उपस्थिति।[4] सिद्धिचन्द्रगणि ने भी यही दोष-लक्षण किया है।[5]

नरसिंह कवि,[6] छज्जूराम शास्त्री[7] एवं हरिदास सिद्धान्त वागीश[8] ने काव्य के अपकर्षक तत्त्व को दोष कहा है। श्रीकृष्ण शर्मन् ने रस के अपकर्ष के हेतुओं को दोष कहा है।[9] आचार्य अच्युतराय के अनुसार दोष हृदय में स्फुरित होने वाला वह तत्त्व है जो तत्काल ही काव्य को हेय बना देता है।[10] एक अन्य स्थल पर आचार्य ने काव्यसौन्दर्य को तिरस्कृत करने वाले शब्दनिष्ठ और अर्थनिष्ठ तत्त्व को दोष कहा है।[11] इस लक्षण पर जयदेव का प्रभाव स्पष्ट है।[12] रघुनाथ मनोहर ने काव्यदोष को काव्यप्रबन्ध का शल्यरूप कहा है।[13] रेवा प्रसाद द्विवेदी के अनुसार अभ्यास के बिना शब्दार्थ-योजना में पूर्णता असम्भव है और इसी अपूर्णता का नाम दोष है अर्थात् अभ्यास के कारण ही काव्य में दोष उत्पन्न होता है।[14]

उपर्युक्त काव्यदोष लक्षणों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आचार्य प्रायः दोषस्वरूप पर एकमत हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रसादि की उत्पत्ति

---

३. येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।
सालंकारगुणेऽप्यत्र ते दोषाः परिकीर्तिताः॥ (साहित्यसुधासिन्धु, पृ० १६१)

४. वस्तुतस्तु रसापकर्षकजनकज्ञानविषयत्वं दोषत्वम्। अपकर्षश्च रत्याद्यवच्छिन्नस्यानन्दांशे आवरणस्यावस्थितिः। (वही पृ० १६२)

५. येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।
सालङ्कारगुणेऽप्यत्र ते दोषाः परिकीर्तिताः॥
(काव्यप्रकाशखण्डन पृ० ३३)

६. दोषः काव्यापकर्षस्य हेतुः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ५८)

७. काव्यापकर्षका दोषाः काव्यज्ञैः समुदीरिताः। (साहित्यबिन्दु, पृ० ६१)

८. अपकर्षकाः काव्यस्य दोषाः। (काव्यकौमुदी, पृ० ७०)

९. रसापकर्षहेतुत्वं दोषत्वं परिकीर्तितम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६६)

१०. यस्तिष्ठन्हृदये काव्यमधः पातयति क्षणात्।
भारत्यर्थजुषं दोषं भाषन्ते तं मनीषिणः॥ (साहित्यसार, पृ० १८१)

११. शब्दार्थान्तरनिष्ठत्वे सति काव्यानादरकारणत्वं दोषत्वम्। (वही, पृ० १८१)

१२. स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता। (चन्द्रालोक, पृ० ११)

१३. अथ काव्यप्रबन्धानां शल्यरूपान् समासतः। (कविकौस्तुम, पृ० १)

१४. शब्दार्थ-योजनेऽभ्यासं विना नो पूर्णता भवेत्।
अपूर्णतैव दोषस्तद् दोषाभावश्च पूर्णता॥
(काव्यालङ्कारकारिका, पृ० २२२)

का प्रतिबन्धक होकर जो काव्य का अपकर्ष करे, वह दोष कहलाता है। रस की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध तीन प्रकार से सम्भव है—(१) रसास्वाद के रुक जाने से (२) रस के उत्कर्ष की किसी विघातक वस्तु के बीच में पड़ जाने से, (३) रसास्वाद में विलम्ब करने वाले कारणों के उपस्थित होने से। इनमें से कोई भी लक्षण जिसमें मिले वही दोष कहलाता है।

## दोष-भेद

आचार्य विद्याराम तीन प्रकार दोष स्वीकार करते हैं—पदगत, वाक्यगत और अर्थगत।[१५] उनके अनुसार कष्टादि[१६] पदगत दोष आठ प्रकार के, न्यूनादि[१७] वाक्यगत दोष बारह प्रकार के तथा विरसादि[१८] दोष आठ प्रकार के होते हैं।

आचार्य विश्वनाथ देव दोषों का वर्गीकरण आचार्य मम्मट के समान करते हैं, किन्तु वे वाक्यमात्रगत दोष केवल आठ प्रकार का मानते हैं—प्रतिकूलवर्ण, उपहत-लुप्तविसर्ग, विसन्धि, हतवृत्त, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद और पतत्प्रकर्ष।

श्रीकृष्ण शर्मन् दोष के दो भेद करते हैं—शब्दगत और अर्थगत। पुनः शब्दगत दोषों को दो भागों में बांटते है—पदगत और वाक्यगत।[१९] उनके अनुसार श्रुतिकट्वादि[२०] पदगत दोष अठारह प्रकार के होते हैं। वे मम्मटोक्त पददोषों के अतिरिक्त गूढार्थ और अप्रयोजक दोष भी स्वीकार करते हैं। इनमें से च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक दोषों

---

१५. पददोषा वाक्यदोषा अर्थदोषाश्च ते त्रिधा। (रसदीर्घिका, पृ० ६८)

१६. कष्टाप्रयुक्तसन्दिग्धव्यर्थाश्लीला प्रतीतिकाः।
असाध्ववाचको दोषाः पदेऽष्टावेव नाऽपरे॥ (वही, पृ० ६८)

१७. न्यूनं विसन्धिव्याकीर्णं समाप्तपुनरात्तकम्।
भग्नक्रमयतिच्छन्दो वाक्यगर्भमरीतिमत्॥
अविमृष्टविधेयांशं समुदायार्थवर्जितम्।
विरुद्धमतिकृद्वाक्ये दोषा द्वादश कीर्तिता॥ (वही, पृ० ६९)

१८. अष्टार्थदोषा विरसग्राम्यव्याहताखिन्नताः।
हीनाधिकासदृक्साम्यं देशादीनां विरोधि च॥ (वही, पृ० ७३)

१९. स दोषः शब्दगत्वेनार्थगत्वेन च द्विधा।
शब्ददोषो द्विधा प्रोक्तः पदवाक्यविभेदतः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६६)

२०. तत्र श्रुतिकटुभ्रष्टसंस्कारं चाप्रयुक्तकम्।
असमर्थं च निहतानुचितार्थे निरर्थकम्॥
अवाचकं तथाश्लीलं सन्दिग्धं चाप्रतीतकम्।
ग्राम्यगूढार्थनेयार्थान्यथ क्लिष्टप्रयोजके॥
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत्तथा।
एवं च पददोषाः स्युर्बुधैरष्टादशोदिताः॥ (वही, पृ० १६६)

को छोड़कर श्रुतिकट्वादि समस्त पन्द्रह दोष वाक्य में भी पाये जाते हैं।[२१] इनके अतिरिक्त वाक्य में शब्दहीनादि[२२] छब्बीस दोष भी होते हैं। इनमें से छन्दोभङ्ग और यतिभङ्ग नामक दोष पद्य में ही पाये जाते हैं, अन्य चौबीस दोष वाक्यगत और पद्यगत दोनों होते हैं।[२३] कुछ आचार्य हतवृत्त और विसंहित को पद्यगत दोष ही स्वीकार करते हैं।[२४] श्रीकृष्ण शर्मन् के अनुसार अर्थदोष अपुष्टादि[२५] भेद से चौबिस प्रकार के होते हैं।

नरसिंह कवि भी दोष के दो भेद करते हैं—शब्दगत और अर्थगत। पुनः शब्दगत दोष पद और वाक्य के भेद से दो प्रकार का हो जाता है।[२६] नरसिंह कवि ने श्रुतिकटु को छोड़कर उपर्युक्त सत्रह पददोष स्वीकार किया है। वे श्रीकृष्ण शर्मन् सम्मत चौबीस वाक्यदोष स्वीकार करते हैं किन्तु अर्थदोष दश प्रकार का ही मानते हैं—अहेतु, व्याहत, ग्राम्य, अश्लील, सहचरच्युत, अक्रम, अनुचित, अपार्थ, न्यूनोपम (हीनोपम) और अप्रसिद्धोपम।[२७]

---

२१. अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।
दोषाः श्रुतिकटुत्वाद्याः सर्वे वाक्येऽप्यमी मताः। (वही, पृ० १६८)

२२. शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं हतवृत्तं हतोपमम्।
यतिभङ्गोऽनुक्तवाच्यं समाप्तपुनरात्तकम्॥
भग्नछन्दश्च संकीर्णमपूर्णं वाक्यगर्भितम्।
अर्थान्तरस्थैकपदं विसंधिपुनरुक्तिमत्॥
अशरीराधिकपदप्रसिद्धिविधुराणि च।
अपदस्थसमासं च तथामतविसर्गकम्॥
अपदस्थपदं भग्नप्रक्रमं गर्हितं तथा।
अभवन्मतयोगं चावर्णितपदार्थके॥
पतत्प्रकर्षमित्येवं वाक्यदोषा रसभ्रुवः। (वही, पृ० १६८)

२३. पद्य एव च दोषत्वं स्याच्छन्दोयतिभङ्गयोः। (वही, पृ० १७२)

२४. पद्यदोषो विदुः केचिद्धतवृत्तविसंहिते। (वही, पृ० १७२)

२५. अपुष्टकष्टव्याघातपुनरुक्ताधिकोपमाः॥
अपार्थदुष्क्रमग्राम्यसन्दिग्धनियमच्युताः।
साकांक्षपरुषाश्लीलव्यर्थभिन्नसमोपमाः॥
अनिरूप्यश्चातिमात्रो निर्हेतुरनवीकृतः।
अप्रसिद्धोपमो हीनोपमः सहचरच्युतः॥
विरुद्धश्चेति दुष्टार्थश्चतुर्विंशतिरीरिताः। (वही, पृ० १७२)

२६. ते च शब्दार्थगतत्वेन द्विविधाः।
शब्दगताश्च पदवाक्यगतत्वेन द्विविधाः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ५८)

२७. अहेतु व्याहत ग्राम्याश्लीलाः सहचरच्युतः।
अक्रमानुचितापार्थौ न्यूनासिद्धोपमे दश॥ (वही, पृ० ६६)

आचार्य अच्युत राय भी प्रथमतः दोष के दो भेद करते हैं—शब्दगत और अर्थगत। पुनः वे शब्दगत दोष को तीन भागों में बांटते हैं—वर्णगत, पदगत और वाक्यगत। वर्णगत दोष एक प्रकार का होता है—श्रुतिकटु। पदगत दोष च्युतसंस्कारादि भेद से सत्रह प्रकार का होता है।[२८] इनके अतिरिक्त अच्युतराय ने प्रतापरुद्रीयसम्मत अपुष्टार्थ, अप्रयोजक, पुरुष तथा चन्द्रालोकोक्त अन्यसंगत दोष का भी निरूपण किया है।

रघुनाथ मनोहर ने दो प्रकार के दोषों का विवेचन किया है—वाक्यदोष एवं पददोष। उनके अनुसार वाक्यदोष छन्दोभ्रष्टादि[२९] भेद से तेइस प्रकार का तथा पदगत दोष स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थादि[३०] भेद से नव प्रकार का होता है।

छज्जूराम शास्त्री सर्वप्रथम दोष के चार भाग करते हैं—पददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष एवं रसदोष।[३१] उनके अनुसार पददोष कष्टादि[३२] भेद से नव प्रकार का, वाक्यदोष न्यूनादि[३३] भेद से चौदह प्रकार का तथा अर्थदोष ग्राम्यादि[३४] भेद से नव प्रकार का होता है।

---

२८. वर्णे पदे च वाक्ये चेत्येवं वाचस्त्रिधास्ति सः। तत्राद्य एकधा। द्वितीय पददोषस्तु ज्ञेयः सप्तदशात्मकः। (साहित्यसार, पृ० १८२-१८४)

२९. छन्दोभ्रष्टं क्रियाव्यस्तं क्रमहीनमसंमितम्।
अपार्थं व्यस्तसम्बन्धं श्लिष्टागमविरोधि च ।।
यतिभ्रष्टं तथा न्यूनपदं चैकार्थमेव च।
व्यर्थं रीतिपरिभ्रष्टमवस्थाद्रव्यभेदकम्।
खण्डिताधिपदे चैव तथा हीनोपमं स्मृतम् ।।
इति वाक्यात्मका दोषाः———। (कविकौस्तुभ, पृ० १)

३०. स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमलक्षणम्।
अगौरवं श्रुतिकटु पुनरुक्तिरसंमतम् ।।
व्याहतार्थं तथा ग्राम्यं पददोषाः स्मृता यथा। (वही, पृ० १)

३१. काव्ये पदनिष्ठा वाक्यनिष्ठा अर्थनिष्ठा रसनिष्ठाश्च दोषा भवन्ति।
(साहित्यबिन्दु, पृ० ९१)

३२. कष्टाप्रयुक्तसन्दिग्धव्यर्थाश्लीलाप्रतीतकाः।
असाध्ववाचकक्लिष्टाः पदे दोषा नवोदिताः।। (वही, पृ० ९२)

३३. न्यूनं विसन्धि व्याकीर्णं समाप्तपुनरात्तकम्।
भग्नक्रमयतिच्छन्दो वाक्यगर्भमरीतिमत् ।।
अविमृष्टविधेयांशं नैयार्थनिहतार्थके।
विमत चाप्रसिद्धं च वाक्ये दोषा चतुर्दश ।। (वही पृ० ९९)

३४. ग्राम्यादयश्चार्थदोषाः। ग्राम्यादीत्यादिना—व्याहताश्लीलनिर्हेतुदुष्क्रमानवीकृत-पुनरुक्तहीनाधिकोपमानां संग्रहः। (वही, पृ० ११०)

हरिदास सिद्धान्त वागीश के अनुसार दोष त्रिविध होते हैं-- शब्दोष, अर्थदोष और रसदोष।[३५] वे शब्ददोष के पद-पदांश इत्यादि उपभेदों के पक्ष में नहीं हैं। उनका कहना है कि यदि शब्द के उपभेद किए जाते हैं तब वाच्यादि भेद से अर्थ के त्रिविध और शृंगारादि भेद से रस के दशविध उपभेद कर दोषों का परिगणन करना चाहिए।

उपर्युक्त दोष भेदों की संख्या पर विचार करने से ज्ञात होता है कि पण्डितराजोत्तरवर्ती आचार्यों ने प्राय: मम्मटोक्त दोष संख्या को ही स्वीकार किया है, कुछेक आचार्यों ने भोजराज प्रभृति आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित कुछ दोषों का भी विवेचन किया है।

## वर्णदोष

पण्डितराजोत्तरवर्ती आचार्यों में अच्युतराय ही एक मात्र ऐसे आचार्य हैं जिसने वर्णदोष नामक भेद स्वीकार किया है। वे वर्णदोष केवल एक प्रकार का मानते हैं-- श्रुतिकटु।

आचार्य के अनुसार वीर, रौद्र, बीभत्स रस के अतिरिक्त अन्य रसों में श्रवणोद्वेग जनक वर्ण श्रुतिकटु कहलाता है।[३६] श्रीकृष्णमर्मन्, रघुनाथ मनोहर प्रभृति आचार्यों ने मम्मट की भाँति इसका पददोष के अन्तर्गत विवेचन किया है। विद्याराम[३७] एवं छज्जूराम शास्त्री इसे वामन की भाँति कष्ट दोष तथा तथा नरसिंह कवि[३८] इसे विद्यानाथ की भाँति परुष दोष कहते हैं। हरिदास सिद्धान्तवागीश ने इसे दुःश्रव दोष कहा है।[३९]

## पददोष

**च्युतसंस्कृति**—आचार्य विद्याराम[४०] एवं छज्जूराम शास्त्री[४१] इसे वामन की भाँति असाधु दोष तथा रघुनाथ मनोहर,[४२] वाग्भट प्रथम की भाँति अलक्षण दोष कहते

---

३५. ते च दोषाः शब्दार्थरसवृत्तयस्त्रिविधाः। (काव्यकौमुदी, पृ० ७०)

३६. तत्राद्य एकधा वीररौद्रबीभत्सकैर्विना।
श्रुतिभीतिप्रदो वर्णः कात्स्न्याच्छ्रुतिकटुर्मतः॥ (साहित्यसार, पृ० १८२)

३७. कष्टं कर्णकटु ज्ञेयं दुःकरोच्चारवर्णवत्। (रसदीर्घिका, पृ० ६८)

३८. परुषं नाम तद्यत्स्याद् विहितं परुषाक्षरैः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ५८)

३९. विकटवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम्। (काव्यकौमुदी, पृ० ७१)

४०. यच्छास्त्रोक्तविरुद्धं तदसाधु प्रविकीर्तितम्। (रसदीर्घिका, पृ० ६९)

४१. व्याकरणान्वाख्येयत्वं पुण्यजनकतावच्छेदकधर्मवत्त्वं वा साधुत्वम् तद्विरुद्धमसाधुत्वम्। (साहित्यबिन्दु, पृ० ९४)

४२. विरुद्धं शब्दशास्त्रेण विज्ञेयं तदलक्षणम्। (कविकौस्तुभ, पृ० १५)

हैं। श्रीकृष्णशर्मन् ने इसे भ्रष्टसंस्कार दोष कहा है। उनके अनुसार व्याकरणदोषग्रस्त भ्रष्टसंस्कार कहलाता है।[४३]

**अप्रयुक्त**—श्रीकृष्ण कवि के अनुसार कोशादि में उस अर्थ में पठित होने पर भी जो पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा न स्वीकार किया गया हो, वह अप्रयुक्तदोष कहलाता है।[४४] नरसिंह कवि एवं छज्जूराम शास्त्री 'पूर्ववर्ती' का आशय अधिक स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार कवियों के द्वारा अप्रयुक्त पद अप्रयुक्तदोष कहलाता है।[४५]

**असमर्थ**—कोशादि में किसी विशेष उपपद के साथ प्रयुक्त शब्द जब उपपद के अभाव में कहीं प्रयुक्त हो तो असमर्थ दोष होता है।[४६] नरसिंह कवि ने यौगिक शब्दमात्र के प्रयोग को भी असमर्थ दोष कहा है।[४७] हरिदास सिद्धान्तवागीश ने अधिक स्पष्ट परिभाषा की है। उनके अनुसार अभिप्रेत अर्थ के बोधन में अक्षम पद को असमर्थ दोष कहते हैं।[४८]

**निहतार्थ**—दोनों अर्थों का वाचक होने पर भी जो पद अपेक्षाकृत अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हो उसे निहतार्थ दोष कहते हैं।[४९] श्रीकृष्ण कवि ने इसके अतिरिक्त अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त होने वाले पद को गूढार्थ दोष कहा है।[५०] वामन, भोज, विद्यानाथ प्रभृति आचार्य गूढार्थ दोष मानते हैं, किन्तु मम्मट इसका उल्लेख नहीं करते। छज्जूरामशास्त्री ने निहतार्थ को वाक्यदोष माना है।

**अनुचितार्थ**—प्रस्तुत (प्रकृत) अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराने वाले पद को अनुचितार्थ कहते हैं।[५१] अच्युतराय ने अनुचितार्थ के अतिरिक्त प्रतापरुद्रयशोभूषण-सम्मत प्रकृतानुपयोगी अर्थ की प्रतीति कराने वाले पद में अपुष्टार्थ दोषत्व भी माना है।[५२] नरसिंह कवि ने अनुचितार्थ दोष न मानकर अपुष्टार्थ दोष माना है।

---

४३. यद् व्याकरणदुष्टं तद् भ्रष्टसंस्कारमुच्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६७)
४४. अप्रयुक्तं यदाम्नातमपि पूर्वैरनादृतम्। (वही, पृ० १६७)
४५. यदप्रयुक्तं कविभिरप्रयुक्तं तदुच्यते। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ५९)
४६. असमर्थमशक्तं यदुपसन्धानमन्तरा। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६७)
४७. योगमात्रप्रयुक्तं यदसमर्थं तदुच्यते। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ५९)
४८. अभिप्रेतार्थबोधनाक्षमत्वमसमर्थत्वम्। (काव्यकौमुदी, पृ० ७६)
४९. निहितार्थं द्वितीयार्थे ह्यप्रसिद्धे प्रयुज्यते। (मन्दारमन्दचम्पू, पृ० १६७)
५०. गूढार्थमप्रसिद्धार्थे प्रयुक्तं पदमिष्यते। (वही, पृ० १६८)
५१. प्रस्तुतार्थविरुद्धार्थं भवेदनुचितार्थकम्। (वही, पृ० १६७)
५२. अपुष्टार्थं तु तज्ज्ञेयं प्रकृतानुपयोगि यत्। (साहित्यसार, पृ० १९२)

**निरर्थक**—पादपूर्तिमात्र के लिए प्रयुक्त अव्ययादि निरर्थक कहलाता है।[५३] विद्याराम[५४] एव छज्जूराम शास्त्री[५५] इसे व्यर्थ दोष कहते हैं।

**अवाचक**—जो पद प्रकृत अर्थ कहने में अशक्त हो उसे अवाचक कहते हैं।[५६] श्री कृष्णकवि के अनुसार यह तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाला पद होता है।[५७] अच्युतराय का मत है कि उपसर्ग के संयोग-वियोग से जो पद प्रकृतोपयोगी अर्थ का बोध न कराये उसे अवाचक कहते हैं।[५८] आचार्य मम्मट ने दोनों ही दशाओं में अवाचक दोष माना है।

**अश्लील**—असभ्य अर्थ के व्यञ्जक पद को अश्लील कहते हैं।[५९] विद्याराम के अनुसार निन्दनीय, अभद्र इत्यादि अर्थों का बोधक पद अश्लील कहलाता है।[६०] श्रीकृष्ण कवि, नरसिंह कवि, अच्युतराय प्रभृति आचार्य प्राचीन आचार्यों की भाँति इसके तीन भेद करते हैं—व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल। हरिदास सिद्धान्त वागीश का कहना है कि लज्जा, घृणा और अशुभवाचक पदों के द्वारा मनःसंकोच होना अश्लीलतत्व है।[६१]

**संदिग्ध**—जिस पद का अर्थ निर्धारित न हो अर्थात् जहाँ सन्देहात्मक अर्थ का उपस्थापन हो।[६२] छज्जू राम शास्त्री इसे अधिक स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार वक्ता के तात्पर्य का यथार्थ ज्ञान जिस पद से न हो वह संदिग्ध कहलाता है।[६३] अच्युतराय सन्दिग्ध पद को रमणीयार्थ का हेतु कहते हैं।[६४]

**अप्रतीत**—जो पद केवल शास्त्र-विशेषमें प्रसिद्ध हो, उसका साधारण रूप से अर्थात् अन्यत्र प्रयोग करना अप्रतीत दोष कहलाता है।[६५] हरिदास सिद्धान्तवागीश इसे अधिक

---

५३. पादपूरणमात्रार्थमव्ययादि निरर्थकम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६७)
५४. पादसम्पूर्त्तये उक्तं व्यर्थं यच्चाप्रयोजकम्। (रसदीर्घिका, पृ० ६८)
५५. व्यर्थं प्रकृतानुपयुक्तं पादपूरणैकप्रयोजनम्। (साहित्यबिन्दु, पृ० ९३)
५६. अवाचकं प्रकृतार्थाशक्तम्। (वही, पृ० ९५)
५७. अवाचकं तु तात्पर्याविषयार्थप्रतीतिकृत्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६७)
५८. उपसर्गस्य योगादेरबोधकमवाचकम्। (साहित्यसार, पृ० १८७)
५९. अश्लीलमसभ्यार्थव्यञ्जकम्। (साहित्यबिन्दु, पृ० ९४)
६०. निन्द्याभद्रादिभान यत्तदश्लीलं पदं मतम्। (रसदीर्घिका, पृ० ६८)
६१. लज्जया घृणया शुभेन मनः संकोचकत्वमश्लीलत्वम्। (काव्यकौमुदी पृ० ७२)
६२. सन्दिग्धं तत्तु कथितं यदनिर्धारितार्थकम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६७)
६३. वक्तृतात्पर्यसन्देहजनकम् सन्दिग्धम्। (साहित्यबिन्दु, पृ० ९३)
६४. संशयार्तं तु सन्दिग्धं रमणीयार्थकारणम्। (साहित्यसार, पृ० १८८)
६५. शास्त्रान्तरैकसिद्धार्थमप्रतीतमुदाहृतम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६७)

स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार शास्त्र-विशेष की संज्ञा का अन्यत्र प्रयोग करना अप्रतीतत्व है।[६६]

रघुनाथ मनोहर ने इस दोष का उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः वे हेमचन्द्र की भाँति अप्रयुक्त दोष में इसका अन्तर्भाव करते हैं। हेमचन्द्र ने अप्रयुक्त के दो भेद किए—लोकमात्र प्रसिद्ध (ग्राम्य) और शास्त्रमात्रप्रसिद्ध (अप्रयुक्त, अप्रतीत, असमर्थ)।

**ग्राम्य**—मात्र पामरजनों के द्वारा व्यवहृत पद ग्राम्य कहलाता है।[६७] रघुनाथ के मनोहर अनुसार जो पद जहाँ उपयुक्त न हो वहाँ उसका प्रयोग करना ग्राम्य कहलाता है।[६८]

विद्याराम प्रभृति आचार्य ग्राम्य दोष का निरूपण नहीं करते। सम्भवतः वे केशव मिश्र की भाँति इसका अन्तर्भाव अवाचक एवं अश्लील दोष में करते हैं।

**नेयार्थ**—जहाँ लाक्षणिक पद फलबोधन में अशक्त हो उसे नेयार्थ दोष कहते हैं। तात्पर्य यह है कि रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी हेतु के न होने पर भी मात्र इच्छावश लाक्षणिक पद का प्रयोग करना नेयार्थ दोष कहलाता है।[६९] इसको अधिक स्पष्ट करते हुए हरिदास सिद्धान्त वागीश ने लिखा है कि बिना किसी कारण के लक्ष्यार्थ-प्रयोग को नेयार्थ दोष कहते हैं।[७०] श्रीकृष्ण कवि ने इस लक्षण के अतिरिक्त स्वसंकेतित अर्थ में प्रयुक्त पद को भी नेयार्थदोषग्रस्त माना है।[७१] यहाँ यह ध्येय है कि ऐसे स्थल पर शब्द का संकेतित अर्थ स्वयं प्रकट नहीं होता अपितु अर्थ की कल्पना की जाती है। यह कल्पित अर्थ स्पष्टतः न तो संकेतित अर्थ ही होता है और न लक्ष्यार्थ ही। क्योंकि संकेतित अर्थ वाच्य होने पर कल्पना की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए और लक्ष्य होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन होना चाहिए। इस दृष्टि से रघुनाथ मनोहर की परिभाषा अधिक स्पष्ट है—जहाँ शब्द के वाच्यार्थ की कल्पना की जाती है, वह नेयार्थ दोष है।[७२] इस लक्षण पर भोज का प्रभाव स्पष्ट है।[७३] छज्जूराम शास्त्री ने इसे वाक्यदोष स्वीकार किया है।

**क्लिष्ट**—जहाँ अर्थप्रतीति विलम्ब से होती है उसे क्लिष्ट दोष कहते हैं।[७४]

---

६६. एकत्र कृतसंज्ञस्यान्यत्रप्रयोगेऽप्रतीतत्वम्। (काव्यकौमुदी, पृ० ७४)

६७. पामरव्यवहारैकप्रसिद्धं ग्राम्यमुच्यते। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६०)

६८. यत्र यत्र न युक्तं यत् तत्र ग्राम्यं स्मृतं पदम्। (कविकौस्तुभ पृ० १८)

६९. नेयार्थं स्याल्लाक्षणिकमशक्तं फलबोधने। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६८)

७०. कारणं विना लक्ष्यार्थप्रकाशनं नेयार्थत्वम्। (काव्यकौमुदी, पृ० ७५)

७१. स्वसंकेते प्रयुक्तं चाप्यर्थे नेयार्थमिष्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६८)

७२. स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थं स्वज्ञेयं वक्ति यत् पदम्। (कविकौस्तुभ, पृ० १४)

७३. स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थं नेयार्थमिति कथ्यते। (सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २२)

७४. विलम्बेनार्थप्रतीतिः क्लिष्टत्वम्। (काव्यकौमुदी, पृ० ७५)

इसमें साक्षात् अर्थबोध न होकर परम्परया होता है।[७५] रघुनाथ मनोहर इसे व्याहतार्थक पद दोष कहते हैं।[७६]

**अविमृष्टविधेयांश (विधेयाविमर्श)**—जहाँ प्रधान पद का प्रयोग गौण रूप से हुआ हो, वहाँ विधेयाविमर्श दोष होता है।[७७] चूंकि वाक्य में विधेय ही प्रधान होता है, अतः स्पष्टतः विधेय की प्रधानता न होने पर यह दोष होता है।[७८] विद्याराम एवं छज्जू राम शास्त्री इसकी गणना वाक्यदोष के अन्तर्गत करते हैं।

**विरुद्धमतिकृत्**—विपरीत अर्थ का बोध कराने वाला पद विरुद्धमतिकृत् कहलाता है।[७९] यहाँ शब्द के समासयुक्त हो जाने से अनुचित अर्थ का आभास होता है।[८०]

प्रायः सभी पण्डितराजोत्तर आचार्यों ने अन्तिम तीन पद दोषों को समासगत मात्र स्वीकार किया है, शेष दोष समासगत एवं पदगत दोनों होते हैं।

**अप्रयोजक**—उपर्युक्त पददोषों के अतिरिक्त भोजराज, विद्यानाथ प्रभृति आचार्यों ने अप्रयोजक इत्यादि दोषों का निरूपण किया है। आचार्य भोज का कहना है कि जहाँ प्रयुक्त पद से कर्त्ता इत्यादि में किसी विशिष्टता का आधान न हो वहाँ अप्रयोजक दोष होता है।[८१] पण्डितराजोत्तर आचार्यों में श्रीकृष्ण कवि, नरसिंह कवि प्रभृति आचार्य इस दोष को स्वीकार करते हैं।[८२] अच्युतराय ने इसका निरूपण किया है किन्तु इसे प्रतापरुद्रसम्मत बताते हुए, स्वाभिमत से नहीं।

**अगौरव**—रघुनाथ मनोहर ने अर्थगाम्भीर्य से रहित पद में अगौरव दोष स्वीकार किया है।[८३] अन्य आचार्य इसका उल्लेख नहीं करते।

**असंमत**—रघुनाथ मनोहर ने शास्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध वर्णन को असंमत दोष कहा है। यथा—'धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः'।[८४] न्याय दर्शन में धी को गुण माना गया है, पुनः गुण का गुण (बुद्धि का औदार्य-धैर्यादि गुण) कहना अयुक्त है।

---

७५. परम्परैकसम्बोध्यो यस्यार्थक्लिष्टमत्र तत्। (साहित्यसार, पृ० १६०)

७६. इष्टार्थं बाधकार्थं यत्प्राप्नोति व्याहतार्थकम्। (कविकौस्तुभ, पृ० १८)

७७. प्रधानस्याप्राधान्येन प्रयोगो विधेयाविमर्शः। (काव्यकौमुदी, पृ० ७५)

७८. अविमृष्टविधेयांशं चेद् विधेयाप्रधानता। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६८)

७९. भवेद् विरुद्धमतिकृद् विपरीतार्थबोधकम्। (वही, पृ० १६८)

८०. अनुचितबुद्धिजनकत्वं विरुद्धमतिकारिता। (काव्यकौमुदी, पृ० ७५)

८१. अप्रयोजकमित्याहुरविशेषविधायकम्। (सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २६)

८२. तदप्रयोजकं यत्स्यादविशेषविधायकम्।
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६८ एवं नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६०)

८३. अर्थगौरवहीनं यत् तदगौरवमुच्यते। (कविकौस्तुभ, पृ० १६)

८४. असंमतं यथा सार्थं शास्त्रान्तरविरोधि च। (वही, पृ० १८)

पुनरुक्ति—रघुनाथ मनोहर ने एक पद से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाने पर भी अन्य पद के प्रयोग को पुनरुक्ति दोष माना है।[८५] यथा—'सानुबन्धाः कथं न स्युः सम्पदो मे निरापदः'। यहाँ 'सम्पदः' कहने से ही 'निरापदः' का भाव व्यक्त हो जाता है। आचार्यों ने प्रायः इसकी गणना वाक्य दोष एवं अर्थदोष में की है।

## वाक्य-दोष

जिस समय में एक से अधिक पद सदोष हों अथवा पदों के क्रम, नियम, भाव इत्यादि में कुछ विसंगति हो वहाँ वाक्यदोष होता है। पद दोष का प्रभाव केवल उसी पद तक सीमित होता है, जबकि वाक्य दोष में वे पद सम्पूर्ण वाक्य को दूषित करते हैं। इस प्रकार दोनों में प्रभावक्षेत्र का ही भेद है। इसीलिए मम्मट प्रभृति आचार्यों ने समस्त पदगत दोषों को वाक्यगत भी माना है।

मम्मट प्रभृति आचार्यों की भाँति श्रीकृष्णकवि इत्यादि आचार्य भी च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक को छोड़कर शेष दोष वाक्यगत भी मानते हैं।

विद्याराम कवि ने सामान्य वाक्यदोष का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वाक्य में पाद के आदि में हि स्म वै नु च वा किल खलु एव इत्यादि का प्रयोग नहीं होना चाहिए।[८६]

इसके पश्चात् वाक्यमात्रगत दोषों का निरूपण प्रस्तुत है।

अवर्ण—रसोचित वर्णों का प्रयोग न करना अवर्ण दोष कहलाता है। श्रीकृष्ण कवि इसके अरीति और प्रतिकूलाक्षर नाम की ओर भी सङ्केत करते हैं।[८७] नरसिंह कवि भी इसे अरीतिक दोष कहते हैं।[८८] रघुनाथ मनोहर इसे वाग्भट प्रथम की भाँति रीतिभ्रष्ट कहते हैं। उनके अनुसार जहाँ एक ही पद्य में समासरूपी गौड़ी और असमास-रूपी वैदर्भी का समावेश हो वहाँ यह दोष होता है।[८९] विद्याराम एवं छज्जूराम शास्त्री इसे विद्यानाथ की भाँति अरीतिमत् दोष कहते हैं। उनके अनुसार उपक्रान्त रीति को

---

८५. पुनरुक्तिः पदं यत्र चरितार्थे नियोजितम्। (वही, पृ० १७)

८६. पादादौ न प्रयोक्तव्या हिस्मवैनुचवाकिलाः।
खल्वेवादयो वाक्ये तथा दुर्ज्ञेयकार्थता॥ (रसदीर्घिका, पृ० ६६)

८७. अवर्णं नाम कथितं रसाननुगुणं वचः।
इदमेवारीति नाम प्रतिकूलाक्षरं तथा॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७१)

८८. रसाननुगुणा रीतिर्यत्रारीतिकमुच्यते। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६३)

८९. समासा चासमासा च गौडी वैदर्भिका क्रमात्।
एकपद्ये द्वयं यत्र रीतिभ्रष्टं बुधा विदुः॥ (कविकौस्तुभ, पृ० ८)

छोड़कर भिन्न प्रकार से वर्णन करना अरीतिमत् दोष कहलाता है।[९०] अच्युतराय ने इस दोष को आचार्य भोज की भाँति शैथिल्य, वैषम्य एवं कठोर भेद से तीन प्रकार माना है।[९१]

**अमतविसर्ग**—जहाँ काव्यसंमत विसर्ग का रूप परिवर्तन हो जाता है वहाँ अमतविसर्ग दोष होता है। श्रीकृष्ण कवि ने इसके तीन भेद माने हैं—नष्टविसर्गक, स्फुटविसर्गक और लुप्तविसर्गक।[९२] नरसिंह कवि ने मम्मट-विश्वनाथसम्मत नष्ट (ओत्व) और लुप्त भेद ही माना है।[९३] अच्युतराय प्रथमतः दो भेद करते हैं—उपहतविसर्ग और लुप्तविसर्ग। किन्तु अन्ततः नागेशभट्ट द्वारा मान्य विसर्गबाहुल्य भेद का भी उल्लेख करते हैं।[९४] विद्याराम ने विसन्धि दोष के उपभेद विरुद्ध सन्धि का दो प्रकार—उपहतविसर्ग और लुप्तविसर्ग—मानकर विसन्धि दोष में ही अमतविसर्ग का अन्तर्भाव कर दिया है।[९५] विसर्ग के अनेकशः ओत्व हो जाने पर नष्टविसर्गक, अनेकशः लुप्त हो जाने पर लुप्तविसर्गक और अनेकशः विसर्ग प्रयुक्त होने पर स्फुटविसर्गक दोष होता है।[९६]

**विसन्धि**—जहाँ सन्धि असम्मत हो अर्थात् जहाँ सन्धि होनी चाहिये वहाँ सन्धि का न होना विसन्धि दोष कहलाता है।[९७] श्रीकृष्ण कवि ने मम्मट की भाँति इसका तीन भेद किया है—विसंहित (विश्लेष), अश्लील और कटु। किन्तु विसंहित के उपभेदों विवक्षाधीन, प्रगृह्यसंज्ञानिमित्तक और असिद्धिमूलक की चर्चा नहीं की है। छज्जूराम शास्त्री विसन्धि के केवल दो भेदों का उल्लेख करते हैं—ऐच्छिक और प्रगृह्यत्वादि-

---

९०. मुक्त्वा रीतिमुपक्रान्तां प्रवृत्तिस्तदरीतिमत्। (रसदीर्घिका, पृ० ७२)

९१. यदरीतिमदाख्यं तच्छैथिल्यादिभिदा त्रिधा॥ (साहित्यसार, पृ० २३६)

९२. यत्रामतविसर्गं तद्विसर्गाः काव्यसंमताः।
तद् विसर्गोत्तरं नष्टं स्फुटं लुप्तमिति त्रिधा॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७१)

९३. ओत्वलोपौ विसर्गस्यासकृल्लुप्तविसर्गकम्। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६४)

९४. ओत्वेनोपहता लुप्ता विसर्गा वेह तत्तथा।
एवं विसर्गबाहुल्यमुक्तमुद्योतकृन्मते॥ (साहित्यसार, पृ० २२१-२२२)

९५. भेदा विरुद्धसन्धेस्तु चत्वारः सन्ति विश्रुताः।
अश्लीलकष्टोपहतविसर्गात्तविसर्गकाः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ७०)

९६. ओत्वप्राप्तौ विसर्गाणां ज्ञेयं नष्टविसर्गकम्।
यत्र स्फुटा विसर्गाः स्युस्तत्स्याल्लुप्तविसर्गकम्।
विसर्गा यत्र लुप्ताः स्युस्तत्स्याल्लुप्तविसर्गकम्।
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७१)

९७. असंमतः कवीनां च यत्र सन्धिर्विसन्धि तत्। (वही, पृ० १७०)

निबन्ध।[९८] आचार्य विद्याराम ने विसन्धि के दो भेद किये—सन्धि का अभाव और विरुद्धसन्धि। पुनः प्रथम के दो उपभेद—स्वेच्छाकृत और प्रकृतिभावादिकृत तथा द्वितीय भेद के चार उपभेद—अश्लील, कष्ट, उपहतविसर्ग और लुप्तविसर्ग—किये।[९९]

संहिता का विषय होने पर भी जहाँ सन्धि न हो वहाँ विसंहित दोष होता है।[१००] चूंकि वाक्य में सन्धि विवक्षा के अधीन होती है, अतः सन्धि प्राप्त होने पर भी सन्धि न करना कवि की अशक्ति का सूचक है। स्वेच्छाकृत सन्धि का अभाव यदि एक बार भी हो तो दोष होता हैं। प्रकृतिभावादिनिमित्तक सन्धि का अभाव एक से अधिक बार होने पर भी दोष होता है।

श्रीकृष्णकवि ने व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल भेद से अश्लील विसन्धि दोष को भी तीन प्रकार का माना है।[१०१] जहाँ सन्धि होने पर श्रुतिकटु दोष आ जाय वहाँ कटु विसन्धि दोष होता है।[१०२]

**हतवृत्त**—श्रीकृष्णकवि के अनुसार जहाँ रस के अनुरूप छन्द नहीं होता वहाँ हतवृत्त दोष होता है।[१०३]

आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने हतवृत्त तीन प्रकार का माना है—(१) छन्दःशास्त्र के लक्षणानुसार होने पर भी सुनने में अच्छा न लगने वाला, (२) जहाँ पादान्त का लघु वर्ण गुरु नहीं हो पाता, जबकि नियमानुसार होना चाहिये, (३) जहाँ वृत्त प्रकृत रस के अनुकूल न हो।

अच्युत राय ने केवल प्रथम दो भेद स्वीकार किया है—(१) छन्दोगत दोष के अभाव में[१०४] तथा (२) छन्दोगत दोष होने पर हतवृत्तता।[१०५] यह यतिभङ्गादि का भी उपलक्षण है।

---

९८. विसन्धिःसन्धिविरहः। स च द्विविधः ऐच्छिकः प्रगृह्यत्वादिनिबन्धश्च।
(साहित्यबिन्दु, पृ० १००)

९९. विसन्धिः सन्ध्यभावोऽथ विरुद्धः सन्धिरेव च।
द्विविधः प्रथमस्तत्र स्वैच्छिकश्च प्रगृह्यजः॥
ऐच्छिकः सन्ध्यभावस्तु सकृदप्यतिदोषकृत्।
प्रगृह्यादिकृतस्त्वेष बाहुल्येनैव दोषकृत्॥ (रसदीर्घिका, पृ० ७०)

१००. शब्दशास्त्रहतः सन्दि. संहितायां विसंहितम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७०)

१०१. व्रीडाजुगुप्साकार्यर्थामंगलार्थप्रतीतिकृत्।
विसन्ध्यश्लीलाह्वयं च त्रिविधं परिकीर्तितम्॥ (वही, पृ० १७०)

१०२. सन्धौ श्रुतिकटुत्वं चेत् भवेत् कटुविसन्धि तत्। (वही, पृ० १७०)

१०३. हतवृत्तं भवेद्यत्र वृत्तं रसविरोधि तत्। (वही, पृ० १६९)

१०४. हतवृत्तं तथाभातिच्छन्दोषं विनैव यत्। (साहित्यसार, पृ० २२३)

१०५. छन्दः शास्त्रोक्तदोषेण सहितं प्रथितं हि तत्। (वही, पृ० २२४)

**यतिभङ्ग**—रघुनाथ मनोहर के अनुसार जहाँ किसी नाम के मध्य में विराम होता है उसे यतिभङ्ग कहते हैं।[106] श्रीकृष्णकवि एवं नरसिंह कवि इसे यतिभ्रष्ट तथा विद्याराम भग्नयतिक दोष कहते हैं। श्रीकृष्णकवि का कहना है कि जहाँ विराम होना चाहिए वहाँ विराम न होना यतिभ्रष्ट कहलाता है।[107] विद्याराम यति के होने पर जहाँ शब्दविभाजन हो जाता है उसे भग्नयतिक मानते हैं।[108]

**भग्नच्छन्द**—जहाँ छन्दोभङ्ग होता है उसे भग्नच्छन्द दोष कहते हैं।[109] रघुनाथ मनोहर इसे छन्दोभ्रष्ट कहते हैं।[110]

उपर्युक्त दोनों दोष पद्य में ही होते हैं।[111] कुछ आचार्य हतवृत्त और विसंहित को पद्यदोष ही मानते हैं।[112] मम्मटप्रभृति आचार्यों ने यतिभङ्ग एवं भग्नच्छन्द को हतवृत्त में अन्तर्भूत माना है।

**न्यूनपद**—जिस वाक्य में किसी एक अपेक्षित पद का प्रयोग न हुआ हो उसे न्यूनपद दोष कहते हैं। श्रीकृष्णकवि इसे अपूर्ण दोष भी कहते हैं।[113] नरसिंह कवि अपूर्ण और न्यूनपद को भिन्न-भिन्न पद दोष मानते हैं। उनके अनुसार जहाँ विवक्षित सम्बन्ध पूर्ण नहीं होता वह अपूर्ण दोष[114] और जिस पद के बिना वाक्य उपपन्न न हो उसका प्रयोग न होने पर न्यूनपद दोष होता है। इसे वाक्यवर्जित भी कहते हैं।[115]

**अधिकपद**—जिस वाक्य में अनपेक्षित पद का प्रयोग हुआ हो उसे अधिकपद दोष कहते हैं।[116] यह पद चरितार्थ में ही प्रयुक्त होता है। रघुनाथ मनोहर ने इसे अधिपद दोष कहा है।[117]

---

१०६. मध्ये नाम्नश्च विरतिर्यतिभङ्गः स उच्यते। (कविकौस्तुभ, पृ० ५)
१०७. यत्र स्थाने न विच्छेदो यतिभ्रष्टं तदिष्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६९)
१०८. यतो शब्दविभागो यत्तद्भग्नयतिकं स्मृतम्। (रसदीर्घिका, पृ० ७१)
१०९. भग्नच्छन्दस्तु तज्ज्ञेयं यच्छन्दोभंगसंयुतम् (वही, पृ० ७१)
११०. हीनं यद् वृत्तं भेदेन छन्दोभ्रष्टं स्मृतं यथा। (कविकौस्तुभ, पृ० १)
१११. पद्य एव च दोषत्वं स्याच्छन्दोयतिभङ्गयोः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७२)
११२. पद्यदोषौ विदुः केचित् हतवृत्तविसंहिते। (वही, पृ० १७२)
११३. अपेक्षितपदानुक्तिर्यत्रापूर्णं तदिष्यते।
इदमेव न्यूनपदाभिधं सम्बन्धवर्जितम्॥ (वही, पृ० १७०)
११४. अपूर्णं तद्भवेद्यत्र न सम्पूर्णः क्रियान्वय.। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६५)
११५. येन विना वाक्यमनुपपन्नं तदप्रयोगे न्यूनपदम्। इदमेव वाक्यावर्जितमित्युच्यते। (वही, पृ० ६४)
११६. तत्राधिकपदत्वं स्यात्पदं यत्रानपेक्षितम्। (साहित्यसार, पृ० २२४)
११७. चरितार्थे प्रयुक्तं यत् पदं चाधिपदं मतम्। (कविकौस्तुभ, पृ० १३)

**कथितपद**—पण्डितराजोत्तर आचार्य प्राय. इसे भोज की भाँति पुनरुक्तिमत् दोष कहते हैं। श्रीकृष्णकवि के अनुसार जिस वाक्य में शब्द-अर्थ की पुनरुक्ति होती है उसे पुनरुक्तिमत् दोष कहते हैं।[११८] अच्युतराय ने इसे संप्रोक्तपद कहा है।[११९] रघुनाथ मनोहर इसे भामह एवं दण्डी की भाँति एकार्थं दोष कहते हैं।[१२०] हरिदास सिद्धान्तवागीश इसे मम्मट एवं विश्वनाथसम्मत कथितपद दोष स्वीकार करते हैं।[१२१]

**पतत्प्रकर्ष**—जहाँ बन्ध के चरणों में प्रकर्ष का उत्तरोत्तर ह्रास दृष्टिगत हो उसे पतत्प्रकर्ष दोष कहते हैं।[१२२] अच्युतराय इसे अधिक स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार जहाँ अनुप्रास, यमकादि अलङ्कारों का क्रमशः परित्याग होता जाता है उसे पतत्प्रकर्ष वाक्यदोष कहते हैं।[१२३]

**समाप्तपुनरात्त**—मुख्य क्रिया का अन्वय हो जाने पर भी पुनः विशेषण के द्वारा जहाँ वाक्य प्रारम्भ होता हुआ सा प्रतीत होता है उसे समाप्तपुनरात्त दोष कहते हैं।[१२४]

**अर्धान्तरैकपद**—जहाँ पूर्वार्ध में समाप्त हुए वाक्य का मात्र एक पद उत्तरार्ध में कथन के लिये शेष रह जाता है वहाँ अर्धान्तरैकपदता दोष होता है।[१२५] श्रीकृष्णकवि इसे अर्थान्तरस्थैकपद कहते हैं। उनके अनुसार एकार्थक पद यदि अन्यार्थक वाक्यान्तर में प्रयुक्त हो तो उसे अर्थान्तरस्थैकपद कहते हैं।[१२६] अच्युतराय ने इसे अर्धान्तरगवाचक कहा है।[१२७]

---

११८. शब्दार्थपौनरुक्त्ये तु पुनरुक्तिमदिष्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १००)

११९. पुनरुक्त्यैव संप्रोक्तपदं शब्दादिनिष्ठया। (साहित्यसार, पृ० २२५)

१२०. पठनं पठितानां च शब्दार्थानां पुनः पुनः।
अविशेषेण भणनं तदेकार्थं मतं यथा॥ (कविकौस्तुभ, पृ० ७)

१२१. एकविधशब्दस्यासकृदभिधानं कथितपदता। (काव्यकौमुदी, पृ० ७७)

१२२. पतत्प्रकर्षं बन्धस्य पादे पादे ग्रहीणता। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७२)

१२३. पतत्प्रकर्षमुत्क्षिप्तानुप्रासयमकादिकम्। (साहित्यसार, पृ० २२५)

१२४. मुख्यक्रियान्वये जाते पुनः किञ्चिद् विशेषणम्।
यत्रोपादीयते तत्तु समाप्तपुनरात्तकम्॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६९)

१२५. एकार्धे समाप्तवाक्यस्यैकमात्रपदस्यान्यार्द्धे पातोऽर्धान्तरैकपदता।
(काव्यकौमुदी, पृ० ७९)

१२६. एकार्थकपदं चान्यार्थकवाक्यान्तरे यदि।
अर्थान्तरस्थैकपदं नाम तत्स्यात्प्रवेशनम्॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७०)

१२७. यत्पदं ह्युत्तरार्द्धे तदर्धान्तरगवाचकम्। (साहित्यसार, पृ० २२६)

**अभवन्मतयोग**—वाक्य में अभिप्रेत सम्बन्ध (अन्वय) के उपपन्न न होने पर अभवन्मत सम्बन्ध दोष होता है।[१२८] अच्युतराय के शब्दों में जहाँ कविसम्मत अन्वय का भान न हो उसे अभवन्मत योग कहते हैं।[१२९] नरसिंह कवि ने इसे विद्यानाथ की भाँति सम्बन्धवर्जित दोष कहा है।[१३०] रघुनाथ मनोहर इसे वाग्भट्ट प्रथम की भाँति व्यस्त सम्बन्ध दोष कहते हैं।[१३१] विद्याराम कवि[१३२] एवं छज्जूराम शास्त्री[१३३] जिस वाक्य के पदों में व्यवधान के कारण अन्वय में विलम्ब होता है उसे व्याकीर्ण दोष कहते हैं। आचार्य भोज को भी यही संज्ञा मान्य है। उन्होंने वाक्य में परस्पर विभक्तियों का साथ न होने पर व्याकीर्ण दोष माना है।

अच्युतराय मम्मटसम्मत अभवन्मतयोग के ६ प्रकार स्वीकार करते हैं—विभक्ति भेद, वक्त्राभिमतपदार्थ में पद का असमर्थ होना, आकांक्षारहित, कविसंमत अव्यञ्जन, समासाच्छादन और व्युत्पत्तिविरोध।

**अनभिहितवाच्य**—जिस वाक्य में अवश्य वक्तव्य (वाच्य) पद का कथन नहीं होता उसे अनभिहितवाच्य कहते हैं।[१३४] अच्युतराय के अनुसार इसमें वाचक पद का नहीं अपितु द्योतक पद (अपि इत्यादि) का अभाव होता है।[१३५]

**अस्थानस्थ पद**—वाक्य में किसी पद का अनुचित स्थान पर प्रयोग करना अस्थानस्थपद वाक्यदोष कहलाता है।[१३६] श्रीकृष्ण कवि इसे अपदस्थपद कहते हैं।[१३७]

**अस्थानस्थ समास**—वाक्य में अनुचित स्थान पर समस्त शब्द का प्रयोग अस्थानस्थ समास कहलाता है।[१३८] श्रीकृष्ण कवि इसे अपदस्थसमास कहते हैं।[१३९]

---

१२८. अभिप्रेतसम्बन्धानुपपत्तावभवन्मतसम्बन्धता। (काव्यकौमुदी, पृ० ८०)
१२९. अभवन्मतयोगं तद्यत्रानभिमतोऽन्वयः। (साहित्यसार, पृ० २२६)
१३०. सम्बन्धवर्जितं तत्स्याद्यत्रेष्टेनान्वयो हतः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६२)
१३१. पदानां व्यस्तता यत्र व्यस्तसम्बन्ध उच्यते। (कविकौस्तुभ, पृ० ४)
१३२. व्याकीर्णं व्यवधानेन दूरगो यस्य चान्वयः। (रसदीर्घिका, पृ० ७०)
१३३. व्याकीर्णं व्यवहतान्वयम्। (साहित्यबिन्दु, पृ० १०१)
१३४. अनुक्तवाच्यं वक्तव्यानभिधायिपदोक्तितः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६९)
१३५. यत्रानभिहितं वाच्यं द्योतकं मतम्। (साहित्यसार, पृ० २३०)
१३६. पदस्यानुचितस्थाने स्थितिरस्थानस्थपदता। (काव्यकौमुदी, पृ० ८१)
१३७. अपदस्थपदं तत्स्याद्यत्रास्थाने पदं भवेत्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७१)
१३८. अस्थानस्थसमासं तद्यत्रायोग्ये स्थलेऽस्ति सः। (साहित्यसार, पृ० २३१)
१३९. अपदस्थसमासं स्यादस्थाने चेत्समस्यते। (मन्दरमरन्दचम्पू, पृ० १७१)

**सङ्कीर्ण**—जहाँ एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य के पदों में मिल जाते हैं, वहाँ सङ्कीर्ण दोष होता है।[140] श्रीकृष्ण कवि इसके अतिरिक्त एक वाक्यार्थ में दूसरे वाक्य के प्रवेश को गर्हित तथा वाक्य संकीर्ण दोष मानते हैं।[141]

**गर्भित**—जहाँ एक वाक्य के मध्य में दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो उसे वाक्य-गर्भित कहते हैं।[142] रघुनाथ मनोहर ने इसे वाग्भट प्रथम की भाँति खण्डित दोष[143] तथा विद्याराम कवि ने वाग्भट द्वितीय की भाँति वाक्यगर्भ दोष कहा है।[144]

**प्रसिद्धिविधुर** जिस वाक्य में कविप्रसिद्धि अथवा कवि समय का अतिक्रमण होता है, उसे प्रसिद्धिविधुर दोष कहते हैं।[145] अच्युतराय इसे प्रसिद्धिधुत[146] तथा छज्जूराम शास्त्री इसे अप्रसिद्ध[147] कहते हैं।

**भग्नप्रक्रम**—प्रारम्भ में जिस शैली या क्रम से रचना प्रारम्भ हुई हो उसे बिना किसी कारण के छोड़कर भिन्न क्रम में वर्णन करना भग्नप्रक्रम दोष कहलाता है।[148] अच्युतराय के अनुसार प्रकरण और औचित्य से रहित वर्णन भग्नप्रक्रम दोष होता है।[149] वे इसे सात प्रकार का मानते हैं—प्रकृति, प्रत्यय, पर्याय, उपसर्ग, वचन, तिङ् और क्रम।[150] अच्युतराय ने मम्मटोक्त 'सर्वनाम' भेद का उल्लेख नहीं किया है।

**अक्रम**—जिस पद के पहले या पीछे जिस पद का प्रयोग उचित हो वहाँ से भिन्न स्थल में प्रयोग करना अक्रम दोष कहलाता है।[151] श्रीकृष्ण कवि ने इस क्रमभ्रष्ट[152] तथा रघुनाथ मनोहर ने क्रमहीन[153] कहा है।

---

१४०. संकीर्णमन्यवाक्ये चेदन्यवाक्यपदं समम्। (वही, पृ० १६९)

१४१. गर्हितं यदि वाक्यार्थे वाक्यान्तरनिवेशनम्।
इदमेव भवेद् वाक्यसंकीर्णाभिधदूषणम्॥ (वही, पृ० १७१)

१४२. तद् वाक्यगर्भितं यस्य मध्ये वाक्यान्तरं यदि। (वही, पृ० १७०)

१४३. अन्यवाक्यप्रवेशेन यद् व्यस्तं खण्डितं यथा। (कविकौस्तुभ, पृ० १२)

१४४. असमाप्तस्य वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरस्य यः।
प्रवेशस्तत्तु विज्ञेयं वाक्यगर्भं कवीश्वरैः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ७१)

१४५. कविप्रसिद्ध्यतिक्रान्तं प्रसिद्धिविधुरं मतम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७१)

१४६. काव्याप्रसिद्धपदकं प्रसिद्धिधुतमिष्यते। (साहित्यसार, पृ० २३२)

१४७. अप्रसिद्धं प्रसिद्धिहतम्। (साहित्यबिन्दु, पृ० १०५)

१४८. प्रक्रान्तशैलीत्यागे तु भग्नप्रक्रममिष्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७१)

१४९. प्रस्तावौचित्यरहितं भग्नप्रक्रममेव तत्। (साहित्यसार, पृ० २३२)

१५०. प्रकृत्या प्रत्ययेनापि पर्यायेणोपसर्गतः।
वचनेन तिङा चैव क्रमेणापीति सप्तधा॥ (वही,)

१५१. यदूर्ध्वं यत्पदं योग्यं ततोऽन्यत्र तदक्रमम्। (वही, पृ० २३४)

१५२. क्रमभ्रष्टं भवेद्वाक्यं यत्र शब्दस्य विक्रमः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १६९)

१५३. क्रमेण यद् विहीनं स्यात् क्रमहीनं तु तद्यथा। (कविकौस्तुभ, पृ० ३)

**अमतपरार्थ**—जिस वाक्य का दूसरा अर्थ (अप्रकृत-व्यंग्य) प्रकृत अर्थ के विपरीत हो वहाँ अमतपरार्थत्व दोष होता है।[१५४] श्रीकृष्ण कवि इसे अधिक स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार जिस वाक्य में विरुद्ध रसों की अभिव्यक्ति हो उसे अमतपदार्थ कहते हैं।[१५५]

उपर्युक्त मम्मटसम्मत वाक्यदोषों के अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने अन्य दोषों का भी निरूपण किया है।

**शब्दहीन**—श्रीकृष्ण कवि एवं नरसिंह कवि इस दोष को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी असंगति से युक्त वाक्य शब्दहीन कहलाता है।[१५६] भामह दण्डी, भोज इस दोष को इसी नाम से अभिहित करते हैं।

**हतोपम**—जिस वाक्य में कविसंगत उपमा न हो वहाँ हतोपम दोष होता है।[१५७] श्रीकृष्ण कवि एवं नरसिंह कवि ने इसके चार भेद किये हैं—भिन्नलिङ् गोपमा, भिन्न-वचनोपमा, अधिकोपम एवं न्यूनोपम। अच्युतराय ने केवल भिन्नलिङ्ग का एवं भिन्नवचना उपमा का निरूपण किया है।

जिस वाक्य में उपमा भिन्नलिङ्गक अर्थात् उपमेय और उपमान का भिन्न लिङ्ग होता है उसे भिन्नलिङ् गोपमा[१५८] तथा जहाँ उपमेय और उपमान का वचन भिन्न होता है उसे भिन्नवचनोपमा कहते हैं।[१५९] जिस वाक्य में उपमेय की अपेक्षा उपमान पद अधिक होता है उसे अधिकोपम[१६०] तथा जहाँ उपमान के विशेषण कम होते हैं वहाँ न्यूनोपम दोष होता है।[१६१] रघुनाथ मनोहर ने न्यूनोपम को हीनोपम कहा है।[१६२]

मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव प्रभृति आचार्यों ने न्यूनपद और अधिकपद वाक्य-दोषों का निरूपण तो किया किन्तु उसका सम्बन्ध उपमा के साथ नहीं स्थापित किया है।

---

१५४. अपरार्थस्य प्रकृतार्थविरोधेऽमतपरार्थता। (काव्यकौमुदी, पृ० ८०)

१५५. विरुद्धरसयोर्व्यक्तिर्यदामतपदार्थकम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७१)

१५६ शब्दशास्त्रहतं वाक्यं शब्दहीनमितीर्यते। (वही, पृ० १६६)

१५७. असंमतोपमा यत्र कवीनां तद्धतोपमम्। (वही, पृ० १६६)

१५८. भिन्नलिङ्गं भवेद्यत्रोपमा स्याद् भिन्नलिङ्गका। (वही, पृ० १६६)

१५९. तद्भिन्नवचनं भिन्नवचना यत्र चोपमा। (वही, पृ० १६६)

१६०. यत्रोपमानमधिकं तद्भवेदधिकोपमम्। (वही, पृ० १६६)

१६१. न्यूनं यत्रोपमानं स्यात्तन्न्यूनोपममिष्यते। (वही, पृ० १६६)

१६२. उपमेयेन सादृश्यमुपमानस्य वर्ण्यते।
परगामित्वहेतोस्तद्वाक्यं हीनोपमं विदुः॥ (कविकौस्तुभ, पृ० १४)

**अशरीर**—जिस वाक्य में क्रियापद न हो उसे अशरीर कहते हैं। विद्यनाथ ने इसे ही अनन्व दोष कहा है।[163] रघुनाथ मनोहर इसे क्रियाव्यस्त दोष कहते हैं।[164]

**अपार्थं**—भामह, दण्डी इस दोष को स्वीकार करते हैं। भोजप्रभृति आचार्य इसे अर्थदोष मानते हैं। जिस वाक्य में शब्दसमुदाय अर्थहीन होता है अर्थात् जिस वाक्य वाक्य के पद सविभक्तिक होने से सार्थक तो होते हैं, किन्तु परस्पर साकांक्ष न होने से उनका कोई समवेत अर्थ नहीं बन पाता उसे अपार्थ दोष कहते हैं।[165] विद्याराम कवि ने इसे समुदायार्थवर्जित कहा है। उनके अनुसार प्रकरण के विपरीत कथन को समुदायार्थ-वर्जित कहते हैं।[166] श्रीकृष्ण कवि एवं नरसिंह कवि इसका निरूपण अर्थदोष के अन्तर्गत करते हैं।

रघुनाथ मनोहर के अपार्थ दोष के उदाहरण (कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्) में पल्लव से पूर्व पुष्प उत्पत्ति का वर्णन होने से वस्तुतः वह क्रम-हीन दोष का उदाहरण है। द्वितीय चरण में प्रयुक्त षट्पदकूजित को आचार्यों ने प्रायः कविसम्प्रदायप्रसिद्धि के विरुद्ध होने के कारण प्रसिद्धिविधुर दोष माना है।

**असंमित**—वाग्भट प्रथम इस दोष को स्वीकार करते हैं जिस वाक्य में शब्द और अर्थ उचित अनुपात में न हों अर्थात् शब्द अधिक हो और उनसे अल्प अर्थ की प्रतीति हो उसे असंमित दोष कहते हैं।[167]

**श्लिष्ट**—रघुनाथ मनोहर ने, जिस वाक्य में पदों का क्रम अन्वय के अनुसार हो उसमें श्लिष्टत्व दोष माना हैं।[168] यह व्यस्त सम्बन्ध दोष का विपरीत प्रतीत होता है, जिसमें परस्पर सम्बद्ध पद दूर रहा करते हैं।

**व्यर्थं**—भामह, दण्डी इस दोष को स्वीकार करते हैं। भोज प्रभृति आचार्यों ने इसे अर्थ दोष माना है। रघुनाथ मनोहर के अनुसार जहाँ एक वाक्य अथवा प्रबन्ध में परवर्ती अर्थ पूर्ववर्ती का विरोधी होता है वहाँ व्यर्थ दोष होता है।[169] इस परिभाषा की पदावली दण्डी से गृहीत है।[170]

---

१६३ क्रियापदेन रहितमशरीरमितीर्यते।
इदमेवानन्वयाख्यं दूषणं परिकीर्तितम्॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७०)

१६४. क्रियाभ्रष्टं तुयद् वाक्यं क्रियाव्यस्तं स्मृतं बुधैः। (कविकौस्तुभ, पृ० २)

१६५. समुदायार्थशून्यं तुयत् तदपार्थं समुच्यते। (वही, पृ० ४)

१६६. विरुद्धोक्तिस्तु प्रस्तावात् समुदायार्थवर्जितम्। (रसदीर्घिका, पृ० ७२)

१६७. असंमितं मतं यत्र तौल्यं नास्तिपदार्थयोः। (कविकौस्तुभ, पृ० ३)

१६८. पदान्यन्वयवद्यत्र श्लिष्टानि श्लिष्टमुच्यते। (वही, पृ० ५)

१६९. एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वात् पूर्वात् पराहतम्।
विरुद्धार्थतया व्यर्थं वाक्यं वाक्यविद यथा॥ (वही, पृ० ७)

१७०. एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहम्।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते॥ (काव्यादर्श)

**आगमविरोधी**--आचार्य भामह एवं दण्डी ने देश, काल, कला, लोक, न्याय, आगम इत्यादि के विरोध को दोष माना है। वामन ने लोक-विद्या विरुद्ध दोष स्वीकार किया है। भोजराज विरुद्धत्व दोष के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेद कर प्रत्यक्ष-विरोध के देश, काल, लोकादि भेद करते हैं। वे इसे अर्थदोष मानते हैं।

जहां शास्त्रविरुद्ध वर्णन होता है उसे आगमविरोधी कहते हैं।[१७१] आचार्य भोज ने धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र भेद से आगमविरोधी दोष को त्रिविध माना है किंतु रघुनाथ मनोहर ने उपभेदों का उल्लेख नहीं किया है।

**अवस्थाविरोधी**—यदि वाक्य में वर्ण्य-अवस्थाविशेष में न पाये जाने वाले तत्त्व का वर्णन हो तो उसे अवस्थाविरोधी कहते हैं।[१७२]

**द्रव्यभेद**--जिस वाक्य में प्राकृतिक वस्तुओं और शिशिरादि ऋतुओं के ऐसे गुण का कथन हो जो वस्तुतः उसमें न हो उसे द्रव्यभेदक दोष कहते हैं।[१७३] भोज इसे लोक-विरुद्ध कहते हैं।

**देशविरोधी**—जो वस्तु देश-विदेश (पर्वत, वन, राष्ट्रादि) में न पायी जाती हो उसका वर्णन करना देशविरोधी दोष कहलाता है।[१७४]

**कलाविरुद्ध**—कामसूत्रप्रतिपादित ६४ कलाओं (विद्याओं) के विपरीत वर्णन करना कलाविरुद्ध दोष है।[१७५] यथा ५४ वीं कला काव्यक्रिया में प्रयुक्त होने वाले रस-सिद्धान्त का पालन करना चाहिये अन्यथा कला-विरुद्ध दोष होता है।

**न्यायविरुद्ध**—जो वाक्य नीतिविरोधी होता है उसे न्यायविरुद्ध कहते हैं।[१७६]

**कलाविरुद्ध** —जिस वाक्य में वर्ण्य विषय का वर्णन काल के अनुसार न हो उसे कालविरुद्ध कहते हैं।[१७७]

**हेतुविरुद्ध**—जिस वाक्य में तर्क विरुद्ध वर्णन होता है उसे हेतुविरुद्ध दोष कहते हैं।[१७८]

---

१७१ अशास्त्रमुच्यते वाक्यं तदागमविरोधि च। (कविकौस्तुभ, पृ० ५)

१७२. वर्ण्यावस्थाविहीनं यत्तदवस्थाविरोधि च। (वही, पृ० ८)

१७३. विरोधिता भवेद्यत्र द्रव्याणां शिशिरादिनाम्।
द्रव्यभेदं प्रशंसन्ति दोष दोषविद यथा॥ (वही, पृ० ९)

१७४. यस्मिन् देशे विरुद्धं यद् वर्णनं क्रियते च तत्।
अलंकारविदा तत्र प्रोक्तं देशविरोधिकम्॥ (वही, पृ० ९)

१७५. चतुःषष्टिकलास्विरत्थं विरोधो वर्ण्यते यदा।
कलाविरोधि तज्ज्ञेयं वर्जितं रससङ्ग्रहे॥ (वही, पृ० १०)

१७६. नीत्या विरोधि यद्वाक्यं तत् तु न्यायविरोधि च। (वही, पृ० १०)

१७७. यत्र कालोचितं वर्ण्यंवर्णनं न भवेद्यदि।
वदन्ति विबुधास्तत्र तत्तत्कालविरोधि च॥ (वही, पृ० ११)

१७८. हेतुव्यस्ततयाभावाज्ज्ञेयं हेतुविरोधि च। (वही, पृ० ११)

## अर्थ दोष

भामह एवं दण्डी ने दोषस्वरूप का सोदाहरण विवेचन तो किया किन्तु उनका वर्गीकरण नहीं किया। रुद्रट ने दोषों को पद, वाक्य एवं अर्थ रूप में विभाजित किया। वामन ने पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ दोषों का निरूपण किया। महिमभट्ट ने दोष (अनौचित्य) को शब्दगत तथा अर्थगत स्वीकार किया। आचार्य भोज दोष को पद, वाक्य और वाक्यार्थ भेद से त्रिविध मानते हैं। मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने भी दोष को पद, पदांश, वाक्य, अर्थ, रसगत माना है। पण्डितराजोत्तर आचार्य भी अर्थ दोषों का उल्लेख सविस्तर करते हैं।

**अपुष्ट**—जो अर्थ काव्य को उत्कृष्ट नहीं बनाता उसे अपुष्ट कहते हैं।[१७९] अच्युतराय के अनुसार जो अर्थ अन्यपदलभ्य तथा अप्रयोजक हो वह अपुष्ट कहलाता है।[१८०] यह परिभाषा आचार्य भोज के व्यर्थ दोष के निकट है।[१८१] विद्याराम इस दोष को केशव मिश्र की भाँति खिन्न संज्ञा से अभिहित करते हैं।[१८२] हरिदास सिद्धान्त वागीश का लक्षण अधिक स्पष्ट है। उनके अनुसार जो अर्थ प्रस्तुत विषय का उपकारक (महत्त्ववर्धक) न हो अर्थात् शब्द हटा देने पर भी अर्थ का चारुत्व अल्प न हो उसे अपुष्ट कहते हैं।[१८३]

**कष्ट**—जिस अर्थ की प्रतीति कठिनता से होती है, उसे कष्ट कहते हैं।[१८४]

**व्याघात**—पूर्व कथित अर्थ के विरुद्ध अर्थ का कथन व्याघात दोष कहलाता है।[१८५] नरसिंह कवि, विद्याराम, अच्युतराय, हरिदास सिद्धान्तवागीश, छज्जूराम शास्त्री प्रभृति आचार्य इसे व्याहत दोष कहते हैं। हरिदास सिद्धान्त वागीश के अनुसार एक ही वक्ता के वचनों में विरोध होना व्याहत दोष है।[१८६] नरसिंह कवि का मत है कि देश-कालादि के विरुद्ध कथन करना व्याहत दोष होता है।[१८७] अच्युतराय, जहाँ पर अर्थ-विशेष की स्तुति कर निन्दा की जाय अथवा निन्दा कर स्तुति की जाय उसे व्याहत कहते हैं।[१८८]

---

१७९. उत्कर्षं यो न पुष्णाति सोऽर्थोऽपुष्ट इतीष्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७२)

१८०. अर्थोऽपुष्टोऽन्यलभ्यत्वादप्रयोजकतोऽपि च। (साहित्यसार, पृ० २४१)

१८१. व्यर्थमाहुर्गतार्थं यद्यच्च स्यान्निष्प्रयोजनम्। (सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ६३)

१८२. अपुष्टं खिन्नमित्युक्तं साधारणनिरूपणात्। (रसदीर्घिका, पृ० ७३)

१८४. कृच्छ्रेण गम्यते योऽर्थः स कष्ट इति कथ्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७२)

१८५. व्याघातः पूर्वकथितविरुद्धार्थोपवर्णने। (वही, पृ० १७२)

१८६. एकवक्तुरेव वचनयोर्विरोधे व्याहतत्वम्। (काव्यकौमुदी, पृ० ८२)

१८७. व्याहतं देशकालादिविरुद्धं परिकीर्त्यते। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६६)

१८८. व्याहृतो निन्द्यते स्तुत्वाऽन्यथा वा यत्र स स्मृतः। (साहित्यसार, पृ० २४२)

**पुनरुक्त**—जहाँ बिना किसी प्रयोजन के प्रतीत अर्थ का पुनः कथन हो उसे पुनरुक्त दोष कहते हैं।[१८९] इसे अन्य आचार्यों ने एकार्थ दोष कहा है।[१९०] अच्युतराय ने पदार्थ अथवा वाक्यार्थ की द्विरुक्ति को पुनरुक्ति कहा है।[१९१]

**दुष्क्रम**—यथोचित क्रम से रहित अर्थ को दुष्क्रम कहते हैं।[१९२] हरिदास सिद्धान्त वागीश इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि लोक में निश्चित कार्यों के क्रम का जब वर्णन करते समय पालन नहीं किया जाता तब दुष्क्रम दोष होता है।[१९३] तात्पर्य यह है कि संसार में कार्यों के प्रतिपादन का पौर्वापर्य क्रम निश्चित है, उसका वर्णन उसी क्रम में होना चाहिए। नरसिंह कवि इसे हेमचन्द्र एवं वाग्भट द्वितीय की भाँति अक्रम दोष कहते हैं।[१९४]

**ग्राम्य**—अविदग्ध जनों के द्वारा उक्त अर्थ ग्राम्य कहलाता है।[१९५]

**सन्दिग्ध**—जहां वक्ता के अभीष्ट अर्थ का निश्चय नहीं होता वहाँ सन्दिग्ध दोष होता है।[१९६]

**निर्हेतु**—जिस वाक्य में किसी क्रिया या फल का हेतु कथन अपेक्षित होने पर भी न कहा जाय उसे निर्हेतु कहते हैं।[१९७] नरसिंह कवि इसे विद्यानाथ की भाँति हेतुशून्य कहते हैं।[१९८]

**विरुद्ध**—देश-काल-वय-अवस्था इत्यादि के विपरीत अर्थ-कथन को विरुद्ध दोष कहते हैं।[१९९] पण्डितराजोत्तर आचार्यों ने मम्मट-विश्वनाथसम्मत विद्याविरुद्ध (शास्त्र-विरुद्ध) और प्रकाशित विरुद्ध का प्रायः विवेचन नहीं किया है। सम्भव है वे इसी विरुद्ध दोष के अन्तर्गत सबका अन्तर्भाव करते हैं।

---

१८९. पुनरुक्तः प्रतीतार्थकथनं स्याद् विना फलम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७२)

१९०. इदमेव बुधा एकार्थाभिधं दूषणं विदुः। (वही, पृ० १७२)

१९१. पुनरुक्तः पदार्थो वा वाक्यार्थो वा द्विरुक्तिमान्। (साहित्यसार, पृ० २४२)

१९२. दुष्क्रमस्तु यथायोग्यक्रमहीनार्थं इष्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७२)

१९३. लोकसिद्धक्रमत्यागो दुष्क्रमता। (काव्यकौमुदी, पृ० ८२)

१९४. कथ्यते क्रमवाक्यार्थव्युत्क्रमोऽक्रमनामकः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६७)

१९५. अविदग्धैरुच्यमानस्त्वर्थो ग्राम्य इतीरितः। (मन्दारन्दचम्पू, पृ० १७३)

१९६. तात्पर्यग्राहकाभावात्सन्दिग्धोऽनवधारितः। (वही, पृ० १७३)

१९७. हेतुं विनोच्यते योऽर्थः स निर्हेतुरितीर्यते। (वही, पृ० १७३)

१९८. हेतोर्विनाऽर्थकथनं हेतुशून्यं प्रचक्षते। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६६)

१९९. विरुद्धो देशकालादिविरुद्धार्थः प्रकीर्तितः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७४)

अच्युतराय ने प्रकाशितविरुद्ध दोष का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अभिमत अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति होने पर प्रकाशितविरुद्ध दोष होता है।[२००]

**अनवीकृत**—जहाँ किसी विशेष (विचित्र अथवा नवीन) अर्थ की प्रतीति न हो उसे अनवीकृत दोष कहते हैं।[२०१] इसमें भी कथितपद दोष के समान एक पद की आवृत्ति अनेकशः होती है किन्तु कथितपद में पर्याय रख देने से दोष समाप्त हो जाता है जबकि अनवीकृत दोष में पर्याय रखने पर भी किसी नवीनता की प्रतीति नहीं होती। इस तथ्य की ओर अच्युतराय ने संकेत किया है—जहाँ भंग्यन्तर के द्वारा भी नूतन अर्थ की प्रतीति न हो उसे अनवीकृत दोष कहते हैं।[२०२]

**नियमच्युत**— जिस बात को नियम से अवश्य कहा जाना चाहिये उसको नियमतः न कहना नियमच्युत दोष कहलाता है।[२०३] आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने इसे सनियमपरिवृत्त कहा है।

अच्युतराय इसके दूसरे भेद का भी उल्लेख करते हैं -- जहाँ अनियम का परित्याग कर दिया जाता है अर्थात् जहाँ बिना नियम के कथन करना उचित हो वहाँ नियमपूर्वक कथन करना अनियम दोष कहलाता है।[२०४] आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने इसे अनियमपरिवृत्त कहा है।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों ने मम्मट एवं विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित विशेष परिवृत्ति एवं अविशेष परिवृत्ति का निरूपण नहीं किया है।

**साकांक्ष** —जहाँ पर अर्थ अर्थान्तर सापेक्ष हो अर्थात् आकांक्षा (जिज्ञासा) बनी रहे यानि अर्थपूर्ण न हो किन्तु उसका प्रतिपादन न किया गया हो उसे साकांक्ष दोष कहते हैं।[२०५]

**सहचरच्युत**—जहाँ पर एक ही साथ अतुल्य अर्थ का प्रतिपादन हो उसे सहचरच्युत दोष कहते हैं।[२०६] नरसिंह कवि इसे अधिक स्पष्ट करते हैं। उनके अनुसार जहाँ निकृष्ट के साथ-साथ उत्कृष्ट अर्थ का भी सहचार हो उसे सहचरच्युत कहते हैं।[२०७]

---

२००. प्रकाशितो मतार्थस्य विरुद्धो येन सोऽस्त्यसौ (साहित्यसार, पृ० २४६)
२०१. विशेषापर्यवसितः स्यादर्थस्त्वनवीकृतः (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७३)
२०२. भंग्यन्तरेण नूतनत्वमनीतस्त्वनवीकृतः। (साहित्यसार, पृ० २४५)
२०३. अवश्यवाच्यनियमरहितो नियमच्युतः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७३)
२०४. त्वक्तोऽस्त्यनियमो यत्र स तथा गीयते बुधैः। (साहित्यसार, पृ० २४७)
२०५. पदार्थान्तरसापेक्षस्त्वर्थः साकांक्ष उच्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७३)
२०६. अतुल्येन सहोक्तार्थो भवेत् सहचरच्युतः। (वही, पृ० १७४)
२०७. हीनैस्सहेवोत्कृष्टानां पातः सहचरच्युतः। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६७)

**विध्ययुक्त**—जहाँ पर विधि (विधेय) अनुपयुक्त हो वहाँ विध्ययुक्तता दोष होता है। अच्युतराय ने इसका दो भेद किया है—अविधेय को विधेय बना देना और विधेय को अनुपयुक्त क्रम में रखना।[२०८]

**अनिरूप्य**—जहाँ पर अनुवाद (उद्देश्य) विधेय के उपयुक्त न हो उसे अनिरूप्य दोष कहते हैं।[२०९] आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने इसे अनुवादायुक्त दोष कहा है।

**अश्लील**—व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल अर्थ के सूचक वाक्यार्थ को अश्लील कहते हैं।[२१०]

**व्यर्थ**—प्रयोजन रहित अर्थ को व्यर्थ कहते हैं।[२११]

**अतिमात्र**—भोज एवं रुद्रट ने इस दोष का विवेचन किया है। श्रीकृष्ण कवि ने भोज से ही पदावली ग्रहण की हैं। उनके अनुसार लोकातीत अर्थ को अतिमात्र दोष कहते हैं।[२१२] इस दोष का उल्लेख केवल श्रीकृष्ण कवि ने किया है।

**परुष**—जहा पर अर्थ अत्यन्त कर्कश हो उसे परुष कहते हैं।[२१३] अच्युतराय की परिभाषा अधिक सुन्दर है—अस्थान अर्थात् रौद्ररस इत्यादि को छोड़कर कठोर अर्थ को परुष कहते हैं।[२१४]

**विरस**—आचार्य भोज ने इस दोष का उल्लेख किया है। विद्याराम के अनुसार विरोधी रसों की उपस्थिति को विरस कहते हैं।[२१५] अच्युतराय ने इसे और स्पष्ट किया है। उनके अनुसार जहाँ अप्रस्तुत रस प्रस्तुत रस का विरोधी होता है वह विरस कहलाता है।[२१६]

**हीनोपम**—जहां पर उपमेय की अपेक्षा उपमान हीन होता है उसे हीनोपम दोष कहते हैं।[२१७]

---

२०८. यत्रायुक्तो विधिः सोऽयं विध्ययुक्तो द्विधा मतः।
अविधेयविधेयत्वादयुक्तक्रमतोऽपि च॥ (साहित्यसार, पृ० २५०)

२०९. अनिरूप्यो नामतः स्यादयुक्तस्यानुवादतः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७३)

२१०. अश्लीलः स्यात् स वाक्यार्थो व्रीडाकार्यर्थसूचकः। (वही, पृ० १७३)

२११. प्रयोजनेन रहितो योऽर्थः स व्यर्थ इष्यते। (वही, पृ० १७३)

२१२. यः सर्वलोकातीतार्थः सोऽतिमात्र इतीरितः। (वही, पृ० १७३)

२१३. अत्यन्तकर्कशार्थस्तु परुषो नाम कीर्तितः। (वही, पृ० १७३)

२१४. परुषोऽस्थानरोषो। (साहित्यसार, पृ० २५१)

२१५. विरोधिरससन्दर्भाद् विरसं रसहानिमत्। (रसदीर्घिका, पृ० ७३)

२१६. अप्रस्तुतो रसो यत्र विरसोऽसौ निगद्यते। (साहित्यसार, पृ० २५१)

२१७. हीनं यत्रोपमानं स्यात् सोऽर्थो हीनोपमो मतः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७४)

**अधिकोपम**—जहां पर उपमान ही उपमेय की अपेक्षा अधिक वर्णित हो उसे अधिकोपम कहते हैं।[२१८] विद्याराम कवि के अनुसार हीन पदार्थ का उत्तम पदार्थ के साथ सादृश्य वर्णन अधिकोपम कहलाता है।[२१९] नरसिंह कवि ने इसके अतिरिक्त अतुल्य उपमान होने पर भी अधिकोपम दोष का विकल्प प्रस्तुत किया है।[२२०] अन्य आचार्यों ने इसे असमोपम दोष ही माना है। नरसिंह कवि इसे असदृशोपम भी कहते हैं।[२२१]

**असमोपम**—जहां उपमेय के सदृश उपमान न हो उसे असमोपम दोष कहते हैं।[२२२]

**अप्रसिद्धोपम**—जहां उपमान लोकप्रसिद्ध न हो उसे अप्रसिद्धोपम दोष कहते हैं।[२२३] नरसिंहकवि इसे असिद्धोपम कहते हैं।[२२४]

**निरलंकार**— आचार्य भोज ने इस दोष का निरूपण किया है। नरसिंह कवि के अनुसार अलंकारहीन अर्थ को निरलंकार कहते हैं।[२२५] अच्युतराय का लक्षण सुन्दर है—रसरहित होने पर भी जो अर्थ अलंकार रहित हो वह निरलंकार कहलाता है।[२२६]

## रसदोष

उपर्युक्त पद, वाक्य और अर्थगत सभी दोष रसानुभूति में बाधक होने से सदोष ही हैं तथापि कुछ दोष ऐसे हैं जिनका रस से साक्षात् सम्बन्ध है, उन्हें रस दोष कहा गया है। आनन्दवर्धन के पूर्व चूंकि काव्यशास्त्रियों की दृष्टि काव्य के बहिरङ्ग पक्ष तक ही सीमित थी अतएव पूर्ववर्ती आचार्यों ने मात्र पद, वाक्य एवं अर्थदोषों का निरूपण किया। चूंकि रस अर्थरूप ही होता है इसलिये कुछ आचार्यों ने अर्थदोष को रसदोष एवं रसभिन्न अर्थदोष द्विविध मानकर विवेचन किया है।

पण्डितराजोत्तर आचार्य रसदोष के विवेचन में अधिक रुचि नहीं रखते। केवल अच्युतराय, भूदेव शुक्ल, हरिदास सिद्धान्तवागीश प्रभृति आचार्य ही रस-दोष का निरूपण करते हैं।

---

२१८. यत्रोपमानमधिकं कथितः सोऽधिकोपमः। (वही, पृ० १७२)

२१९. हीनस्योत्तमसाम्यं यज्ज्ञेयं तदधिकोपमम्। (रसदीर्घिका, पृ० ७३)

२२०. यदतुल्योपमानं स्यात्तद् भवेदधिकोपममिति वा। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६८)

२२१. यदतुल्योपमानं तद् भवेदसदृशोपमम्। (वही, पृ० ६८)

२२२. यत्रासदृक्षोपमान सोऽर्थः स्यादसमोपमः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७३)

२२३. यत्राप्रसिद्धोपमानमप्रसिद्धोपमश्च सः। (वही, पृ० १७४)

२२४. अप्रसिद्धोपमानं तदसिद्धोपममुच्यते। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६८)

२२५. अलंकारेण रहितं निरलंकारमुच्यते। (वही, पृ० ६८)

२२६. अरसोऽप्यनलंकारान्निरलंकार उच्यते। (साहित्यसार, पृ० २५२)

**स्वशब्दोक्ति**—अनुभूयमान रस, स्थायीभाव एवं सञ्चारी भावों का स्व शब्दों के द्वारा कथन स्वशब्दोक्ति दोष कहलाता है।[227] भूदेव शुक्ल ने रसादि का सामान्यतः अथवा विशेषतः स्वशब्द से उल्लेख को शब्द-वच्यता दोष कहा है।[228] तात्पर्य यह है कि रस अथवा शृङ्गारादि शब्द, स्थायीभाव अथवा रत्यादि शब्द तथा व्यभिचारिभाव अथवा व्रीडादि शब्दों का प्रयोग करना स्वशब्दवाच्यता दोष है। जैसा कि स्पष्ट है आचार्यों ने इसके तीन भेद किये हैं—(१) रस की शब्दवाच्यता (२) स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता, और (३) व्यभिचारी भाव की स्वशब्दवाच्यता।

**भावदुर्गमता**—जहाँ पर विभाव और अनुभाव का बोध कठिनता से हो वहाँ भावदुर्गमता दोष होता है।[229] तात्पर्य यह है कि जहाँ विभाव एवं अनुभाव की अभिव्यक्ति कष्टकल्पनापूर्वक पृथक् श्लोकादि के अनुसंधान से अथवा प्रकरणादि के द्वारा विलम्ब से हो वहाँ दोष होता है। यह भी दो प्रकार का हुआ—अनुभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति और विभाव की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति।

**प्रतिकूलाश्रय**—प्रकृत रस के विरोधी रस के विभाव-अनुभाव व्यभिचारी-भाव का ग्रहण प्रतिकूलाश्रय दोष कहलाता है।[230]

**रसदीप्ति**—एक ही रस की पुनः पुनः अभिव्यक्ति रसदीप्ति दोष कहलाता है।[231] भूदेव शुक्ल ने अङ्गभूत रस की बारम्बार अभिव्यक्ति को रसदीप्ति दोष कहा है।[232]

**अकाण्डप्रथन**—अनवसर में विरोधी रस का प्रतिपादन अकाण्डप्रथन दोष कहलाता है।[233]

**अकाण्डच्छेद**—अकस्मात् अर्थात् अनुचित स्थान पर वर्तमान रस को भङ्ग कर देना रसच्छेद कहलाता है।[234]

**अनौचित्य**—कर्त्तव्यपालन न करना अनौचित्य दोष है। तात्पर्य यह है कि प्रधान रस में जो वर्णनीय है उसका वर्णन न करना और अप्रधान (अङ्ग) रस में जो

---

२२७. अनुभूयमानानां रसस्थायिसंचारिभावानां स्वशब्दैरुक्ति : स्वशब्दोरुक्तिः। (काव्यकौमुदी, पृ० ८७)

२२८. शब्दवाच्यता सामान्यतो विशेषतो वा स्वशब्देनोपादानम्। (रसविलास, पृ० ६७)

२२९. कष्टेन विभावानुभावबोधो भावदुर्गमता। (काव्यकौमुदी, पृ० ८८)

२३०. विरोधिपोषकादानं प्रतिकूलाश्रयः। (वही, पृ० ८८)

२३१. एकस्यैव रसस्यातिबाहुल्येन प्रकाशो रसदीप्तिः। (वही, पृ० ९०)

२३२. पुनः पुनर्दीप्तिरङ्गरसादिविषयो दोषः (रसविलास, पृ० ७०)

२३३. अनवसरे विरोधिरसप्रकाशोऽकाण्डप्रथनम्। (काव्यकौमुदी, पृ० ८८)

२३४. अकस्माद् वर्तमानरसनिवर्तनं रसच्छेदः। (वही, पृ० ८९)

अवर्णनीय है उसका अधिक वर्णन करना अनौचित्य दोष कहलाता है।[२३५] भूदेव शुक्ल ने इसे अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार नायक के चरित इत्यादि की अपेक्षा प्रतिनायकादि के नानाविध चरित एवं सम्पत्ति का वर्णन अर्थात् अप्रधान रस का अतिविस्तार दोष कहलाता है।[२३६]

इसी प्रकार अङ्गी अर्थात् रति इत्यादि के आश्रय एवं आलम्बन का अनुसंधान न करना यानि बीच-बीच में उसे भूल जाना अङ्गीरस का अनुसंधान दोष कहलाता है।[२३७]

**प्रकृतिविपर्यय**—नायकादि के स्वभाव के विपरीत वर्णन करना प्रकृतिविपर्यय दोष कहलाता है।[२३८] तात्पर्य यह है कि दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य भेद से त्रिविध प्रकृति पुन: धीरोदात्तादि भेद से 12 प्रकार की तथा उत्तम, मध्यम और अधम रूप से कुल मिलाकर ३६ प्रकृति के नायक होते हैं। इनके स्वरूप अर्थात् औचित्य के विपरीत वर्णन करना दोष होता है।

**अनङ्ग का अभिधान**—प्रकृत रस में जो उपकारक न हो उसका सविस्तार वर्णन करना दोष होता है[239] क्योंकि इससे प्रकृत रस विरत हो जाता है।

उपर्युक्त काव्यदोष-विवेचन से यह सिद्ध है कि पण्डितराजोत्तर युग में दोष निरूपण के विषय में नवीनता का सर्वथा अभाव है। इतना अवश्य है कि आचार्यों ने दोष का स्वरूप अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुत किया है। पण्डितराजोत्तर आचार्यों ने प्राय: मम्मटप्रतिपादित दोषों को ही स्वीकार किया है, कुछ आचार्यों ने भोजराजोक्त दोषों पर भी विचार किया है।

—०—

---

२३५. कर्त्तव्यमानमनौचित्यम्। प्रधानरसे वर्णनीये तद् वर्जनम्, अप्रधानरसे आधिक्ये-नावर्णनीये तद् वर्णनमनौचित्यम् नाम रसदोष:। (वही, पृ० ७१)

२३६. अप्रधानस्य प्रतिनायिकादे: नानाविधानां चरितानां नानाविधानां च सम्पदां नायकसम्बन्धिचरितादिभ्य आधिक्येन वर्णनम्। (रसविलास, पृ० ७१)

२३७. अङ्गिनो रत्याश्रयस्य रसालम्बनस्य च अननुसंधानमन्तरान्तरा विस्मृति:। (वही, पृ० ७१)

२३८. स्वभावव्यतिक्रम: प्रकृतिविपर्यय:। (काव्यकौमुदी, पृ० ९१)

२३९. अनङ्गस्याभिधानं च। रसानुपकारकस्य कीर्तनमित्यर्थ:। (साहित्यसार, पृ० २५६)

षष्ठ अध्याय

# गुण, रीति एवं वृत्ति विवेचन

## गुण स्वरूप

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में दोष विवेचन के अनन्तर 'एत एव निपर्यस्ता गुणाः काव्येषु प्रकीर्तिताः' यह तटस्थ लक्षण लिखकर दोषों के विपर्यस्त को गुण माना है तो वामन ने गुण-विवेचन के अनन्तर 'गुणविपर्ययात्मनो दोषाः' लिखकर गुणों के विपर्यय को दोष कहा है। यहाँ यह ध्येय है कि आचार्य गुण और दोष को परस्पर अभाव रूप नहीं मानते। दोषविपर्यस्त का अर्थ है दोषों के कार्य का वर्जन अथवा निग्रह करने वाले और इसी प्रकार गुण-विपर्यय का तात्पर्य है गुणों के कार्य का वर्जन या निग्रह करने वाले दोष हैं। इस प्रकार गुण एवं दोष स्वतन्त्र और पृथक् तत्त्व हैं।

भरत, भामह, दण्डी, कुन्तक इत्यादि आचार्य गुण-सामान्य का लक्षण नहीं करते। वामन 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः' कहते हैं तो दण्डी एवं अग्निपुराणकार 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' कहकर गुण और अलंकार में अभेद की सी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के रहस्य को समझकर मम्मट एवं विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने गुण व अलंकार का भेद स्थापित कर इनका स्वरूप निर्धारित किया। आचार्य मम्मट ने गुणों को रसधर्म, रसोत्कर्षहेतु और अचलस्थिति माना।[1]

पण्डितराजोत्तर आचार्य गुणस्वरूप के विषय में प्रायः मम्मट से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। नृसिंह कवि[2] एवं हरिदास सिद्धान्त वागीश[3] रस के उत्कर्षाधायक तत्त्व को गुण कहते हैं। यह परिभाषा दूषित है। केवल रस का उत्कर्ष हेतु कहने पर व्यभिचारी भावों में अतिव्याप्ति हो जाती है क्योंकि व्यभिचारी भाव भी रस के पोषक

---

१. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इव आत्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ (काव्यप्रकाश, पृ० ३८०)

२. रसोत्कर्षापादकत्वं गुणत्वम्। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ६६)

३. उत्कर्षाधायको रसस्य धर्मो गुणः। (काव्यकौमुदी, पृ० ६२)

होते हैं। छज्जूराम शास्त्री साक्षात् सम्बन्ध से रसोत्कर्षजनक तत्त्व को गुण कहते हैं।[४] 'साक्षात्' कहने से रीति में अतिव्याप्ति नहीं होती क्योंकि वह परम्परया रसोत्कर्षक होती है। श्रीकृष्ण कवि आत्मा में स्थित शौर्यादि धर्मों के समान गुणों को काव्य के अंगीभूत रस के धर्म, रस के उत्कर्ष का हेतु तथा संघटनाश्रित मानते हैं।[५] रसधर्म कहने से व्यभिचारी भावों में अतिव्याप्ति नहीं होती। विश्वनाथ देव भी यही लक्षण करते हैं—रसत्व के साथ समानाधिकरण होने पर जो रस की उत्कृष्टता अथवा उपादेयता का कारण हो उसे गुण कहते हैं।[६] उत्कृष्टता का अर्थ है रत्यादि से युक्त चैतन्य के आनन्दांश पर पड़े हुए आवरण का अच्छी तरह से भंग हो जाना।[७] भूदेव शुक्ल गुण की इन विशेषताओं के अतिरिक्त मम्मट के अचलस्थिति तत्त्व को भी लक्षण में जोड़ देते हैं[८] अर्थात् गुण रस के बिना नहीं रहते। अच्युतराय भी गुण की परिभाषा में तीनों विशेषताओं का सन्निवेश करते हैं—गुण रस के उत्कर्ष हेतु हैं, रस के धर्म हैं और रस के साथ अव्यभिचारी रूप से रहते हैं और उसके उपकारक होते हैं।[९] विद्याराम काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्व को गुण मानते हैं और उनका मत है कि अलंकारयुक्त काव्य भी यदि गुण हीन है तो वह विक्षिप्त होता है।[१०] अतः स्पष्ट है कि उनके अनुसार काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य है और अलंकार की स्थिति अपरिहार्य नहीं है। ब्रह्मानन्द शर्मा के अनुसार काव्य में जो सत्यानुभूति होती है वह चित्तवर्तिनी होती है और यह अनुभूति स्पन्दनरूप होती है। चूंकि चित्त का शरीर के साथ सम्बन्ध है, इसलिए इस स्पन्दन का शरीर (शरीरगत स्नायुमण्डल) पर भी प्रभाव पड़ता है। स्नायुमण्डल की दो अवस्था होती है—शिथिल एवं कठोर। इसी प्रकार इस अवस्था से सम्बद्ध चित्त की भी दो

---

४. साक्षात् रसोत्कर्षजनकत्वे सति शोभाजनकत्वं गुणत्वम्।
(साहित्यबिन्दु, पृ० १२८)

५. ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इव स्थिताः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्यू रचनास्थितयो गुणाः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७५)

६. रसत्वसमानाधिकरणत्वे सति उत्कर्षहेतुत्वं गुणत्वम्।
(साहित्यसुधासिन्धु, पृ० ३१७)

७. उत्कर्षश्च रत्याद्यवच्छिन्नस्य चैतन्यस्य आनन्दांशे आवरणस्य सम्यगुच्छेदः।
(वही, पृ० ३१७)

८. रसोत्कर्षहेतुत्वे सति रसधर्मत्वं तथात्वे सति रसाव्यभिचारिस्थितित्वं वा गुणसामान्यलक्षणम्। (रसविलास, पृ० ५९)

९. रसस्योत्कर्षहेतुत्वे सति तद्धर्मताथवा।
तदेकस्थितितो योगव्यवच्छेदोपकारिता॥ (साहित्यसार, पृ० २८१)

१०. काव्यस्य महनीयत्वाधायकाः सम्मताः गुणाः।
गुणैर्हीनो हि विक्षिप्तः सालंकारोऽपि कथ्यते॥ (रसदीर्घिका, पृ० ६९)

अवस्थायें होती हैं जिसे क्रमश: द्रुति और दीप्ति कहते हैं। स्नायु के शैथिल्य से सम्बद्ध द्रुति माधुर्य गुण तथा स्नायु की कठोरता से सम्बद्ध दीप्ति ओज गुण कहलाती है।[11]

## गुण-भेद

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में दस गुणों—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति—का उल्लेख किया है। दण्डी भी इन्हीं दस गुणों को मानते हैं किन्तु भिन्न लक्षण करते हैं। वामन ने इन गुणों को शब्दगत व अर्थगत मानकर इनकी संख्या दुगुनी कर दी। वाग्भट भी दस गुण ही मानते हैं। अग्निपुराणकार ने उन्नीस गुण—७ शब्दगुण, ६ अर्थगुण और ६ शब्दार्थोभयगुण—माना है। विद्यनाथ एवं भोज गुणों की सर्वाधिक संख्या—चौबीस—मानते हैं। वे भरतोक्त गुणों के अतिरिक्त उदात्तत्व, और्जित्य, प्रेय, सुशब्दत्व, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तर, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि १४ अन्य गुण भी स्वीकार करते हैं तथा इन्हें शब्दगत एवं अर्थगत दोनों ही मानते हैं। जयदेव ने भरतोक्त कान्ति और अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव श्रृंगार और प्रसाद में कर आठ गुण ही माना है। कुन्तक ने ६ गुण - औचित्य एवं सौभाग्य नामक साधारण गुण तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य एवं आभिजात्य नामक विशेष गुण—माने हैं। गुणों की संख्या के विषय में सर्वाधिक मान्य मत भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, हेमचन्द्र जैन, गोस्वामी कर्णपूर, जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों का है। ये आचार्य माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार गुणों की संख्या के विषय में पूर्वाचार्यों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है।

पण्डितराजोत्तर आचार्य गुणों की संख्या के विषय में भिन्न-भिन्न प्राचीन आचार्यों से प्रभावित दिखाई देते हैं तो कुछ आचार्य स्वतन्त्र विभाग भी प्रस्तुत करते हैं। भूदेव शुक्ल और नृसिंह कवि प्रभृति आचार्य भामहोक्त तीन गुणों को मानते हैं तो श्रीकृष्ण कवि भोजराजोक्त चौबीस गुणों की व्याख्या करते हैं। विद्याराम गुणों का स्वतन्त्र विभाजन करते हुए पाँच शब्दगुण तथा चार अर्थ गुण मानते हैं तो अच्युतराय गुणों को द्विविध—अभावरूप तथा भावरूप—मानकर उनके उपभेद करते हैं। आचार्य ने प्रारम्भ में गुण शब्द का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। उन्होंने वहाँ गुण शब्द का प्रयोग सम्भवत: अध्याय के शीर्षक के रूप में किया है और वे ६ गुणों—धर्म, रस, लक्षण, रीति, अलंकार और वृत्ति—का उल्लेख करते हैं। वे इन नवीन पञ्च गुणों का

---

११. सत्ये या तीव्रताप्रोक्ता, सा शरीरेऽपि जायते।
अनयेव कठोरत्वम्, शैथिल्यं तस्य किञ्चन।।
शैथिल्ये द्रुतिश्चित्ते, कठोरत्वे च दीप्तता।
माधुर्यगुण इत्येकः, अन्यश्चोजो गुणो मतः।। (काव्यसत्यालोक, पृ० ६९)

माधुर्यादि गुण से भेद दिखाने के लिए माधुर्यादि को धर्म शब्द से अभिहित करते हैं क्यों कि ये रसधर्म के रूप में मान्य हैं।[१२]

आचार्य विद्याराम भोजराजोक्त २४ शब्दगुणों में से केवल पाँच शब्दगुण स्वीकार करते हैं— संक्षिप्तत्व, उदात्तत्व, प्रसाद, उक्ति और समाधि। इसी प्रकार २४ अर्थगुणों में से केवल चार अर्थगुण ही उन्हें मान्य हैं—भाविकत्व, सुशब्दत्व, पर्यायोक्ति और सुधर्मिता। अन्य शब्दगुण एवं अर्थगुणों को वे इन्हीं में अन्तर्भूत मानते हैं।[१३] किन्तु किन-किन गुणों का अन्तर्भाव किन-गुणों में सम्भव है, यह नहीं दर्शाते। विद्यारामकृत लक्षणों एवं भोजकृत लक्षणों में प्रायः समानता है। भोज जिसे रीति अर्थगुण कहते हैं विद्याराम ने उसे ही पर्यायोक्ति कहा है। विद्यारामकृत गुण निरूपण इस प्रकार है—

१. संक्षिप्तत्व—अल्प शब्दों में अधिक अर्थ का कथन।[१४]
२. उदात्तत्व—श्रेष्ठ विशेषणों से युक्त होना।[१५]
३. प्रसाद—काव्य पठनानन्तर शीघ्र अर्थावबोध होना।[१६]
४. उक्ति तात्पर्यार्थ की प्रतीति कराने वाली भाषण चातुरी।[१७]
५. समाधि—किसी पदार्थ के धर्म को अन्य पदार्थ में आरोपित करना।[१८]
६. भाविकत्व—स्वाभिप्राय का प्रकाशन।[१९]
७. सुशब्दत्व—क्रूर अर्थ को प्रकट करने के लिए भी कोमल शब्द प्रयोग।[२०]
८. पर्यायोक्ति—वस्तु का तत्तत् क्रम से वर्णन करना।[२१]
९. सुधर्मिता—जहाँ विशेषणों के द्वारा विशेष्य का लाभ हो।[२२]

---

१२. धर्मा रसा लक्षणानि रीत्यलंकृतिवृत्तयः।
रसिकाह्लादका ह्येते काव्ये सन्ति च षड्गुणाः॥ (साहित्यसार, पृ० ८)

१३. सामान्यतो गुणाः प्रोक्ताः द्वेधा शब्दार्थयोः स्थिताः।
संक्षिप्तत्वमुदात्तत्वं प्रसादोक्तिसमाधयः।
अत्रैवान्यसमावेशात् पञ्च शब्दगुणाः स्मृताः॥
भाविकत्वं सुशब्दत्वं पर्यायोक्तिः सुधर्मिता।
चत्वारोऽर्थगुणाः प्रोक्ताः परे त्वत्रैव संगताः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ६६-६७)

१४. संक्षिप्तत्वं तु भूयोऽर्थकथनं स्वल्पवर्णतः। (वही, पृ० ६६)

१५. विशेषणानां तु यत् श्रैष्ठ्यमुदात्तत्वं तु तत्स्मृतम्। (वही, पृ० ६६)

१६. प्रसादो यत्र पठनादर्थः स्फुरति तत्क्षणात्। (वही, पृ० ६६)

१७. उक्तिर्भाषणचातुर्यं तात्पर्यार्थावबोधकम्। (वही, पृ० ६६)

१८. समाधिश्चान्यधर्माणामन्यत्रारोपणं स्मृतः। (वही, पृ० ६६)

१९. भाविकत्वं स्वयं दोत्यं स्वाभिप्रायप्रकाशकम्। (वही, पृ० ६७)

२०. सुशब्दत्वं तु तज्ज्ञेयं क्रूरेऽर्थे क्रूरशब्दता। (वही, पृ० ६७)

२१. पर्यायोक्तिस्तु सा तत्तत्क्रमाख्यानं हि वस्तुनः। (वही, पृ० ६७)

२२. सुधर्मिता विशेष्यस्य लाभो यत्र विशेषणैः। (वही, पृ० ६७)

श्रीकृष्ण कवि भोजराजोक्त नव गुणों—गाम्भीर्य, विस्तर, सौक्ष्म्य, अर्थव्यक्ति, प्रौढि, उक्ति, समाधि, प्रेय और संक्षेप—को अर्थगत तथा अवशिष्ट पन्द्रह गुणों—ओज, माधुर्य, प्रसाद, श्लेष, समता, सौकुमार्य, सौशब्द्य, भाविक, गति, उदार, कान्ति, उदात्तता, रीति और संमितत्व—को शब्दगत कहते हैं।[२३] श्रीकृष्ण कवि के अनुसार कुछ आचार्य भोजोक्त चौबीस गुणों में से सात गुणों—ओज, प्रौढि, उदार, माधुर्य, भावुक, गति और संक्षेप—को ही भावरूप होने के कारण गुण मानते हैं तथा अन्य सत्रह गुणों को दोषाभावरूप होने के कारण गुण नहीं स्वीकार करते।[२४] नृसिंह कवि इन सात गुणों के अतिरिक्त श्लेष, सौक्ष्म्य, विस्तर, समाधि और गम्भीर्य—इन पांच गुणों को भी भावरूप मानकर अवशिष्ट बारह गुणों को दोषनिवारक ही बताते हैं।

अच्युतराय सरस्वतीकण्ठाभरण के आधार पर गुण को द्विविध दोषाभावरूप और माधुर्यादिभावरूप—मानते हैं।[२५] भोज ने गुण को त्रिविध माना है—बाह्य (शब्दगुण), आभ्यन्तर (अर्थगुण) और वैशेषिक (दोष होने पर भी जो गुण हो)।[२६] मम्मटप्रभृति आचार्य दोष को द्विविध स्वीकार करते हैं — नित्य और अनित्य। जो दोष सदैव दोष रूप में ही रहते हैं अर्थात् सदा रसापकर्षक होते है, वे नित्य कहलाते हैं और जो दोष सर्वत्र दोष न हों अपितु कहीं गुण हो जाते हैं, वे अनित्य दोष कहलाते हैं। मम्मट इत्यादि इसका निरूपण दोषापवाद रूप में ही करते हैं, गुण प्रकरण में नहीं किन्तु अच्युतराय, भोजराज की भाँति इनका विवेचन गुण प्रकरण में करते हैं।

अच्युत राय दोषाभावरूप के गुणत्व को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार गवादि के द्वारा लोमादिनिराकरणरूप दुग्धभिन्न वस्तु का अभावरूप शुद्धि मान्य है उसी प्रकार दोषाभावरूप काव्य की गुणयुक्तता भी सम्भव है। इसके बाद

---

२३. गाम्भीर्यं विस्तरः सौक्ष्म्यमर्थव्यक्तिस्तथैव च।
प्रौढिरुक्तिः समाधिश्च प्रेयः संक्षेप इत्यपि।
एवं नव गुणा आर्था अन्ये शब्दगुणा मताः॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७६)

२४. ओजः प्रौढिरुदारत्वं माधुर्यं भावुकं गतिः।
संक्षेपश्चेति सप्तैते गुणाः स्यू रचनास्थिताः॥ (वही, पृ० १७६)

२५. गुणो हि द्विविधो दोषाभावात्मा प्रथमो मतः।
माधुर्यादिर्द्वितीयश्च क्षीरे शुद्धिसितादिवत्॥
(साहित्यसार, पृ० २७८)

२६. त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ८२)

शर्करादिमिश्रण भावरूप द्वितीयकोटिक गुण प्रसिद्ध ही हैं।[२७] आचार्य आगे दोषाभावरूप प्रथम भेद के पुनः दो भेद करता है– मुख्य और गौण।[२८] सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होना मुख्य तथा ईषद्दोषयुक्त होने पर भी निर्दोष प्रतीत होना गौण कहलाता है, यह अपवादरूप होता है।[२९] इस अपवादभेद के दो रूप हो सकते हैं — विहित (उत्सर्ग) का निषेध करना और निषिद्ध पदार्थ का विधान करना।[३०] इनके पुनः तीन प्रकार किये जा सकते है— (१) दोष को गुण बना देना, (२) दोष का निवारण, और (३) गुणादि का उपाय होने के कारण अत्याज्य।[३१] इन तीनों को क्रमशः लौकिक दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हुच अच्युतराय कहते हैं कि (१) जिस प्रकार दुर्गन्ध हिंगु आदि भी दध्यादि में सुगन्ध प्रतीत होता है, उसी प्रकार काव्यादि में दोष भी किञ्चिद् अवच्छेद से गुण हो जाते हैं। (२) सुगौरांगी के शरीर पर जिस प्रकार नील वस्त्र उसका गुणाधिक्य नहीं करते किन्तु नीलावच्छेद से स्वकृष्णता दोष ही दूर करते हैं उसी प्रकार काव्यादि में किञ्चिदवच्छेद से दोषत्वमात्र निराकरण करने से आपवादिक दोषाभावात्मकरूप गुण हुए, और (३) जिस प्रकार जिह्वास्फोटजनक दुष्ट चूना खदिरादि के संयोग से अधरादि में रागाधिक्यरूप गुण का उपाय होने के कारण अत्याज्य है और मलिन दुष्ट कज्जल नयन में काष्ण्याधिक्य गुण उत्पन्न करने के कारण अहेय है, उसी प्रकार काव्यादि में भी कभी-कभी दोष गुणादि का उपाय होने के कारण अत्याज्य होते हैं।[३२] जयदेव

---

२७. यथा गवादेः क्षीरस्य वस्त्रादिना तल्लोमादिनिराकरण लक्षणा तदितरवस्त्वभावरूपा शुद्धिः प्रथमो गुणस्तावत्सुप्रसिद्ध एव तद्वत्प्रकृतोऽपि ज्ञेय इत्यर्थः। एवं यत्र यथा तदुत्तरं सिताशब्दितशर्करादिसंमेलनलक्षणो भावरूपो द्वितीयो गुणस्तद्वदयमपि इति यावत्। तस्मादभावरूपोऽपि गुणः सुप्रसिद्ध एवेति भावः।
(वही, पृ० २७८)

२८. आद्यः पुनर्द्विधा ज्ञेयो मुख्यगौणत्वभेदतः।
मुख्यः प्रसिद्ध एवास्ति गौणः स्यादपवादतः॥

२९. मुख्यत्वं निरुक्तदोषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्। गौणत्वं किञ्चिदवच्छेदेन तत्सत्त्वेऽपि तत्समानधमकत्वम्॥
(वही, पृ० २७८)

३०. स तु किञ्चिदवच्छेदाद्विहितस्य निषेधनम्।
विधि र्वा प्राङ् निषिद्धस्येत्येवं द्विविध उच्यते॥
(वही, पृ० २७८)

३१. गुणत्वकरणाद्दोषे दोषत्वस्य निवारणात्।
गुणाद्यौपायिकत्वेनात्याज्यत्वाच्च पुनस्त्रिधा॥
(वही, पृ० २७९)

३२. पूतगन्धिस्तु हिङ्ग्वादिर्दध्यादौ सुरभिर्यथा।
नीलं चेलं सुगौराङ्ग्यां ताम्बूलादौ सुधाप्यपि॥ (वही, पृ० २७९)

ने भी इन तीन परिस्थितियों में दोष को गुण स्वीकार किया है।[३३] वे ग्राम्य, विरुद्ध और निरर्थक दोषों के गुणत्व (दोषांकुशत्व) का ही विवेचन करते हैं।

अच्युतराय ने दोषाभावरूप गुण का सविस्तर निवेचन किया है। उन्होंने काव्यप्रकाश-साहित्यदर्पण-सरस्वतीकण्ठाभरणोक्त दोषापवादों के अतिरिक्त भी अन्य दोषापवादरूप गुण का उल्लेख किया है। वे प्रत्येक दोष—शाब्द, आर्थ और रस—को लेकर स्थल विशेष में उसकी सोदाहरण गुणता प्रतिपादित करते हैं।

**वर्णदोषापवादरूप गुण**—श्रुतिकटुत्व दोष वीर, रौद्र और बीभत्सरस में गुण होता है। इसी प्रकार उचितार्थ, रसहीन चित्रकाव्य, अनुकरण, प्रकरण, देश, कालादि, वक्ता, श्रोता और वैयाकरण स्थल में भी श्रुतिकटु वर्ण गुण होता है।[३४]

**पददोषापवादरूपगुण**—अप्रयुक्तदोष यमकादि अलंकार और अनुकरण (परोक्त का अनुवाद) में गुण हो जाता है।[३५] मम्मट एवं विश्वनाथ अप्रयुक्तत्व दोष का मात्र श्लेषादि अलंकार में तथा भोजराज मात्र अनुकरण में अदोषत्व का उल्लेख करते हैं। निहतार्थ[३६] एवं निरर्थक[३७] दोष श्लेष अलंकार में गुण होता है। मम्मट एवं विश्वनाथ ने निरर्थक दोष के गुणत्व का उल्लेख नहीं किया है। भोजराज अनर्थक दोष को यमकादि में गुण मानते हैं। व्रीडा, जुगुप्सा और अमङ्गल, रूप त्रिविध अश्लीलत्व दोष क्रमशः कामशास्त्र, शान्त्युपोद्घात और भावी मंगलसूचक स्थल में गुण हो जाता है।[३८] इसी प्रकार ब्रह्माण्ड, भगिनी, शम्भुलिङ्ग, भगवती इत्यादि पद पण्डितों द्वारा अश्लीलार्थक नहीं माने जाते।[३९] यदि सन्देह ही प्रतिपाद्य हो अथवा वाच्य, प्रकरण, लिङ्गादि से निश्चय ज्ञात हो तो वहाँ सन्दिग्धत्व दोष भी गुण होता है।[४०] यदि शास्त्रज्ञ ही वक्ता

---

३३. दोषे गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति।
भवन्तमथ वा दोषं नयत्ययाज्यतोमसी॥ (चन्द्रालोक, पृ० २५)

३४. वीरे रौद्रे च बीभत्से वर्णः श्रुतिकटुर्गुणः।
अर्थौचित्यग्सत्वानुकृतिप्रकरणानिः
वक्त्राकर्णयतोः शाब्दिकस्वस्याप्युपलक्षणम॥ (साहित्यसार, पृ० २८०, २८२)

३५. गुणोऽप्रयुक्तमप्यत्र यमकाद्यनुकारयोः। (वही, पृ० २८२)

३६. निहतार्थमपि ज्ञानां श्लेषादिषु गुणो मतः। (वही, पृ० २८३)

३७. निरर्थकमपि श्लेषे चन्द्रालोकमते गुणः। (वही, पृ० २८४)

३८. व्रीडादित्रिविधाश्लीलं कामशास्त्रस्थितौ क्रमात्।
गुणः स्याच्छान्त्युपोद्घाते भव्यमङ्गलसूचने॥ (वही, पृ० २८४)

३९. ब्रह्माण्डभगिनीशम्भुलिङ्गादिकपदेषु तु।
नासभ्यार्थोऽत्र सभ्यानां तथोपस्थितिरेव नो॥ (वही, पृ० २८५)

४०. गुणः सन्दिग्धमप्यस्ति सन्देहोद्देश्यता यदि।
वाच्यप्रकरणादिभ्यां निर्णयोऽवगतो तथा॥ (वही, पृ० २८६)

अथवा बोद्धा हो तो अप्रतीत दोष भी गुण हो जाता है।[४१] विदूषक, प्रहसनादियोग्य पाषण्ड-तापस इत्यादि अधम वक्ता के होने पर ग्राम्यत्व दोष भी गुण होता है।[४२] प्रहेलिकादि और मत्त पुरुष के कथनादि में विलम्ब प्रतीति इष्ट होती है। अतः इनमें क्लिष्ट दोष भी गुण होता है।[४३] यदि विरुद्धार्थ विवक्षित हो तो विरुद्धमतिकृद् दोष भी गुण होता है।[४४] प्रतापरुद्रीयोक्त परुष नामक दोष भी वीरादि रस में गुण हो जाता है।[४५] जयदेव सम्मत अन्यसंगत दोष भी प्रमादयुक्त व्यक्ति के कथन में गुण हो जाता है।[४६]

**वाक्यदोषापवाद** —उपर्युक्त १३ पददोषापवादों में से निरर्थक दोषापवाद को छोड़कर अवशिष्ट १२ दोषापवाद वाक्यगत भी होते हैं।[४७]

**पदैकदेशदोषापवाद**—अवाचक और नेयार्थ इन दो नित्य दोषों को छोड़कर अवशिष्ट निहतार्थ, निरर्थक, त्रिधा अश्लील, सन्दिग्ध ये ६ दोषापवाद पदांशगत भी होते हैं।[४८]

**नैसर्गिक वाक्यदोषापवाद**—यदि किसी स्थल में आक्षेप से पदलाभ हो जाय तो न्यूनपदत्व भी गुण हो जाता है।[४९] अधिकपद दोष हर्ष शोकादि के होने पर गुण हो जाता है।[५०] कथितपदत्व दोष अनुप्रासादि अलंकार से युक्त होने पर गुण होता है।[५१] आचार्य मम्मट लाटानुप्रास के अतिरिक्त अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि एवं विहित का अनुवाद स्थल में भी गुणत्व स्वीकार करते हैं। कविराज विश्वनाथ विषाद, विस्मय, क्रोध, दीनता, अनुकम्पा, प्रसादन, हर्ष और अवधारण में भी कथितपद को गुण मानते हैं। पतत्प्रकर्ष दोष रसानुकूल होने पर गुण हो जाता है।[५२] समाप्तपुनरात्त दोष वाक्यान्तर

---

४१. गुणत्वमप्रतीतेऽपि तत्तज्ज्ञो वोच्यते यदि। (वहीं, पृ० २८८)
४२. विदूषकादि वक्ताधमो ग्राम्यं गुणस्तदा। (वही, पृ० २८८)
४३. प्रहेलिकादौ मत्तोक्त्यादौ च क्लिष्टं गुणो भवेत्। (वही, पृ० २८९)
४४. विरुद्धोऽर्थोऽप्यभीष्टश्चेद्विरुद्धमतिकृद् गुणः। (वही, पृ० २९०)
४५. प्रतापरुद्रपारुष्यमपि वीरादिके स्थले।
पूर्वोक्ते गुणतां याति श्रुतिकद्वक्षरोपमम्॥ (वही, पृ० २९०)
४६. अन्यसंगतमप्यत्र गुणो वाचि प्रमादिनः। (वही, पृ० २९१)
४७. निरर्थकं व्युदस्यैते प्रयुक्ताद्यास्त्रयोदश।
वाक्यदोषेष्वपि ज्ञेया अपवादा दिशानया॥ (वही, पृ० २९१)
४८. अवाचकं च नेयार्थं नित्यदोषद्वयं विना।
पदैकदेशदोषेष्वप्येते प्रोह्याः सुबुद्धिभिः॥ (वही, पृ० २९१)
४९. आक्षेपात्पदलाभश्चेद् गुणो न्यूनपदं भवेत्। (वही, पृ० २९१)
५०. गुणोऽधिकपदं चापि व्यंग्ये हर्षादिके सति। (वही, पृ० २९२)
५१. संप्रोक्तपदमप्यत्र गुणोऽनुप्रासनादिना। (वही, पृ० २९२)
५२. पतत्प्रकर्षमप्यत्र रसानुगुणतो गुणः। (वही, पृ० २९३)

के उदय होने पर गुण होता है।[53] मम्मट एवं विश्वनाथ का मत है कि यह दोष कहीं न दोष होता है और न गुण। यदि अर्थ से कर्त्ता, क्रिया कर्मादि का लाभ न हो तो अर्थान्तरैकवाचक दोष भी गुण हो जाता है।[54] अर्थप्रतीति विच्छिन्न न होने पर गर्भित दोषभी गुण होता है।[55] यदि वाक्य समस्त पद हो तो भिन्नलिङ्गोपम दोष भी गुण हो जाता है।[56] अर्थ से क्रिया लाभ हो जाने पर अशरीर दोष भी गुण होता है।[57] अनुकूल रस के होने पर शैथिल्य (श्लेष-गुणाभाव), वैषम्य (समता गुणाभाव) और कठोरत्व (सौकुमार्य-गुणाभाव) ये तीन प्रकार के अरीतिमद् दोष भी गुण हो जाते हैं।[58] शान्तादि मधुर रस में शैथिल्य दोष, ओजस्वी रसों में कठोरत्व दोष गुण होता है। इसी प्रकार रसभेद से वैषम्य दोष भी गुण होता है। जडभरतादि के वाक्य में प्रयुक्त होने पर सम्बन्धवर्जित दोष गुण हो जाता है।[59]

अच्युतराय ने यहाँ तक ४६ शब्ददोषापवादों (वर्णगत १, पदगत १३, आतिदेशिक वाक्यगत १२, पदैकदेशगत ६, वाक्यगत १४) का विवेचन किया। वे शब्दगत ९८ दोषों का उल्लेख करते हैं। उनका कहना है कि अवशिष्ट ५२ नित्य दोष हैं, उनका अवश्य परित्याग होना चाहिये।

**आर्थदोषापवादरूप गुण**—अनुप्रास, यमकादि अलंकार में अपुष्टार्थ दोष भी गुण हो जाता है।[60] वैयाकरण के वक्ता होने पर कष्टत्व दोष गुण होता है।[61] पदार्थ और वाक्यार्थ यदि किसी प्रयोजनवश पुनरूक्त हों तो पुनरुक्तत्व दोष भी गुण हो जाता है।[62]

कर्णावतंस, मुक्ताहार, पुष्पमाला और करिवृहितादि स्थलों में कर्णादि पदार्थ के अप्रयोजक और अवतंसपदलभ्य होने के कारण अपुष्टत्व दोष है अथवा अवतंसपद के द्वारा प्रतिपत्ति होने पर भी पुनः कर्ण शब्द का प्रयोग होने से पुनरूक्तार्थत्व दोष है? अच्युतराय इनका समाधान करते हुए कहते हैं कि यद्यपि अवतंस पद से कर्णाभरण अर्थ की प्रतीति होने से कर्ण पद अपुष्ट अथवा पुनरुक्त है किन्तु कहीं 'कर्णे अवतंसः' तो कहीं लक्षणादि से 'कर्णे स्थितित्वम्' व्युत्पत्तियों के द्वारा शोभातिशयादिरूप अधिक

---

५३. समाप्तपुनरात्तं स्याद् गुणो वाक्यान्तरोदये। (वही, पृ० २९३)
५४. कर्त्रादिलाभोऽर्थान्नो चेद् गुणोऽर्थाऽन्तरगैकवाक्। (वही, पृ० २९४)
५५. प्रतीतिश्चेन्न विच्छिद्येद् गुणो गर्भितमप्यलम्। (वही)
५६. समासश्चेद् गुणत्वं स्याद् भिन्नलिङ्गोपमेऽपि च। (वही)
५७. गुणेऽशरीरमप्यर्थात्क्रियाप्तौ। (वही)
५८- अरीतिमत्त्रिधापि स्याद् गुणस्तत्तद्रसो यदि। (वही)
५९. विदेहावस्थवाक्यादौ गुणः सम्बन्धवर्जितम्। (वही, पृ० २९७)
६०. यमकादावपुष्टार्थोऽप्युपैति गुणतामिह। (वही, पृ० २९७)
६१. स्ववैयाकरणत्वस्य व्यापके चापि वक्तरि।
गुणः कष्टोऽपि——— ———॥ (वही, पृ० २९८)
६२. गुणः स्यात्पुनरुक्तोऽपि पदार्थादिः प्रयोजने। (वही, पृ० २९८)

विवक्षितार्थ की प्रतीति होने के कारण अदोष है। इसी प्रकार 'मुक्ताहार' पद में हार पद मुक्तासन्दर्भ में शक्त होने पर भी मुक्ता शब्द व्यर्थ नहीं है क्योकि जहल्लक्षणा के द्वारा अमिश्रत्व अथात् हीरकपद्मरागादि रत्नान्तरों से अशबलित अर्थ में ही शक्त है तथापि लक्षणा के द्वारा हेतु (उपदानादिकारण) में उत्कर्ष (भूरिसौरभ) की प्रतीति कराने के कारण पुष्प शब्द अपुष्टार्थ नहीं है।[६३]

अच्युतराय ने उपर्युक्त समाधान वामन, मम्मटप्रभृति प्राचीन आचार्य सम्मत प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार यह समाधान अत्यादरणीय नहीं है क्योंकि कर्णावतंसादि भिन्न-भिन्न पदो के लिये एक युक्ति न होने के कारण अनियतापत्ति व कल्पनागौरवग्रस्त है। अतः अच्युतराय दूसरा समाधान—सौरालोक प्रदीप दृष्टान्त—प्रस्तुत करते हैं जो सहज एवं सुग्राह्य है। उनका कहना है कि जिस प्रकार दीपक स्वभासक तथा परभासक होने पर भी अपनी अपेक्षा बलवद्भासक सूर्यप्रकाश के होने पर स्वमात्रभासक हो जाता है, उसी प्रकार विशिष्टवाचक शब्द में जिस विशेषण की प्रतीति वह कराता है उस विशेषण शब्द के उपस्थित होने पर वह विशेष्यमात्र वाचक हो जाता है। यथा करिबृंहित पद में बृंहित का वाच्यार्थ हैं करिगर्जित किन्तु विशेषणभूत करिपद के विद्यमान होने से बृंहित पद करिसम्बन्धित्वरूप विशेषणशून्य गर्जित विशेष्यमात्र का वाचक हो जाता है।[६४]

नैयायिकों ने भी जहल्लक्षणासाध्य विशिष्टवाचक पदों का विशेषण समवधान होने पर विशेष्यमात्रवाचकरूप नियम माना है। किन्तु यह काव्यार्थपरिपोषकत्वाभाव दोष से ग्रस्त होने के कारण अनादरणीय है। नैयायिकमत से कर्णावतंसादि पदगत नायिकासौन्दर्यादि व्यंग्यार्थ का बोध असम्भव है। अतः अच्युतराय प्रदत्त आलंकारिकमत उपयुक्त है। नैयायिक मत से साम्य होने पर भी यहां व्यंग्यार्थ की प्रतीति कैसे होती है, यह बताते हुए अच्युतराय कहते हैं कि जिस प्रकार पटादि से अवरुद्ध होने पर भी कस्तूरी प्रचुर सौरभ उत्पन्न करती है उसी प्रकार सविशेषण विशिष्ट वाचक शब्द रुद्ध-शक्तिकत्व होने पर भी अलौकिकार्थ व्यञ्जक होता है।[६५] इस प्रकार कर्णावतंसादि पद में जो-जो नायिकासौन्दर्यादि काव्याद्यभिप्रेत अर्थ हैं वे सभी शक्तिमूलानुगत व्यञ्जना-वृत्ति मात्र से ही सिद्ध होते हैं।

---

६३. कर्णवतंस इत्यादि व्युत्पत्त्या तत्स्थता क्वचित्।
मुक्ताहारे त्वमिश्रत्वं लक्षणातोऽवबोध्यते ॥
हेतुषूत्कर्षः एवेष्टः पुष्पमालाद्युदाहृतौ ॥ (वही, पृ०२९९)

६४. स्वपरोद्भासकस्यापि बलवद्भासके सति।
स्वमात्रभासकत्वं स्यात्सौरालोके प्रदीपवत् ॥
विशिष्टवाचके शब्दे तद्वत् सति विशेषणे।
विशेष्यमात्रवाचित्वं करिबृंहितवद्बुधो ॥ (वही, पृ० ३०२)

६५. व्यञ्जनं तु ततो रुद्धात्सामर्थ्यात्स्यादलौकिकम्।
तत्तदर्थस्य कस्तूर्याः संरोधात्सौरभोपमम् ॥ (वही, पृ० ३०२)

विशिष्टवाचक शब्द का विशेषण बाध से विशेष्यमात्रवाचित्व का उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद अच्युतराय विशेष्यमात्रवाचित्व स्थल भी दिखाते हैं। विशेष्य के विधि और निषेध का बाध होने पर 'पुत्री आस', 'शिखी ध्वस्त:' इत्यादि वाक्यों में विशेषण-वाचकत्व ही होता है।[६६] यहाँ विशेष्य में देवदत्तपुत्र और शिखारूप विशेषण अवच्छेद से प्रवृत्त जनन और ध्वंसात्मक विधि-निषेध का प्रत्यक्षादि के द्वारा बाध होने के कारण विशेषणमात्र वाचिकत्व है। अच्युतराय प्राचीन आलंकारिकों द्वारा मान्य करिबृंहित, पुत्री जात:, शिखी ध्वस्त:, अयं कोकिल: कलगी: इत्यादि उदाहरणों में कारण के उत्कर्ष-ध्वनन का स्वल्प फल भी नहीं मानते।[६७] उनके अनुसार रघुवंशपद्य · 'कुम्भपूरणभव: पटुरुच्चैरुच्चचार··· ···द्विरदबृंहितशंकी शब्दपातिनमिषुं विससर्ज में पिता अज को जिस प्रकार गजवध से लाभ हुआ उसी प्रकार मुझ दशरथ का भी हो। अत: यहाँ गज-हनन में दशरथ की प्रवृत्ति की सूचना ही फल है। इसी प्रकार 'पुत्री जात:' में मनुष्य-लोकविजय ही फल है जैसा कि श्रुति कहती है—'सोऽयं मनुष्यलोक: पुत्रेणैव जय्य।'[६८] अच्युतराय भी वामन, मम्मट की भाँति यह समाधान महाकवि प्रयुक्त शब्दों के लिए ही मानते हैं। आधुनिक स्वेच्छया विरचित प्रयोगान्तर यथा कर्णावतंस के सदृश जघन-काञ्ची और करिकलभ के सदृश उष्ट्रकलभ इत्यादि मान्य नहीं हैं।[६९]

वामन आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए अच्युतराय कहते हैं कि यदि विशेष्य विशेषणभूत हो जाय तो अपुष्ट अर्थ भी गुण रूप में स्वीकार्य है। हास्य रस और नीच स्त्री-पुरुषों के सुरतवार्तावर्णन में ग्राम्य दोष भी गुण होता है।[७०] यदि सन्देहोद्देश्यता ही अभीष्ट हो तो सन्दिग्धत्व दोष भी गुण हो जाता है।[७१] प्रसिद्धिवश प्रत्यक्षादि प्रमाणों से हेतु लाभ होने पर निर्हेतु दोष भी गुण होता है।[७२] उत्पातसूचक स्थल में

---

६६. एवं क्वचिद्विशेष्येऽपि बाधे विधिनिषेधयो:।
विशेषणैकवाचित्वं पुत्रासेत्यादिवाक्ययो: ॥ (वही, पृ० ३०३)

६७. गजे व गर्जिते किञ्चिन्न हेतूत्कर्षत: फलम्।
पुत्री जात: शिखी ध्वस्त इत्यादावपि दृश्यते ॥ (वही, पृ० ३०३)

६८. मद्रीत्या तु रघौ पित्राहतेभाप्तास्त्रसंस्मृते:।
निषिद्धेऽपि च लोभेन प्रवृत्तिद्योतनं फलम् ॥
मनुष्यलोकविजयो जीवन्मुक्तत्वयोग्यता।
पुत्री जात: शिखी ध्वस्त इत्यादावपि क्रमात् ॥ (वही, पृ० ३०४-५)

६९. महाकविप्रयुक्तेषु शब्देष्वेवैष निर्णय:।
न तु स्वेच्छाप्रयुक्तेष्वप्यंघ्रिमञ्जीरशब्दवत् ॥ (वही, पृ० ३०५)

७०. ग्राम्योऽपि गुणतामेति हास्ये च मणिनेऽधमे। (वही, पृ० ३०६)

७१. सन्दिग्धोऽपि गुण: सन्देहस्यैवोद्देश्यता यदि। (वही, पृ० ३०६)

७२. गुणो निर्हेतुरप्यत्र हेतोर्लाभे प्रसिद्धित:। (वही, पृ० ३०७)

कविसमयविरुद्ध दोष भी गुण हो जाता है।[७३] प्रकरण, लिंगादि के होने पर विशेष-परिवृत्त दोष भी गुण होता है।[७४] यदि वक्ता उन्मादी हो तो अयुक्तानुवाद दोष भी गुण हो जाता है।[७५] इसी प्रकार शब्दगत अश्लील दोष की भाँति अश्लील अर्थ भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है।[७६]

**रसदोषापवादरूप गुण** --अच्युतराय ने मम्मटोक्त रसदोषापवादों की ही चर्चा की है। यदि अनुभाव के द्वारा निश्चितरूप से रस ज्ञान न हो तो सञ्चारी भाव की स्वशब्दावाच्यता दोष नहीं होती।[७७] प्रकृत रस के विपरीत सञ्चारीभाव[७८] एवं विभाव[७९] का बाध्यत्वेन कथन करना गुण होता है। अच्युतराय ने अनुभाव के बाध्यत्वेन कथन का गुणत्व प्रतिपादित नहीं किया जब कि मम्मटप्रभृति आचार्य उसका भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'रसो वै सः' श्रुति के अनुसार रस तो अद्वैत सच्चिदानन्दरूप है, तब द्वितीय का अभाव होने से विरोध की शंका व्यर्थ है। अच्युतराय रस-विरोध का तात्पर्य बताते हुए कहते हैं कि रसपद से अजहत्स्वार्था लक्षणा के द्वारा रसावच्छिन्न स्थायीभाव इष्ट है[८०] अर्थात् रस-विरोध का अर्थ है परस्पर प्रतिकूल रति, निर्वेदादि।

सामानाधिकरण्य रसदोष अधिकरण भेद से गुण हो जाता है।[८१] दो विरुद्ध रसों के मध्य अविरोधी रसान्तर के होने पर नैरन्तर्य दोष भी गुणावह हो जाता है।[८२] यदि विरोधी रसों का स्मरण के रूप में वर्णन किया जाय तो दोष नहीं होता।[८३] दो विरुद्ध रसों के अंगीरस का साक्षात् अंग होने पर गुणत्व आ जाता है।[८४] यदि एक साक्षात् अंग

---

७३. औत्पातिके कवेः संविद्विरुद्धोऽपि भवेद् गुणः। (वही, पृ० ३०७)
७४. विशेषपरिवृत्तोऽपि गुणः प्रकरणादि चेत्। (वही, पृ० ३०८)
७५. गुणो युक्तानुवादोऽपि वक्तोन्मादी भवेद्यदि। (वही, पृ० ३०८)
७६. क्वचिदायाति गुणतामश्लीलोऽर्थोऽपि शब्दवत्। (वही, पृ० ३०८)
७७. सत्यन्यरससामान्येऽनुभावे स्वपदेरितः।
सञ्चारी नैव दोषः······· ············॥ (वही, पृ० ३०८)
७८. विरुद्धोऽपि च सञ्चारी बाध्यश्चेद् गुणतामियात्। (वही, पृ० ३०८)
७९. तादृशस्तु विभावोऽपि। (वही, पृ० ३१०)
८०. रसशब्देन तत्स्थायिभाव एव विवक्षितः। (वही, पृ० ३१०)
८१ तद्वैयधिकरण्येन तयोराद्यो भवेद् गुणः। (वही, पृ० ३११)
८२. अन्त्योऽपि मध्ये यदि चेदविरोधि रसान्तरम्। (वही, पृ० ३१२)
८३. स्मृतिं यातो विरोद्धोऽपि रसो नो दोषतामियात्। (वही, पृ० ३१३)
८४. साक्षादंगत्वमापन्नौ विरुद्धावपि तौ गुणः। (वही, पृ० ३१३)

हो और दूसरा परम्परा सम्बन्ध से अंग हो तो भी गुण हो जाता है।[८५] विरुद्ध रसों में कविसम्मत साधर्म्य होने पर विरुद्ध रस भी गुण होता है।[८६]

अनुकरण में तथा रसाविष्ट वक्ता के होने पर सभी दोष गुण हो जाते हैं।[८७] जहाँ पर न रस हो और न वक्ता, बोद्धा आदि का औचित्य हो वहाँ अच्युतसंस्कारत्व इत्यादि न दोष होते हैं और न गुण।[८८]

अच्युतराय इन समस्त दोषापवादों को पूर्वकथित तीन प्रकारों में विभाजित करते हैं—(१) दोष का गुणत्व—वर्णगत श्रुतिकटुत्व, पदगत ग्राम्य, क्लिष्ट व परुष तथा वाक्यगत ग्राम्य, क्लिष्ट व परुष और अर्थगत ग्राम्य व अयुक्तानुवाद।[८९] (२) दोष का निवारण—पदगत त्रिधा अश्लील, सदिग्ध और अप्रतीत; वाक्यगत त्रिधा अश्लील व सन्दिग्ध; शुद्धवाक्यगत न्यूनपद, अधिकपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, अर्धान्तरैकवाचकत्व, गर्भित, भिन्नलिंगोपम, अशरीर; अर्थगत सन्दिग्ध, निर्हेतु, कविसमयविरुद्ध, विशेषपरिवृत्त तथा अश्लील।[९०] (३) गुणादि का उपाय होने के कारण अत्याज्यत्व—पदगत अप्रयुक्त, निहतार्थ, निरर्थक, विरुद्धमतिकृत् व अन्यसंगत; पदैकदेशगत निहतार्थ व निरर्थक; शुद्धवाक्यगत त्रिधा अरीतिमत् व सम्बन्धवर्जित; अर्थगत अपुष्ट,

---

८५. अंगस्यांगतयापि स्तो विरुद्धावपि तौ तथा। (वही. पृ० ३१४)

८६. कवेः साम्यविवक्षायां विरुद्धोऽपि रसो गुणः। (वही, पृ० ३१४)

८७. अनुकारे तु सर्वेऽपि दोषास्ते गुणतां गताः।
तथा वक्ता रसाविष्टचेताश्चेदित्यपीतरे॥ (वही, पृ० ३१६)

८८. न रसो नापि वक्त्रादेरौचित्यादि च यत्र तत्।
ते सर्वे च्युतसंस्कारा नो दोषा नो गुणा अपि। (वही, पृ० ३१७)

८९. गुणत्वकरणं दोषं वर्णे श्रुतिकटौ पदे।
ग्राम्ये क्लिष्टे च परुषे वाक्ये चापि हि तादृशे॥
अर्थे ग्राम्ये तथायुक्तानुवादे चेति खेटगम्। (वही, पृ० ३१८)

९०. एवं दोषेऽपि तत्त्वैकनिवारणमथो पदे।
त्रिधा अश्लीले च सन्दिग्धेऽप्यप्रतीते तथैव च।
वाक्ये तादृशे तस्यैकदेशेऽनप्रतीतके॥
शुद्धे वाक्ये न्यूनपदे तथाधिकपदेऽपि च।
शब्दार्थोक्तपदे स्रंस्यत्प्रकर्षे पुरितात्तके।
अर्धान्तरगर्भितेऽन्यलिंगेऽशरीरके।
तथार्थे चापि सान्दग्धे निर्हेतौ काव्यसंमते।
विशेषपरिवृत्ते चाश्लीलेऽपीत्यङ्कदृङ् मितम्॥ (वही, पृ० ३१८)

कष्ट व पदार्थ-वाक्यार्थ पुनरुक्त; रसगत स्वपदवाच्यसंचारी व बाध्यविभावक।[९१] यहाँ तक आचार्य ५९ दोषापवादों का विषय-विभाग प्रदर्शित करने के पश्चात् अवशिष्ट १० दोषापवादों का भी विषय-विभाग प्रस्तुत करते हैं। दो अंगभूत रसों के साक्षात् विरुद्धत्व तथा परम्परा सम्बन्ध से विरुद्धत्व और अनुकरणरूप ये तीन दोषापवाद दोष में गुणत्व के उत्पादक हैं। रस का सामानाधिकरण्य व नैरन्तर्य से विरोध तथा गुण-दोषरहितत्व ये तीन दोषापवाद दोषनिवारणमात्र रूप हैं। बाध्यविरुद्धसञ्चारी, स्मृतविरुद्धसञ्चारी, कविसम्मतसाम्यत्व तथा रसाविष्ट वक्ता ये चार दोषापवाद गुणादि का उपाय होने के कारण अत्याज्यहैं।[९२]

भाव रूप द्वितीय कोटि में माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण माने गये हैं।

**माधुर्य गुण** श्री कृष्ण कवि[९३] और नृसिंह कवि के अनुसार समासहीन पदों का होना माधुर्यगुणत्व कहलाता है। भूदेव शुक्ल कहते हैं कि चित्त का द्रवित होना, द्वेषादिजनित काठिन्य का अभाव होना द्रुति है। इस द्रुति का कारण जो आह्लादस्वरूपत्व है उसे माधुर्य गुण कहते हैं।[९४] हरिदास सिद्धान्तवागीश के अनुसार श्रुतिसुखद एवं चित्त को आह्लादित करने वाला तत्त्व माधुर्य गुण है।[९५] अच्युतराय माधुर्य गुण के धर्मी

---

९१. दोषे गुणोपयोगस्तु पदे स्यादप्रयुक्तके।
निहतार्थे निरर्थे च विरुद्धमतिकृत्यपि।
अप्यन्यसंगते वाक्ये निरर्थेतरतादृशे॥
पदैकदेशे निहतार्थे निरर्थे तथैव च।
शुद्धवाक्ये त्रिधाऽरीतिमति सम्बन्धवर्जिते॥
अर्थेऽपुष्टे च कष्टे च पुनरुक्ते द्विधोदिते।
रसे वाक्स्थ सञ्चारिण्यपि बाध्यविभावके॥
स्वक्षिसंख्याकः.................. (वही, पृ० ३१८-१९)

९२. रसयोरङ्गयोः साक्षाद् विरुद्धत्वे तथान्तरा।
अनुकारेऽपि चेत्येवं त्रिधं वाद्यं तथार्थिकम्॥
सामानाधिकरण्ये च नैरन्तर्ये विरोधयोः।
गुणदोषविहीनत्वे द्वितीयं त्रिविधं तथा॥
बाध्यो विरुद्धः संचारी स्मृतश्च कविसंमतः।
वक्ता रसाक्तश्चेदेवं चतुर्धान्त्यं दशेत्यमी॥ (वही, पृ० ३१९)

९३. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७५)

९४. द्रुतिश्चेतसो गलितत्वमिव द्वेषादिजन्यकाठिन्याभावः। तथा च यद्वशेन श्रोतुर्विमनस्कतेव सम्पद्यते तदा ह्लादकत्वस्वरूपं माधुर्यम्। (रसविलास, पृ० ३०)

९५. माधुर्यमाह्लादः। श्रुतिसुखजनकतया चित्तस्याह्लादो माधुर्यं नाम गुणः। (काव्यकौमुदी, पृ० ९३)

का उल्लेख भी करते हैं— माधुर्यगुण सात्त्विकैकरसस्थ होता है।[९६] शृङ्गार, करुण और शान्त सात्त्विक रस हैं। 'एक' कहने से वीरादि राजस रस का तथा सर्वसाधारण प्रसाद गुण का निरास हो जाता है। माधुर्य गुण के चित्तद्रवकारित्व का तात्पर्य है अन्त.करण की सुस्निग्धता का साधक होना।[९७] यह माधुर्य गुण सम्भोग शृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रस में क्रमशः अधिक चमत्कारजनक होता है अर्थात् सम्भोग शृंगार की अपेक्षा करुण में दुगुना, विप्रलम्भ में तिगुना तथा शान्त में चौगुना चमत्कारी होता है।[९८]

**ओज गुण**—श्रीकृष्ण कवि[९९] एवं नृसिंह कवि के अनुसार बड़े-बड़े समस्त पदों का होना ओजगुणत्व है। भूदेव शुक्ल के अनुसार दीप्तिस्वरूप चित्त विस्तार का हेतु ओज है।[१००] अच्युतराय दीप्ति का तात्पर्य बताते हुए कहते हैं कि अन्त करण में तेज उत्पन्न होना ही दीप्ति है।[१०१] ओज गुण तामसैकरसस्थ होता है। तामस रस वीर, बीभत्स व रौद्र हैं। इनमे इसी क्रम से ओज अधिक चमत्कारी होता है।[१०२] श्री कृष्ण कवि ने कहीं-कहीं शृंगार और अद्भुत रस में भी ओज गुण को चमत्कारी माना है।[१०३]

**प्रसाद गुण** –विद्याराम व श्री कृष्ण कवि[१०४] झटिति अर्थावबोधक गुण को प्रसाद कहते हैं। हरिदास सिद्धान्तवागीश के अनुसार श्रवणमात्र से ही जो बोधगम्य हो उसे प्रसाद गुण कहते हैं।[१०५] नृसिंह कवि का कहना है कि जो गुण काव्य श्रोता के

---

९६. सात्त्विकैकरसस्थो यो धर्मं धीद्रुतिकार्यसौ। (साहित्यसार, पृ० ३२२)

९७. स्वाधिकरणाधिकरणावच्छेदेन अन्तःकरणस्य चन्द्रमणीनां तदुदय इव सुस्निग्धत्व-साधक इति यावत्। (वही, पृ० ३२२)

९८. यावत् सम्भोगश्रृंगारे माधुर्यं तदपेक्षया द्विगुणं करुणे, त्रिगुणं विप्रलम्भे, चतुर्गुणं शान्ते............। (वही, पृ० ३२३)

९९. दीर्घदीर्घसमासत्वमोजः शब्देन गीयते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७५)

१००. दीप्तिस्वरूपा या मनसोऽतिविस्तृतिः ज्वलितत्वमिव तथा च यद्वशात् ज्वलित-मिव मनो जायते तदोजः। (रसविलास, पृ० ६१)

१०१. दीप्तिः हि अत्र स्वाधिकरणाधिकरणावच्छेदेन अन्तःकरणस्य सूर्यमणीनां तदुदय इव तेजः प्रसवसम्पादनमेव। (साहित्यसार, पृ० ३२३)

१०२. तामसैकरसस्थो यो धर्मो धीदीप्तिकार्यसौ।
ओजो वीरे च बीभत्से रौद्रे च क्रमशोऽधिकम्॥ (वही, पृ० ३२३)

१०३. ओजोगुणस्तु कथितः शृंगारेऽप्यद्भुते क्वचित्।
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १७७)

१०४. शीघ्रार्थबोधकत्वं तु प्रसाद इति कथ्यते। (वही, पृ० १७५)

१०५. सुगमः प्रसादः। श्रवणमात्रमेव बोधगम्यो गुणः प्रसाद उच्यते।
(काव्यकौमुदी, पृ० ९३)

चित्त को व्याप्त कर लेता है, वह प्रसाद है।[१०६] मूदेव शुक्ल प्राचीन आलंकारिक सम्मत दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जो गुण ओज स्थल में शुष्क इन्धन में अग्नि के समान और माधुर्य स्थल में स्वच्छ जल के समान अन्य व्याप्य चित्त को शीघ्र ही रस से व्याप्त कर देता है वह प्रसाद है। यह सभी रसों में आधेयरूप में तथा सभी रचनाओं में व्यंग्य रूप में रहता है।[१०७]

प्रश्न उठता है कि सात्त्विक रसों में माधुर्य गुण, तामस रसों में ओज गुण प्रधान होता है और प्रसाद गुण तो सभी रसों में समान रूप से रहता है फिर राजस रसों — हास्य, अद्‌भुत और भयानक — में कौन-सा गुण प्रधान होता है। अच्युतराय इसका समाधान देते हुए कहते हैं कि राजस रसों में मधुर्य व ओज दोनों ही प्रधान होते हैं।[१०८] वे राजस रसों की तुलना रजोगुण से करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार ब्रह्म के प्रकाशांश के प्राधान्य से सत्त्व और माया के ध्वान्तांश के प्राधान्य ने तमस् का परस्पर संकर उभयप्रधानरूप रजस् होता है, उसी प्रकार माधुर्य और ओज दोनों का समप्राधान्य ही राजस रस मे विवक्षित है।[१०९] इस प्रकार हास्यादि राजस रसों में माधुर्य, ओज, और प्रसाद तीनों गुण रहते हैं। अच्युतराय प्रसाद गुण की व्याप्तता के लिए पूर्वप्रसिद्ध दृष्टान्त न देकर कर्पूरदीप व चीनाम्बु का दृष्टान्त देते हैं।[११०] प्रसाद गुण माधुर्यगुणस्थल में माधुर्यव्यञ्जक वर्णों के अवच्छेद से श्रोता के चित्त को उसी तरह व्याप्त कर लेता है जिस तरह जल चीन देश निर्मित अतिसूक्ष्म वस्त्र को और ओजगुण-स्थल में ओज व्यञ्जक वर्णों के अवच्छेद से श्रोता के चित्त को उस तरह व्याप्त करता है जैसे दीप कर्पूर को। इस प्रकार प्रसाद गुण सर्व साधारण होने पर भी कहीं ओज गुणावच्छेद से तो कही माधुर्य गुणावच्छेद से चित्त को शीघ्र तत्तद् रसों से व्याप्त करता है।

ब्रह्मानन्द शर्मा प्रसाद गुण नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि चित्त को सहसा व्याप्त करने के कारण यह गुण अर्थस्पष्टता रूप ही है। इस अर्थस्पष्टता का

---

१०६. व्याप्नोति श्रोतृचेतो यः स प्रसादो गुणो मतः।
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ७०)

१०७. ओजसि शुष्केन्धनाग्निवत् माधुर्ये स्वच्छशर्कराजलवत् यो गुणो अन्यत्व्याप्यं चित्तं झटित्येव रसेन व्याप्नोति स प्रसादः। अयं सर्वेषु रसेषु आधेयतया सर्वासु रचनासु व्यंग्यतया स्थितः। (रसविलास, पृ० ६१)

१०८. राजसेषु तु तेषु स्यात्प्राधान्यमुभयोरपि। (साहित्यसार, पृ० ३२३)

१०९. ब्राह्मप्रकाशांशप्राधान्येन सत्त्वस्य मायिकध्वान्तांशप्राधान्येन तमसश्च परस्पर-सांकर्येण उभयप्रधानरूपरजस इव माधुर्यौजस इव माधुर्योज उभयोभपि सम-प्राधान्यमेव विवक्षितम्। (वही, पृ० ३२३)

११०. यः सर्वरसगोऽपीन्दुं दीपवच्चीनमम्बुवत्। (वही, पृ० ३२३)

सत्यता में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः इस गुण का पृथग् विवेचन उपयुक्त नहीं है।[111]

अच्युत राय तीनों गुणों की दो कोटि करते हैं—मुख्य और गौण। रसेतर में न रहने वाला गुण मुख्य कहलाता है और शब्द, अर्थ तथा उभय में रहने वाले गुण को गौण कहते हैं।[112] आचार्य रसगंगाधर के आधार पर गुणों की रसधर्मता प्रतिपादित करता है। रस और द्रुत्यादि में कार्य-कारणभाव है, किन्तु शृंगारादि रस द्रुत्यादि का और वीरादि रस दीप्त्यादि का कारण है। इसका नियामक कौन है ? इसके समाधान के लिए अच्युतराय का कहना है कि जिस प्रकार मृत्तिका जाति भिन्न श्लक्षणत्व धर्मरूप कारणतावच्छेदक से युक्त मृत्तिका (अर्थात् श्लक्षणविशिष्ट मृत्तिका) ही घट के प्रति कारण होती है, उसी प्रकार तद्गुणविशिष्ट रस को दीप्त्यादि का कारण मानना होगा। इससे रसादि कारण के अवच्छेदक के रूप में गुणों का अनुमान हो जायगा। इस पर यदि कोई पूर्वपक्षी यह कहे कि कारणतावच्छेदकता के रूप में गुणों की अनुमिति में गौरव दोष होता है, तब क्यों न प्रातिस्विक रूप मे अर्थात् प्रत्येक रस के धर्म शृंगारत्व, वीरत्वादि को ही द्रुत्यादि का कारण मान लिया जाय ? इस पर अच्युतराय का कहना है कि शृंगारादि नवरसनिष्ठ नवविध जातियों को कारणता-वच्छेदक स्वीकार करने की अपेक्षा रससमानाधिकरण त्रिविध माधुर्यादि गुणों को कारणतावच्छेदक मानने में लाघव ही है।[113] यदि पूर्वपक्षी इस लाघव को आदरणीय न मानकर यह कहे कि कुछ आचार्यों ने मधुर, मधुरतर, मधुरतम, ओज, ओजस्तर इत्यादि गुणों को पृथक्-पृथक् द्रुत, द्रुततरादि कार्यों का प्रयोजक माना हैं तब माधुर्यादि-विशिष्ट रस को द्रुत्यादि का कारण मानना गड्डमूत है। अतः प्रातिस्विक रूप से ही रसों को कारण मानने में लाघव है। पण्डितराज ने इसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। अच्युतराय लौकिक दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि बहुल तृणादि दाह्य वस्तु को जलाने में बहुल अग्नि ही प्रयोजक होती है, मात्र अग्नि दहन कर्म में हेतु नहीं होती किन्तु अग्नित्व व दहनत्व में कार्यकारणभाव माना जाता है। जिस प्रकार यहाँ बहुलादि कार्य-कारणभाव में अप्रयोजक होते हैं उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी माधुर्यतरत्वादि अप्रयोजक हैं।[114]

---

१११. चित्तस्य सहसैव व्यापनाद् गुणोऽयमर्थस्पष्टतारूप इति प्रतीयते। अस्या अर्थ-स्पष्टतायाः सत्यतायामेवान्तर्भाव इत्यस्य गुणस्य न हि पृथग् विवेचन-मपेक्षितम्। (काव्यसत्यालोक, पृ० ७०)

११२. एवं च त्रिविधोऽप्येष द्विविधः प्राग्वदिष्यते।
मुख्ये रसैकगो गौणः शब्दार्थोभयमात्रगः॥ (साहित्यसार, पृ० ३२४)

११३. शृङ्गारादिनवरसनिष्ठनवविधजातीनां कारणतावच्छेदकानाम् अङ्गीकारा-पेक्षया त्रिविधानां तत्समानाधिकरणत्वेन माधुर्यादिगुणानामेव कारणतावच्छेद-कत्वकल्पनस्य अतिलघुत्वात् इत्याशयः। (वही, पृ० ३२५)

११४ तन्मन्दं बहले दाय्येह् तादृग्वह्निनः प्रयोजकः।
दृष्ट एवेति किं हेतुर्वह्निनं दहनेऽस्ति वा॥ (वही, पृ० ३२६)

माधुर्यादि रस के धर्म नहीं हैं, इस पूर्वपक्ष की स्थापना के लिये पण्डितराज कहते हैं कि आत्मा निर्गुण है और रस 'रसो वै सः' के अनुसार आत्मरूप है फिर वह माधुर्यादि गुणों से युक्त कैसे होगा ? इसी प्रकार इन रसों के उपाधि अर्थात् आश्रय रत्यादि में भी प्रमाणाभाव के कारण गुण नहीं माना जा सकता। पुनश्च पररीति (नैयायिक मत) के अनुसार गुण में गुण सम्भव नहीं है।[११५]

रसगंगाधर के टीकाकार मधुसूदन शास्त्री, पण्डितराज के इस हेतु पर कटाक्ष करते हुए लिखते हैं कि नैयायिक मत में तो शब्द भी गुण है और पण्डितराज ने शब्दरूप गुण में माधुर्यादि गुणान्तर माना है। वे शब्दगुण व अर्थगुण भी मानते हैं। जब एक स्थल पर गुण में गुण स्वीकार किया है तो प्रकृत स्थल में उसका अनौचित्य प्रतिपादित करना गजनिमीलिका ही है।[११६] अच्युतराय ने पण्डितराज के उपर्युक्त स्थापित पूर्वपक्ष का समाधान बहुत ही सुन्दर ढंग से उपन्यस्त किया है। उनका कहना है कि वस्तुतः रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावरणा चित् ही रस है और जिस प्रकार ईश्वर नामक सगुण ब्रह्म में मायिक सत्त्वादि गुण रहते हैं वैसे ही प्रकृत रस में भी रत्यादिनिष्ठ सत्त्वादिपरिणाम माधुर्यादि गुण रहते हैं। पण्डितराज ने जो रत्यादिस्थायिभावगत गुणत्व का निषेध किया है, इस पर अच्युतराय का कहना है कि जिस प्रकार नैयायिका स्वयं इच्छात्व जाति नामक धर्म इच्छादि गुण में मानते हैं और रत्यादिगत रतित्वादि सामान्य सदृश सात्त्विक रसावच्छेद से माधुर्यगुण, तामसरसावच्छेद से माधुर्य-ओज उभययुण और सर्वरसावच्छेद से प्रसाद गुण के विद्यमान होने के कारण माधुर्यादि धर्म उपयुक्त ही हैं[११७] इस प्रकार माधुर्यादि मुख्य रूप से रस में और गौण रूप से शब्दार्थ में रहते हैं इन माधुर्यादि गुणों की अभिव्यक्ति रीति व वृत्ति से होती है। चूंकि शब्दसामीप्य से माधुर्यादिगुणों की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए गुण रीतिवृत्ति के द्वारा अधिकरण रूप व्यञ्जक शब्द में रहते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इन्हें बाह्य् कहा है। चूंकि अर्थ रूप अधि-

---

११५. किं चात्मनो निर्गुणतयात्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्।
एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, पररीत्या गुणे गुणान्तरस्यानौचित्याच्च। (रसगंगाधर, पृ० २३२)

११६. यया रीत्यां गुणं गुणान्तरस्यानौचित्याद् रसोपाधिरत्यादिगुणत्वं माधुर्यादीनामसंगतमिति वदन् पण्डितराजस्तयैव रीत्या शब्दरूपे गुणे माधुर्यादिगुणान्तरस्यानौचित्यं कथं न जानाति। केयल गजनिमीलकैव प्रतिभाति तस्य।
(रसगंगाधरधुसूदनी, पृ० २३३)

११७. यदप्यन्यमतेऽप्यस्ति न गुणे गुणकल्पना।
इति रत्यादिगुणताप्येतेषां नेति तन्मृषा॥
इच्छादिरूपरत्यादिगुणोऽप्येतस्य जातिवत्।
माधुर्यादेः सुयुक्तत्वात् सात्त्विकादित्रिके क्रमात्॥ (साहित्यसार, पृ० ३२७)

करण में माधुर्यादि गुण आन्तर रूप से रहते हैं, अतः इन्हें आन्तर गुण कहा गया है।[११८] अच्युतराय कहते हैं कि शब्द और अर्थ परस्पर अपेक्षाकृत बाह्य व आन्तर हैं। अतः तत्तदवच्छिन्न गुणों को तत्तत् संज्ञक कहना उचित ही है।[११९]

आचार्य मम्मट गुण को मुख्यतः रस का धर्म मानते हैं और शब्दार्थ में गुणों की स्थिति उपचारतः मानते हैं। आचार्य मधुसूदन शास्त्री का कहना है कि अगर मम्मट के हृदय में गुण शब्दगत एवं अर्थगत होते हैं यह भावना न होती तो दोष एवं अलंकारों के नियम व्यवहार के साथ गुणों का भी नियम व्यवहार क्यों लिखते।[१२०] यह लेख ही यह प्रमाणित करता है कि गुण शब्द, अर्थ एवं उभयगत होते हैं। मधुसूदन शास्त्री मम्मट पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं कि यदि गुण रस के ही धर्म हैं तो रसध्वनि के अतिरिक्त वस्तु व्यंग्य व अलङ्कार व्यंग्य स्थल में गुणाभाव होना चाहिये किन्तु वस्तुव्यंग्यादि स्थल में भी माधुर्यादि गुण रहते हैं। अतः रस के धर्म गुण हैं, यह कहना असंगत है। मम्मट ने गुणों को अचलस्थिति माना है। मधुसूदन शास्त्री मम्मट के शब्दचित्र काव्य (स्वच्छन्दोच्छलद०) का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यहाँ यह गंगाविषयक कविनिष्ठ भावध्वनि है और उसके विरूद्ध ओज गुण है। नियमतः ओज की स्थिति वीर, बीभत्स एवं रौद्र में ही होनी चाहिये। यदि यह कहा जाय कि यह अधम काव्य है और यहाँ व्यंग्यार्थ शब्दचमत्कार में लीन है अतः रहते हुए गुण का अनुसन्धान नहीं किया जाता तब तो मम्मट ने गुणों को जो अचलस्थिति कहा है वह अंश व्यर्थ हो गया। अतः गुण को रसधर्म एवं अचलस्थिति कहना असंगत है।[१२१]

ब्रह्मानन्द शर्मा का भी मत है कि गुण को रसधर्म मानने पर रसरहित प्रकरण में गुणाभाव होगा। अतएव गुण सत्यानुभूति के धर्म हैं।[१२२]

**गुणों के व्यञ्जक वर्ण**—भूदेव शुक्ल ने माधुर्यादि गुणों के व्यञ्जक वर्णों का उल्लेख काव्यप्रकाश की कारिकाओं की व्याख्या के रूप में किया है। माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्ण-टवर्गवर्जित क से लेकर मपर्यन्त स्पर्श वर्ण, रेफ व ह्रस्व णकार माधुर्य के व्यञ्जक होते हैं। स्पर्श वर्ण अपने शिर पर स्थित स्वस्ववर्गान्त्य वर्णों से युक्त होने चाहिये और

---

११८. तद्व्यक्ती रीतिवृत्तिभ्यां शब्दाद् बाह्यास्ततोऽत्र ते।
लक्षणेनार्थतस्तेन ते तत्र त्वान्तरा मताः।। (वही, पृ० ३२७)

११९. शब्दतदर्थयोः परस्परापेक्षया बाहिरन्तर्भावात् युक्तमेव तत्तदवच्छिन्नानां तत्तद्-गुणानां तत्तत्संज्ञाविधानमिति तत्त्वम्। (वही, पृ० ३२७)

१२०. इह दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः स अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। (काव्यप्रकाश, पृ० ४२३)

१२१. रसगंगाधर की भूमिका— मधुसूदन शास्त्री, प० ४६, ४७, ५८

१२२. ध्वनिकारादिमतानुसारं गुणा रसधर्मा इति रसरहिते प्रकरणे तेषामभावः। परमस्मन्मतानुसारं गुणाः सत्यानुभूतेर्धर्मा इति भावयोगाभावेऽपि सत्यानुभूतौ तेषां स्थितिः। (काव्यसत्यालोक, पृ० ७०)

रेफ व णकार ह्रस्व स्वर से अन्तरित हो। समासाभाव हो अथवा मध्यम समास हो।[123] ओज गुण के व्यञ्जक वर्ण —वर्गों के प्रथम व तृतीय वर्णों के साथ उनके बाद द्वितीय व चतुर्थ वर्णों का योग, रेफ का नीचे-ऊपर अथवा दोनों स्थलों पर किसी वर्ण के साथ योग, किसी भी तुल्य वर्ण का योग तथा ट ट ड ढ श ष वर्ण ओज के व्यञ्जक होते हैं। इसमें समास दीर्घ एवं गुम्फ रचना होती है[124]

**प्रसाद गुण के व्यञ्जक**—जिस शब्द, समास अथवा जिस रचना के द्वारा श्रवण मात्र से अर्थबोध हो वह प्रसाद का व्यञ्जक होता है।[125]

यद्यपि रचना, वृत्ति और वर्ण गुणपरतन्त्र होते हैं फिर भी स्थल विशेष में उसके अपवाद दिखायी देते हैं। वक्ता, वाच्यविषय और प्रबन्ध के औचित्य से कहीं-कहीं रचना आदि प्रयुक्त होती है।[126]

## रीति-स्वरूप

भरत ने नाट्यशास्त्र में नाट्योपयोगी प्रवृत्तियों और वृत्तियों का ही विवेचन किया है। वे नामतः रीतियों का उल्लेख नहीं करते। भामह प्रथम आलंकारिक हैं जिनके ग्रन्थ-विवेचन से यह ज्ञात होता है कि उनके समय में दो वर्त्म—वैदर्भ और गौड—प्रचलित थे। दण्डी भी रीतियों का लक्षण नहीं करते किन्तु उन्होंने वैदर्भ और गौड मार्ग का विभेद प्रतिपादित किया है। वामन ने 'मार्ग' के स्थान पर रीति शब्द का प्रयोग किया और पाञ्चाली नामक तृतीय रीति की स्थापना की। वे रीतिमत के प्रधान प्रतिपादक आचार्य हैं। उन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा माना। वामन के अनुसार पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है और रचना में यह विशेषता गुणों से आती है।[127] इस प्रकार रीति गुणों पर अवलम्बित है।

---

१२३. माधुर्ये व्यंग्ये टवर्गवर्जिताः कादयो मावसानाः रेफ णकारौ चेति वर्णाः। तत्र कादयो मूर्ध्नि स्वस्ववर्गान्तवर्णगताः। रेफणकारौ तु ह्रस्वस्वरान्तरितौ। वृत्तिः समासस्तस्य चाभावो मध्यमता वा। (रसविलास, पृ० ६१-६२)

१२४. ओजसि व्यंग्ये वर्गप्रथमतृतीयाभ्यां सह अन्त्ययोर्द्वितीयचतुर्थयोर्योगो तथा रेफेणाध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यापि योगः। तथा तुल्ययोः कयोश्चिद्योगो तथा टादिचतुष्टयं शषौ चेति वर्णाः। समासस्तु दीर्घः। गुम्फो रचना। सा चोद्धता विकटेति। (वही, पृ० ६२)

१२५. येन शब्देन समासेन वा यया रचनया वा श्रुतिमात्रेण शब्दादर्थप्रत्ययः स प्रसाद-व्यञ्जकः। (वही, पृ० ६३)

१२६. वक्तृवाच्यप्रबन्धौचित्यविरहे एव गुणपारतन्त्र्यस्वीकारात्। (वही, पृ० ६४)

१२७. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति। (काव्यालंकारसूत्राणि, पृ० १४-१६)

रीति शब्द रीङ्गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है मार्ग। प्रणाली, गति, पन्था, प्रस्थान, वीथि, पद्धति इत्यादि इसके पर्याय हैं। काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में रीति पद का तात्पर्य है लेखक का विशिष्ट लेखन-प्रकार। इस दृष्टि से जितने लेखक हैं, उतनी रीतियाँ होंगी। इसीलिये दण्डी ने कहा है कि रीतियाँ अनन्त हैं। और उनमें परस्पर भेद भी अत्यन्त सूक्ष्म है। जिस प्रकार ईख, दूध, गुड़, चीनी इत्यादि के माधुर्य के पार्थक्य का अनुभव विवेकी व्यक्ति को होता है, उसी प्रकार प्रत्येक कवि की शैली भिन्न-भिन्न होती है। शारदातनय ने भी वचन, पुरुष, जाति इत्यादि के भेद से रीतियों को अनन्त माना है। वामन के परवर्ती आचार्य रुद्रट ने रीति के स्थान पर वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है और लाटीया नामक चौथी वृत्ति की स्थापना की। जयदेव भी रीति को चतुर्विध मानते हैं।[१२८] आनन्दवर्धन ने रीति के लिये संघटना शब्द का व्यवहार किया और रीति को गुणाश्रित माना।[१२९] कुन्तक ने रीति को पुनः मार्ग शब्द से अभिहित किया और कहा कि रीति का सम्बन्ध कवि के स्वभाव से होता है। कविस्वभाव अनन्त है, फिर भी मुख्य रूप से तीन प्रकार—सुकुमार, विचित्र और मध्यम—होते हैं। इसी आधार पर उन्होंने रीतियों का नवीन नामकरण—सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग और मध्यम मार्ग—किया।[१३०] आचार्य भोज ने उपर्युक्त चार रीतियों के अतिरिक्त आवन्तिका और मागधी भरत के दो प्रवृत्तियों को लेकर दो अन्य रीतियों की स्थापना कर सर्वाधिक ६ रीतियाँ मानीं।[१३१] हेमचन्द्र व मम्मट ने रीति और वृत्ति को अभिन्न मानते हुए उपनागरिका, परुषा और कोमला को क्रमशः वैदर्भी इत्यादि रीतियाँ ही कहा।[१३२] विश्वनाथ ने भी पदसंघटना को रीति कहा।[१३३] पदसंघटना का अर्थ है पदों की सम्यक् घटना अर्थात् रचना। वामन से लेकर

---

१२८. पाञ्चालिकी च लाटीया गौडीया च यथारसम्।
वैदर्भी च यथासंख्यं चतस्रो रीतयः स्मृताः॥ (चन्द्रालोक, पृ० ९५)

१२९. संघटना रसादीन् व्यनक्ति, गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति।
(ध्वन्यालोक, ३।६२)

१३०. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥ (वक्रोक्तिजीवित, पृ० ९६)

१३१. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते॥
वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २२८-२२९)

१३२. केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः। (काव्यप्रकाश, पृ० ४०६)

१३३. पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्। (साहित्यदर्पण, पृ० ६५८)

पण्डितराज पर्यन्त प्रायः सभी आचार्य रीति के लक्षण के विषय में एकमत दिखायी देते हैं। प्रायः सभी ने पदों की विशेष प्रकार की रचना अथवा संघटना को रीति स्वीकार किया है।

पण्डितराजोत्तर आचार्य प्रायः आनन्दवर्धन की रीतिविषयक कल्पना को ही मान्य मानकर रीति का स्वरूप निर्धारित करते हैं। विद्याराम रीति का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि यदि लोक में भी रीति के अनुसार कर्म नहीं किये जाते तो वे शोभित नहीं होते, रीति-प्रतिकूल कर्म तो उपहासास्पद हो जाते हैं। इसी प्रकार काव्य में भी यदि उचित रीति का प्रयोग न किया जाय तो रसपोष न होने के कारण वह रसाभासत्व को प्राप्त हो जाता है। अतएव काव्यसम्पत्ति का, विशेषरूप से रस का संग्रन्थन रीति और वृत्ति के अनुसार होना चाहिए। रस के साथ रीति को गूँथ देने पर रस और चमत्कारी हो जाता है।[१३४] विद्याराम रीति की सामान्य परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार कार्यों के सम्पादनविधि की रीति कहते हैं।[१३५] हरिदास सिद्धान्त वागीश गुण एवं रीति की उपमा पति एवं पत्नी से देते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार शरीर में कर, चरणादि अङ्ग का सन्निवेश है, उसी प्रकार काव्य शरीर में सुप्-तिङन्तरूप पद का सन्निवेश होता है और यही पदयोजना रीति कहलाती है।[१३६] नृसिंह कवि माधुर्यादि गुणों से युक्त पदबन्धत्व को रीति कहते हैं।[१३७] श्रीकृष्ण कवि ने भी माधुर्यादि गुणों से श्लिष्ट पदों की सम्यक् (शोभन) घटना अर्थात् रचना को रीति कहा है।[१३८] अच्युतराय रीति के लक्षण में रसानुकूलता को भी महत्त्व देते हैं। उनके मत में तत्तद् रसों के योग्य (रसोपकारिणी) पदसंघटना रीति कहलाती है।[१३९] पदों की घटना (रचना) में सम्यक्त्व तो रस के अनुकूल होने पर ही सम्भव है। इस प्रकार अच्युतराय वामन की

---

१३४ लोकेऽपि रीत्या क्रियते कर्म नो चेन्न शोभते।
उपहासपदं चैतत् यद्यरीत्या कृतं भवेत्॥
अरीत्या कथनेनापि रसाभासा भवन्त्यमी।
रीत्या विपर्ययेणापि प्रोक्ता पुष्णन्ति नो रसम्॥
यथारीति यथावृत्ति सन्दर्भ्याः काव्यसम्पदः।
विशेषतो रसाश्चाभिवर्णनीया यथातथम्॥
रीत्या सन्दर्भणं चैषां कुरुते हि चमत्कृतिम्। (रसदीर्घिका, पृ० ५१)

१३५. इतिकर्त्तव्यता सर्वकर्मणां रीतयः स्मृताः। (वही, पृ० ५१)

१३६. पतिपत्न्योरिव गुणरीत्योः सहभावेनावस्थानाद्। पदयोजना रीतिरङ्गयोजनवत्। (काव्यकौमुदी, पृ० ९५)

१३७. रीतिर्नाम गुणाश्लिष्टपदसन्दर्भता मता। (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १८)

१३८. रीतिः प्रोक्ता गुणाश्लिष्टपदसंघटना बुधैः। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०८)

१३९. तत्तद्रसार्हपदसंघटना रीतिरीरिता। (साहित्यसार, पृ० ३२८)

'विशिष्ट पदरचना' का तात्पर्य 'रसानुकूल पदरचना' लेते हैं। वामन के अनुसार पद-रचना में विशेषता गुणों से आती है। गुण के होने पर धर्मी रस अवश्य होगा। अतः अच्युतराय इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख कर देते हैं। छज्जूराम शास्त्री के अनुसार रीति-परम्परा सम्बन्ध से रसोत्कर्षजनक होती है।[१४०]

## रीति-भेद

पण्डितराजोत्तर आचार्य गुणों की संख्या की भाँति रीतियों की संख्या के विषय में भी एकमत नहीं हैं। अच्युतराय, नृसिंह कवि प्रभृति आचार्य रीति को त्रिविध—वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली—मानते हैं। छज्जूराम शास्त्री पाञ्चाली के स्थान पर रुद्रट की लाटिका रीति स्वीकार करते हैं।[१४१] किन्तु श्रीकृष्ण कवि[१४२] एवं हरिदास सिद्धान्तवागीश[१४३] उपर्युक्त तीन रीतियों में लाटी रीति को सम्मिलित कर अग्निपुराणकारसम्मत चार भेद मानते हैं। विद्याराम लाटी के स्थान पर भोजराज के मागधी रीति को सम्मिलित कर रीति के चार भेद स्वीकार करते हैं।[१४४] इस प्रकार तीन और चार रीतियों के मानने वाले आचार्यों की संख्या लगभग बराबर है। पण्डित-राजोत्तर आचार्य रीतिविषयक कोई नवीन अथवा मौलिक विचार नहीं प्रस्तुत करते किन्तु वे प्राचीन आचार्य सम्मत स्वरूप की स्पष्ट एवं सरलतर व्याख्या अवश्य करते हैं।

(१) **वैदर्भी**—अच्युतराय के अनुसार वैदर्भी रीति समासरहित होती है।[१४५] श्रीकृष्ण कवि एवं नृसिंह कवि इसे अल्पसमासयुक्त मानते हैं। उनके अनुसार वैदर्भी कठिन शब्द व बन्ध के पारुष्य से रहित होती है।[१४६] विद्याराम इसे अत्यन्त कोमल सन्दर्भ वाली स्निग्ध पदों से युक्त, लघु वृत्ति से युक्त, ललित और अतिसुन्दर बतलाते हैं।[१४७]

---

१४०. परम्परया रसाद्युत्कर्षजनकत्वे सति शोभाजनकत्वं रीतित्वम्।
(साहित्यबिन्दु, पृ० १२८)

१४१. भवन्ति रीतयो गौडी वैदर्भी लाटिका तथा। (वही, पृ० १२९)

१४२. वैदर्भी लाटिका गौडी पाञ्चालीति चतुर्विधा। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०८)

१४३. वैदर्भी गौडी पाञ्चाली लाटी च। (काव्यकौमुदी, पृ० ९६)

१४४. वैदर्भी मागधी गौडी पाञ्चाली चेति रीतयः। (रसदीर्घिका, पृ० ५१)

१४५. समासशून्यतत्तद्रसोचितपदसंघटनात्वं हि वैदर्भीत्वम्।
(साहित्यसार, पृ० ३२८)

१४६. बन्धपारुष्यरहिता शब्दकाठिन्यवर्जिता।
नातिदीर्घसमासा च वैदर्भीरीतिरिष्यते॥ (नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १८)

१४७. अतिमृदुसन्दर्भा स्निग्धपदा लघुसमासा ललिता अतिसुन्दरा वैदर्भी।
(रसदीर्घिका, पृ० ५२)

शिवराम त्रिपाठी के अनुसार इसमें दो-तीन पदों का समास होता है और इसका प्रयोग शृंगार, वीर, करुण, बीभत्स और भयानक रस में होना चाहिए।[१४८]

(२) **गौडी**—अच्युतराय के अनुसार गौडी में चार पदों से अधिक का समास अभीष्ट है।[१४९] नृसिंह कवि व श्रीकृष्ण कवि ओज तथा कान्ति गुणों से युक्त रीति को गौडी कहते हैं।[१५०] विद्याराम के अनुसार गौडी अत्यन्त कष्ट से उच्चार्य अक्षरों से युक्त और तादृश सग्धरादि छन्दों से निर्मित, दीर्घ समास से युक्त, तुच्छ अर्थों वाली और भयंकर कर्मों में प्रयुक्त होने वाली रीति है।[१५१] हरिदास सिद्धान्तवागीश के अनुसार इसमें महाप्राण वर्णों का अधिक प्रयोग होता है।[१५२] छज्जूराम शास्त्री इसे सानुप्रास रचना कहते हैं।[१५३]

(३) **पाञ्चाली**—अच्युतराय पांचाली रीति में चार अथवा चार से कम पदों का समास अभीष्ट मानते हैं।[१५४] श्रीकृष्ण कवि एवं नृसिंह कवि ने पांचाली को वैदर्भी व गौडी—उभय की विशेषताओं से युक्त कहा है।[१५५] विद्याराम उपर्युक्त आचार्यों की अपेक्षा विशद परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार ईषत् प्रौढ अर्थ, ईषत् प्रौढपद, अनतिविस्तृतसमास से युक्त रीति पांचाली है।[१५६] हरिदास सिद्धांतवागीश के अनुसार इसमें दीर्घ समासों का अभाव माधुर्यव्यजक एवं महाप्राणभिन्न वर्णों की बहुलता होती है।[१५७]

---

१४८. द्वित्रिपदयुक्समासा वैदर्भीरीतिराख्याता शृंगारवीरकरुणबीभत्सभयानके योज्या।
(रसरत्नहार, पृ० ८८)

१४९. चतुरधिकयथेष्टपदसमस्ततत्तद्रसोचितपदसंघटनात्वं गौडीत्वम्।
(साहित्यसार, पृ० ३२८)

१५०. ओजः कान्तिगुणोपेता गौडीया रीतिरिष्यते।
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १८)

१५१. अत्युद्दण्डाक्षरैर्युक्ता छन्दोभिश्च तथाविधैः।
बृहत्समासा तुच्छार्था गौडी घोरेषु कर्मसु॥ (रसदीर्घिका, पृ० ५२)

१५२. दीर्घसमासा महाप्राणवर्णा च गौडी। (काव्यकौमुदी, पृ० ६७)

१५३. गौडी दीर्घसमासा स्यादनुप्रासान्विता तथा (साहित्यबिन्दु, पृ० १३०)

१५४. चतुः पदानधिकसमस्ततत्तद्रसोचितपदसंघटनात्वं पाञ्चालीत्वम्।
(साहित्यसार, पृ० ३२८)

१५५. पांचाली रीतिवैदर्भीगौडीरीत्युभयात्मिका।
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १८)

१५६. किंचित्प्रौढार्थसन्दर्भा किंचित्प्रौढपदा तथा।
तादृक्समासा पाञ्चाली मागध्यां सा मिलत्यपि॥
(रसदीर्घिका, पृ० ५२)

१५७. अदीर्घसमासा, मधुरा कोमला च पाञ्चाली। (काव्यकौमुदी, पृ० ६७)

(४) **लाटी**—रुद्रट, विश्वनाथ प्रभृति आचार्य इसे चौथी रीति के रूप में स्वीकार करते हैं। रुद्रट ने इसे मध्यम समासवाली (पाञ्चाली से अधिक और गौडी से कम) तथा विश्वनाथ ने इसे वैदर्भी और पाञ्चाली के मध्य की रीति माना है। श्रीकृष्ण कवि के अनुसार लाटिका रीति शान्त के व्यञ्जक वर्णों की बहुलता से युक्त तथा दीर्घ समासों वाली होती है।[१५८] आचार्य के मात्र दीर्घसमासत्व कहने से यह ज्ञात नहीं होता कि लाटिका की स्थिति किन दो रीतियों के मध्य उन्हें स्वीकार है। दीर्घ समासत्व तो गौडी में भी अभीष्ट है। सम्भवतः आचार्य वैदर्भी व गौडी के मध्य लाटिका की स्थिति मानता है। तभी उसने रीति-भेद परिगणन में वैदर्भी व गौडी के बीच में लाटिका का प्रयोग किया है। हरिदास सिद्धान्तवागीश के अनुसार इसमें कोमल पदों की बहुलता होती है।[१५९]

(५) **मागधी**—भोजराज ने तथा राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के मंगलाचरण में मागधी रीति का उल्लेख किया है। राजशेखर ने मागधी के नाम मात्र का निर्देश किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि सम्भवतः मागधी, गौडी का नामान्तर है। भोज के अनुसार समस्त रीतियों का मिश्रण लाटी और इस रीति का निर्वाह न होने पर खण्ड रीति मागधी होती है। भोज के इस लक्षण से मागधी का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। विद्याराम की परिभाषा से अन्य रीतियों से मागधी का भेद स्पष्ट हो जाता है। उनके अनुसार ईषत् कोमल वर्ण, ईषत् कोमल छन्द तथा पद और ईषत् लघु समासवाली रीति मागधी है।[१६०] पाञ्चाली व मागधी में पर्याप्त समानता है। इसीलिए आचार्य विद्याराम पाञ्चाली के लक्षण में कहते हैं कि यह विशेषता मागधी में भी मिलती है। वे आगे यह भी कहते हैं कि जो आचार्य तीन ही रीति मानते हैं उनके मत में पाञ्चाली का अन्तर्भाव मागधी में हो जाता है।[१६१] किन्तु तीन रीति मानने वाले आचार्य तो प्रायः वैदर्भी, गौडी व पाञ्चाली रीति ही मानते हैं। किसी आचार्य ने वैदर्भी, गौडी व मागधी रूप रीति को त्रिविध नहीं माना है। विद्याराम का उपर्युक्त कथन मागधी के प्रति उनके पक्षपात को प्रदर्शित करता है। मागधी की परिभाषा के अनुसार वैदर्भी व गौडी के मध्य इसकी स्थिति है। इसीलिए उन्होंने रीति-भेद परिगणन में इन दोनों रीतियों के बीच मागधी की गणना की है।

---

१५८. शान्तार्णबहुला दीर्घसमासा लाटिका मता।
(मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०८)

१५९. मृदुपदबहुला लाटी। (काव्यकौमुदी, पृ० ९७)

१६०. ईषन्मृद्वक्षरा किंचिन्मृदुच्छन्दास्तथापदा।
ईषल्लघुसमासा च मागधी सर्वतः समा॥ (रसनदीर्घिका, पृ० ५२)

१६१. केषांचिद् रीतयस्तिस्रो मते सन्त्यथ वृक्त्तयः।
मागध्यां तत्र पाञ्चाल्यास्तद्वृत्तेश्च प्रवेशनम्॥ (वही, पृ० ५२)

## वृत्ति स्वरूप

संस्कृत साहित्य शास्त्र में अन्य तत्त्वों की अपेक्षा वृत्ति-तत्त्व का स्थान गौण रहा है। सर्वप्रथम भरतमुनि ने वृत्ति शब्द का प्रयोग कैशिकी इत्यादि नाट्यवृत्ति के लिए किया है इसके अतिरिक्त अलंकारशास्त्र में तीन प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया गया है—(१) अभिधादि शब्द वृत्ति (२) अनुप्रास का प्रकार (वृत्त्यनुप्रास), और (३) समासयुक्त पदों का प्रकार। प्रथम भेद तो यहाँ अप्रासंगिक है। दूसरे भेद का उद्भव आचार्य उद्भट ने तथा तीसरे भेद का रुद्रट ने किया।

आचार्य भामह ने ग्राम्य और उपनागरिका वृत्ति के भेद से अनुप्रास के दो भेद किये। उद्भट ने अनुप्रास के तीन भेद—छेक, वृत्ति और लाट—करने के पश्चात् वृत्ति के पुनः तीन उपभेद किये—परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या। ग्राम्य वृत्त्यनुप्रास में कोमल वर्णों की सत्ता होती है। उपनागरिका में टवर्गरहित प्रत्येक वर्ग का प्रथम वर्ण अपने ही वर्ग के पञ्चम वर्ण से संयुक्त रहता है और परुषा में रेफ, श, ष, स, टवर्ग तथा रेफ के साथ अन्य व्यञ्जनों का संयोग होता है। उद्भट ने इन अनुप्रासवृत्तियों को रसानुगुण वर्णव्यवहार कहा है।

आनन्दवर्धन ने काव्य में कैशिकी इत्यादि नाट्यवृत्ति तथा परुषादि अनुप्रास वृत्ति दोनों की सत्ता स्वीकार की। उन्होंने कहा कि नाट्यवृत्ति रस के अनुकूल औचित्य-युक्त अर्थरूप है अर्थात् अर्थ तत्त्व पर आश्रित है और परुषादि वृत्ति रसानुकूल शब्दरूप अर्थात् शब्द तत्त्व पर आश्रित है। आनन्दवर्धन ने रीति और वृत्ति दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानी। उन्होंने कहा कि रीति और वृत्ति दोनों ही गुण पर आश्रित रहती हैं, किंतु आगे चल कर उन्होंने उद्भट के रसानुगुणवर्णव्यवहार को और व्यापक बनाकर रसानुगुण शब्द व्यवहार कह दिया जिससे रीति का आधार ही समाप्त हो जाता है और रीति व वृत्ति का स्वरूप एक-सा हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने वृत्तियों को अनुप्रासभेद का आश्रय कहा—'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा आसु इति वृत्तय' (जिनमें अनुप्रास के भेद उपस्थित हों)। वे रीति व वृत्ति को गुणों से भिन्न नहीं स्वीकार करते।

मम्मट ने आनन्दवर्धन का आशय समझकर वामन के वैदर्भी इत्यादि रीति और उद्भट के परुषा इत्यादि वृत्ति का समन्वय कर एक ही मान लिया। इसका प्रभाव परवर्ती आलंकारिकों पर इतना पड़ा कि बाद के ग्रन्थों में वृत्ति का उल्लेख तक नहीं मिलता। रीति और वृत्ति का अभेद इतनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया कि पण्डितराज जैसे आचार्य ने वैदर्भी रीति के स्थान पर वैदर्भी वृत्ति शब्द का प्रयोग किया—'तां विबुधा वैदर्भी वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकम्'।

भोजराज अन्य काव्य तत्त्वों की भाँति वृत्ति की भी सर्वाधिक संख्या मानते हैं। उन्होंने तीनों वृत्तियों के नामान्तर के साथ-साथ नव अन्य नवीन वृत्तियों की कल्पना

की—गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता तथा अमिता। इनके अतिरिक्त भोज ने बारह अनुप्रासवृत्तियाँ भी स्वीकार कीं—कार्णाटी, कौन्तली, कौङ्की, कौङ्कणी, बाणवासिका, द्राविडी, माथुरी, मात्सी, मागधी, ताम्रलिप्तिका, औण्ड्री तथा पौण्ड्री। नाट्यवृत्तियों में भी उन्होंने मध्यम कैशिकी व मध्यम आरभटी नामक दो अन्य वृत्तियाँ जोड़कर ६ संख्या मानी। आगे चल कर भोज ने गम्भीरा आदि बारह वृत्तियों का अन्तर्भाव सौकुमार्यादि गुणों और कैशिकी इत्यादि नाट्यवृत्तियों में कर दिया और इनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की। उनके अनुसार कार्णाटी इत्यादि वृत्तियां ही उचित हैं।

रुद्रट ने वृत्ति का नवीन लक्षण प्रस्तुत किया। वे समासयुक्त पदों की संघटना को वृत्ति मानते हैं। उनके अनुसार वृत्ति के दो भेद सम्भव हैं—असमस्ता (समासरहित पद) और समस्ता (समासयुक्त पद)। असमस्ता वृत्ति का नाम उन्होंने वैदर्भी रीति रखा और द्वितीय भेद के समासों के न्यूनाधिक्य के आधार पर तीन उपभेद किये—पाञ्चाली, लाटी और गौडी। स्पष्ट है कि रुद्रट ने रीति और वृत्ति को पर्याय मान लिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने तीन अनुप्रास वृत्तियों के स्थान पर नामान्तर के साथ पाँच अनुप्रासवृत्तियाँ स्वीकार कीं- मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा। प्रथम चार भेदों के नाम रुद्रट ने भोज से ग्रहण किये।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों ने प्रायः वृत्ति शब्द का अभिप्राय नाट्योपयोगी वृत्ति लेकर कैशिकी इत्यादि का ही विवेचन किया है और कुछ आचार्य तो, सम्भवतः गुण अथवा रीति के साथ अभेद मानकर, वृत्ति का उल्लेख तक नहीं करते।

अच्युतराय ने माधुर्यादि गुणों की व्यञ्जना में रीति और वृत्ति को द्वारभूत कहा है।[१६२] उनके अनुसार रस के अभीष्ट वर्णों की रचना को वृत्ति कहते हैं।[१६३] श्रीकृष्ण कवि वृत्ति का लक्षण करते हुए कहते हैं कि वृत्ति व्यापाररूप है और रस की अवस्थिति की सूचक होती है।[१६४] विद्याराम वृत्ति-सामान्य की परिभाषा करते हैं। उनका मत है कि कर्मों की इतिकर्त्तव्यता रीति कहलाती है और यथातथ्य रूप से कर्मों में उसकी उपस्थिति को वृत्ति कहते हैं।[१६५]

---

१६२. एवं शब्दावच्छेदेन रसधर्मीभूतमाधुर्यादिगुणव्यञ्जने रीतिवृत्तिरूपप्रतिज्ञातद्वार-द्वयमध्ये रीतिलक्षणम्। (साहित्यसार, पृ० ३२८)

१६३. रसेष्टवर्णरचना वृत्तिरित्यभिधीयते। (वही, पृ० ३२९)

१६४. व्यापाररूपिणी वृत्ती रसावस्थानसूचिका। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ८८)

१६५. वृत्तयो वर्तनं तासां याथातथ्येन कर्मसु। (रसदीर्घिका, पृ० ५१)

## वृत्ति-भेद

श्रीकृष्ण कवि वृत्ति के दो भेद करते हैं—शब्दवृत्ति और अर्थवृत्ति। शब्दव्यापारात्मिका वृत्ति को शब्दवृत्ति और नेता के व्यापार के अनुरूप वृत्ति को अर्थवृत्ति कहते हैं।[१६६] आचार्य दोनों वृत्तियों के चार-चार उपभेद करता है, किन्तु शब्दवृत्ति व अर्थवृत्ति दोनों के ही उपभेदों के लिए एक ही संज्ञायें—कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती—प्रयोग करता है।

(१) कैशिकी शब्दवृत्ति—अत्यन्त सुकुमार वर्णों के सन्दर्भण वाली वृत्ति।[१६७]

(२) आरभटी शब्दवृत्ति—अत्यन्त उद्धत वर्णों के संग्रन्थन वाली वृत्ति।[१६८]

(३) सात्वती शब्दवृत्ति—ईषत् प्रौढ वर्णों से युक्त वृत्ति।[१६९]

(४) भारती शब्दवृत्ति—ईषत् मृदु वर्णों से युक्त वृत्ति।[१७०]

नाट्योपयोगी कैशिकी इत्यादि अर्थवृत्तियाँ में अप्रासंगिक होने के कारण असमीक्ष्य हैं। श्रीकृष्णकवि संकेत करते हैं कि कुछ आचार्य कैशिकी, सात्वती और आरभटी को शब्दवृत्ति व अर्थवृत्ति दोनों मानते हैं किन्तु भारती को केवल शब्दवृत्ति कहते हैं।[१७१]

विद्याराम वैदर्भी, मागधी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों की क्रमशः कैशिकी, भारती, आरभटी और सात्वती नाट्यवृत्ति मानते हैं।[१७२]

अच्युतराय माधुर्यादि गुणों के अनुसार वृत्ति को भी त्रिविध मानते हैं। उनके नाम हैं—मधुरा, पुरुषा और प्रौढा।[१७३] आचार्य ने ये संज्ञायें भोजराज से ग्रहण की है।

---

१६६. द्विधा शब्दार्थभेदेन सा द्वे अपि चतुर्विधे ॥
शब्दवृत्तिरिति प्रोक्ता शब्दव्यापाररूपिणी।
अर्थवृत्तिरिति प्रोक्ता नेतृव्यापाररूपिणी ॥ (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० ८८)

१६७. अत्यर्थसुकुमारार्ण सन्दर्भा कैशिकी मता। (वही, पृ० ८८)

१६८. अत्युद्धतार्णसन्दर्भा वृत्तिरारभटी मता। (वही, पृ० ८९)

१६९. ईषत्प्रौढार्णसन्दर्भा सात्वती वृत्तिरिष्यते। (वही, पृ० ८९)

१७०. ईषन्मृद्वर्णसन्दर्भा भारतीवृत्तिरिष्यते। (वही, पृ० ९०)

१७१. कैशिकीं सात्वतीं चैव केचिदारभटीमपि।
शब्दार्थवृत्तिं ब्रुवते भारतीं शब्दमात्रकम् ॥ (वही, पृ० ९०)

१७२. वैदर्भ्याः कैशिकी वृत्तिर्मागध्या भारती तथा।
गौड्याश्चारभटी वृत्तिः पाञ्चाल्याः सात्वती मता ॥ (रसदीर्घिका, पृ० ५२)

१७३. सापि त्रिधैव विज्ञेया पूर्वोदितगुणक्रमात्।
मधुरा पुरुषा प्रौढा माधुर्यौजः प्रसाददा: ॥ (साहित्यसार, पृ० ३२९)

उन्होंने कैशिकी, आरभटी और सात्वती नामक तीन ही अर्थवृत्तियाँ स्वीकार की हैं। वे प्रतापरुद्रयशोभूषणकार इत्यादि आचार्यों के द्वारा मान्य भारती वृत्ति का अन्तर्भाव सात्वती में ही करते हैं।[१७४]

(१) **मधुरा वृत्ति**—बार-बार वर्णशिर:स्थित अनुस्वार, परसवर्ण, शुद्धानुनासिक रूप से वर्तमान वर्गान्त्य वर्णों से युक्त, ऊष्म वर्ण अल्पप्राण वर्ण, ह्रस्व स्वर से व्यवहित रेफ वर्णकार, द्विगुणित लकार, शल् भिन्न अन्य महाप्राणों से रहित वर्णों से युक्त वृत्ति मधुरा कहलाती है।[१७५]

जयदेव उपर्युक्त तीन वृत्तियों के अतिरिक्त घ, म, ध, रेफ, सकार और द्विगुणित लकार से युक्त वृत्तिरूप ललिता तथा मधुरा, परुषा इत्यादि से अवशिष्ट पकारादि संयुक्त अथवा असंयुक्त वर्णों से युक्त वृत्तिरूप भद्रा मानते हैं।[१७६] अच्युत राय के मत में ये दोनों वृत्तियाँ एकदेशविकृतन्याय से मधुरा से भिन्न नहीं हैं।[१७७]

आचार्य अच्युतराय ने सभी वृत्तियों का उदाहरण वैदर्भी इत्यादि रीति, कैशिकी इत्यादि आर्थिक वृत्ति और माधुर्यादि गुण से समन्वित प्रस्तुत किया है।

(२) **परुषा वृत्ति**—जिसमें प्रचुर मात्रा में ह्रस्व वर्ण के बाद व्यजनों का संयोग हो, सभी वर्ण प्रयुक्त हों, अत्यधिक महाप्राण वर्णों से युक्त हो, लकारद्वय का संयोग न हो तथा अतिप्रचुरमात्रात्रा में वर्णों के ऊपर रेफ वर्तमान हो उसे परुषा वृत्ति कहते हैं।[१७८]

(३) **प्रौढा वृत्ति**—मधुरा और परुषा दोनों के धर्मों से आक्रान्त वृत्ति को प्रौढा कहते हैं। इसके श्रवण मात्र से ही अर्थबोध हो जाता है।[१७९]

---

१७४. कैशिक्यारभटी चैव सात्वती चेति ताः क्रमात्।
प्रतापरुद्र आर्थिक्यो मे सात्वत्येव भारती ॥ (वही, पृ० ३३०)

१७५. भूयः शिरोगवर्गान्त्या सोऽष्माऽटालपा सुरूपिणी।
ह्रस्वमध्यरणद्वीन्द्राऽनुपान्या मधुरा भवेत् ॥ (वही, पृ० ३३०)

१७६. लकारोऽन्यैरसंयुक्तो लघवो घभधा रसाः।
ललितायां तथा शेषा भद्रायामिति वृत्तयः ॥ (चन्द्रालोक, पृ० ९६)

१७७. चन्द्रालोकमता भद्रा ललिता मधुरैव मे।
ललितादिवृत्त्यन्तरमपि तत्र लक्षितं तथाप्येकदेशविकृतन्यायेन तस्य
लाघवान्मधुरानतिरिक्तत्वमेव बोध्यम्। (साहित्यसार, पृ० ३२९-३०)

१७८. संयोगपरखर्वाढ्याखिलवर्णातिगुर्वसुः।
अद्वीन्द्रातिविसर्गाद्यात्यूर्ध्वरा परुषा मता ॥ (वही, पृ० ३३५)

१७९. प्रौढा तु मधुरा क्वापि कुत्रापि परुषा मता।
श्रुतिमात्रेण या स्वार्थं ददाति करबिल्थंववत् ॥ (वही, पृ० ३३७)

अच्युतराय ने मधुरादि भेद वृत्तियों के उपकारक वर्णों के आधार पर किया था। वे वर्णों के समान वृत्ति उपस्कारक वर्णघटित पदों के ६ भेद करते हैं —कठोर, प्राकृत, ग्राम्य, कोमल, नागर और उपनागर।[१८०]

(१) **कठोर पद**—सानुस्वार, विसर्ग इत्यादि तथा दीर्घस्वर कृत गौरव अथवा संयोगबहुल पद को कठोर कहते हैं। यह कठोर पद गौडी रीति, परुषा शब्दवृत्ति व आरभटी अर्थवृत्ति में स्थित होता है।[१८१]

(२) **प्राकृत पद**—अनेक दीर्घस्वरकृत तथा एक संयोगकृत गौरवरूप पद को प्रकृतिस्थ कहते हैं। यह पाञ्चाली रीति, प्रौढा शब्दवृत्ति और सात्वती अर्थवृत्ति में स्थित होता है।[१८२]

प्रसिद्धि के आधार पर अच्युतराय ने पद के तीन भेद किये हैं। प्रसिद्धि तीन प्रकार की होती है—सार्वलौकिकी, पण्डितजनगामिनी और पण्डित-उपजीवी कतिपय-गामिनी। सर्वलोकप्रसिद्धरूप प्रथम भेद को ग्राम्य पद, अतिप्रसिद्ध न होने के कारण ग्राम्य के विपरीत दूसरे भेद को नागर और नागर से उपमित होने के कारण तीसरे भेद को उपनागर कहते हैं।

(३) **ग्राम्य पद**—सर्वलोक प्रसिद्धि के कारण प्रयुक्त पद ग्राम्य कहलाता है। यह पाञ्चाली, प्रौढा, सात्वती में अथवा गौडी, परुषा, आरभटी में स्थित होता है।[१८३]

(४) **कोमल पद** –एक स्वर कृत गौरव व गुरु शून्य पद को कोमल कहते हैं। यह वैदर्भी रीति, मधुरा शब्दवृत्ति और कैशिकी अर्थवृत्ति में रहती है।[१८४]

(५) **नागर पद**—पण्डितजनों में प्रसिद्ध पद को नागर कहते हैं। यह वैदर्भी इत्यादि सर्वत्र रहता है।[१८५]

---

१८०. एतासामुपयुक्तानि सन्ति षोढा पदान्यपि।
कठोरप्राकृतग्राम्यकोमलं नागरोप ते॥ (वही, पृ० ३३९)

१८१. सानुस्वारविसर्गादिदीर्घस्वरजगौरवम्।
कठोरं तत्पदं गौडीपरुषारभटीस्थितम्॥ (वही, पृ० ३३९)

१८२. अनेकदीर्घस्वरजैकसंयोजगौरवम्।
प्राकृतं तत्तु पाञ्चालीप्रौढासात्वत्युपस्थितम्॥ (वही, पृ० ३४०)

१८३. सर्वलोकप्रसिद्ध्यैव प्रयुक्तं ग्राम्यमुच्यते।
पाञ्चाल्यादौ च गौड्यादौ यथायुक्तं प्रतीयताम्॥ (वही, पृ० ३४०)

१८४. एकस्वर गुरुत्वं वा गुरु वा कोमलं मतम्।
वैदर्भी मधुरा कैशिक्युपगं तद्विलोक्यताम्॥ (वही, पृ० ३४०)

१८५. पण्डितैकप्रसिद्धं यन्नागरं तत्पदं स्मृतम्।
वैदर्भ्यादौ च गौड्यादौ पाञ्चाल्यादौ यथायथम्॥ (वही, पृ० ३४०)

(६) **उपनागर पद**--पण्डितों के दो-चार अनुचरों में प्रसिद्ध पद को उपनागर कहते हैं। यह भी नागर सदृश सर्वत्र स्थित होता है।[१८६]

आचार्य मम्मट ने अनुप्रास के प्रसंग में उपनागरिकादि वृत्ति का उल्लेख किया है और उसे वैदर्भी इत्यदि रीतियाँ ही कहा है। रसगंगाधर के टीकाकार मधुसूदन शास्त्री का कहना है कि रीति तो यावत्काव्यों की रचना के लिए उपयुक्त होती है और उपर्युक्त वृत्ति तो केवल वृत्यनुप्रास के उपयोगी होते हैं। जो केवल वृत्यनुप्रास के निमाण म उपयुक्त हो सकती हैं, वे अन्यत्र कैसे उपयुक्त हो सकती हैं? पुनश्च, मम्मट ने अर्थगत कष्टत्व दोष के उदाहरण मे प्रयुक्त 'बहुमार्गा' पद का अर्थ सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग किया है। जब मम्मट रीति व वृत्ति को अभिन्न मानते हैं तो यहाँ बहुमार्गा की व्याख्या मे स्वमान्य तीन वृत्तियों का उल्लेख करना चाहिये था। अतः प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी हृदय से दोनों को भिन्न मानते हैं। और भी मम्मट ने अनुप्रास में नियत वर्णों की समानता से रस को व्यक्त करने वाले व्यापार को वृत्ति कहा है--'वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः' क्योंकि वर्णों की समानता को अनुप्रास कहते हैं--'वर्णसाम्यमनुप्रासः'। फलतः जहाँ पदसाम्य होगा वहाँ दूसरी वृत्ति चाहिये और जहाँ वर्णों में अथवा पदों में साम्य न हो वहाँ तीसरी तथा अर्थों के निरूपण करने के लिये चौथी वृत्ति माननी पड़ेगी। अतः मम्मट के द्वारा मानी हुई वृत्तियाँ भिन्न वस्तु हैं और वैदर्भी इत्यादि रीतियाँ या सुकुमारादि मार्ग भिन्न हैं। यह आचार्य मधुसूदन शास्त्री का आशय है।[१८७]

**रीति, वृत्ति और रस**--सर्वप्रथम रुद्रट ने रीति का सम्बन्ध रस के साथ स्थापित किया जिसका विकास ध्वनिवादी आचार्यों ने आगे चलकर किया। कालान्तर में आलंकारिकों ने प्रत्येक रस की अभिव्यक्ति के लिये रीति और वृत्ति नियत कर दी।

आचार्य विद्याराम रुद्रट की अपेक्षा रीति, वृत्ति और रस के सम्बन्धों की विशद व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि वैदर्भी रीति के द्वारा शृंगार और करुण रस का वणन करना चाहिए। इसमें एकमात्र कैशिकी वृत्ति तथा सन्दर्भ अत्यन्त कोमल होना चाहिये।[१८८] गौडी रीति के द्वारा रौद्र और बीभत्स रस का सन्दर्भण होना चाहिये।

---

१८६. पण्डितानुचरद्वित्रिचतुरैकप्रसिद्धिकम्।
उपनागरमेतच्चायुक्तरीत्यैव वीक्ष्यताम्॥ (वही, पृ० ३४०)

१८७. रसगंगाधर की भूमिका--मधुसुदन शास्त्री, पृ० ५१-५२

१८८. वैदर्भ्या वर्णनीयो तौ शृङ्गारकरुणावतः।
तत्र चैकैव वृत्तिः स्यात् सन्दर्भश्चातिपेशलः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ५४)

इसमें आरभटी वृत्ति और स्रग्धरादि उद्दण्ड छन्द होने चाहिये।[१८९] मागधी रीति के द्वारा हास्य, शान्त और अद्भुत रसों का वर्णन होना चाहिये। इसमें भारती वृत्ति और ईषत् मृदु सन्दर्भ होना चाहिये।[१९०] पाञ्चाली रीति के द्वारा वीर और भयानक रस वर्णित हाने चाहियें। इसमें सन्दर्भ ईषत्प्रौढ और वृत्ति सात्वती उपयुक्त होती है।[१९१]

—०—

१८९. रौद्रबीभत्सकौ गौड्या रीत्या सन्दर्भमर्हतः।
तत्र च आरभटी वृत्ति वृत्तं च स्रग्धरादिकम्॥ (वही पृ० ५४)

१९०. हास्यशान्ताद्भुता रीत्या मागध्यार्हन्ति वर्णनम्।
वृत्ति वै भारती तत्र सन्दर्भोऽपि मनाङ् मृदु॥ (वही, पृ० ५४)

१९१. पाञ्चाल्या वर्णनीयौ तौ रसौ वीरभयानकौ।
ईषत्प्रौढोऽस्ति सन्दर्भो वृत्तिस्तत्र तु सात्वती॥ (वही, पृ० ५४)

सप्तम अध्याय

# अलंकार विवेचन

काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त काव्यालङ्कार नाम उस युग में अलङ्कारों के महत्त्व अथवा प्राधान्य को द्योतित करता है, हालांकि अन्ततः काव्यालङ्कार शब्द में प्रयुक्त अलङ्कार शब्द सौन्दर्य का वाचक है अर्थात् रीति, गुण, वृत्ति, रस, अलङ्कार-विशेष इत्यादि के अर्थ में अलङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्राचीन आचार्य भरत, भामह इत्यादि ने अलङ्कारों का निरूपण तो किया किन्तु अलङ्कार-सामान्य की परिभाषा नहीं की। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में रसादि का विवेचन नाट्य की दृष्टि से ही किया था और रसादि को अत्मस्थानीय स्वीकार किया था। यही कारण है कि भामहादि उत्तरवर्ती आचार्यों ने रस को नाट्य का ही मुख्य विषय समझकर काव्य में अलङ्कार का प्राधान्य माना और रसादि को उसका उपकारक स्वीकार कर रसवदादि को अलङ्कार ही माना। उन्होंने 'न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिताननम्' कह कर अलङ्कार तत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित किया तथा अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य शोभाधायक तत्त्व माना। उनके अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रता से युक्त उचित (अतिशयोक्ति) अलङ्कार है तथा यही समस्त अलङ्कारों का जीवितभूत है। इसी वक्रोक्ति से काव्य में काव्यत्व आता है।

आचार्य दण्डी ने अलङ्कार का लक्षण—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' किया किन्तु आचार्य वामन ने उसे ही गुण का लक्षण स्वीकार कर लिया—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः'। आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभाकारक सभी धर्मों को अलङ्कार माना। अतएव उनके मत में रसादि भी काव्यशोभा का सम्पादन करने के कारण अलङ्कार रूप ही हुए। इस प्रकार दण्डी ने भी भामह की भाँति रसवदादि को अलङ्कार मानते हुए काव्य में अलंकार की ही प्रमुखता स्वीकार की।

आचार्य वामन ने अलङ्कारवाद के स्थान पर रीतिवाद की स्थापना की और अलङ्कार के स्थान पर गुण की प्रधानता स्वीकार की। उन्होंने अलङ्कार की परिभाषा को अधिक व्यापक बनाया और उसे सौन्दर्य का पर्याय माना। उनका मत है कि काव्य में

शोभा गुणों से उत्पन्न होती है किन्तु उस शोभा में अतिशय अलङ्कारों के द्वारा ही आता है। वे गुण और अलङ्कार से संस्कृत शब्द-अर्थ में काव्यत्व स्वीकार करते हैं—'काव्य-शब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।'

आचार्य उद्भट ने अलङ्कार-सामान्य की परिभाषा नहीं की तथा काव्य में अलङ्कार की अनिवार्य स्थिति का भी स्पष्ट संकेत नहीं किया। उन्होंने समस्त रसप्रपञ्च का अन्तर्भाव रसवदादि अलङ्कारों में किया है तथा गुण, रीति, वृत्ति की उपेक्षा कर अलङ्कारों का सविस्तर विवेचन किया है, अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे काव्य में अलङ्कार का प्राधान्य स्वीकार करते हैं।

आचार्य रुद्रट रसिद्धान्त से भी प्रभावित दिखायी देते हैं, तथापि वे अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने रसादि का रसवदादि अलङ्कार में अन्तर्भाव नहीं किया है, किन्तु अलङ्कारों का सविस्तर विवेचन अलङ्कार के प्रति उनके पक्षपात को प्रदर्शित करता है। सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने ही शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार के विभाजन की स्पष्ट पृष्ठभूमि प्रस्तुत की उन्होंने अर्थालङ्कारों में वास्तव, औपम्य, अतिशय एवं श्लेष को मूलभूत तत्त्व स्वीकार किया।

इसके पश्चात् ध्वनिकाल का समागम हुआ। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने अलङ्कारवाद के स्थान पर ध्वनिवाद की स्थापना की। उन्होंने शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों की सत्ता एवं महत्ता स्वीकार करते हुए कहा कि केवल वे ही अलङ्कार अलङ्कार कहे जा सकते हैं जिनका निबन्धन रसक्षिप्ततया हो और जिनके लिये पृथक् यत्न की अपेक्षा न हो।[1] इस प्रकार आनन्दवर्धन न रसादि को काव्य का अङ्गी तथा अलङ्कार को रासादि का अङ्गरूप मानकर अलङ्कार की अनिवार्यता पर आक्षेप किया, किन्तु अलङ्कार की उपादेयता स्वीकार की।

आचार्य कुन्तक ने भी यह स्वीकार किया कि अलङ्कार का निरूपण अलङ्कार्य को दृष्टि में रखकर होना चाहिए किन्तु उन्होंने सालङ्कार शब्द-अर्थ में ही काव्यत्व स्वीकार किया।[2] इस प्रकार कुन्तक के मत में अलङ्कार काव्य का अविभाज्य अथवा नित्य अङ्ग है।

आचार्य भोज ने प्राचीन आलङ्कारिकों की भाँति काव्यशोभाजनक होने के कारण गुण एवं रसादि को अलङ्कार ही माना। वे अलङ्कारों को तीन वर्गों में विभाजित करते हैं—वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति। उपमादि की प्रधानता होने पर वक्रोक्ति, गुण की प्रधानता होने पर स्वभावोक्ति तथा रस-निष्पत्ति होने पर रसोक्ति

---

१. रसक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ (ध्वन्यालोक, २।१६)

२. अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता॥ (वक्रोक्तिजीवित, १/६)

अलङ्कार होता है। इस प्रकार भोज ने अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया।

आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद का समर्थन किया और ध्वनि को केन्द्रभूत मानकर गुण, अलङ्कार इत्यादि पर विचार किया। इन्होंने अलङ्कार को अङ्गी-रूप स्वीकार नहीं किया और प्राचीन आचार्यों की भाँति अलङ्कार को शोभाकारक न मानकर शोभावर्धक माना। चूँकि ध्वनिकार ने गुण को अङ्गी रसादि का आश्रित माना अतः गुण की अलङ्कार से पृथक सत्ता स्थापित हो गयी और वह अलङ्कार की अपेक्षा प्रधान तत्त्व हो गया। अलङ्कार रस का मात्र उपस्कारक ही रह गया। अतएव मम्मट के अनुसार जो तत्त्व हारादि आभूषण के समान अङ्गी रस के अङ्ग होकर उस रस को उपस्कृत करते है, उसे अनुप्रास-उपमादि अलङ्कार कहते हैं।[३] इस प्रकार मम्मट अलङ्कार को हारादि की भाँति काव्य शरीर (शब्द-अर्थ) पर आरोपित धर्म के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यह अलङ्कार काव्य का शोभावर्धक होता है किन्तु इसके अभाव में भी काव्यत्व वर्तमान रहता है। संक्षेपतः मम्मट के अलङ्कार-लक्षण में तीन तथ्य निहित हैं—(१) अलङ्कार रस के उपस्कारक हैं, किन्तु रस के धर्म नहीं हैं, (२) रस क उपस्कारक हैं किन्तु नियमतः रस के साथ नहीं रहते (अर्थात् जहाँ-जहाँ रस हो वहाँ-वहाँ अलङ्कार हो यह बात नहीं है), (३) सदा रस के उपस्कारक नहीं होते।

आचार्य रुय्यक ने भी, ध्वनिवाद का पोषक होने के कारण, अलङ्कार को आगन्तुक बाह्य शोभा माना तथा गुण को अलङ्कार की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया। उन्होंने सर्वप्रथम अलङ्कारों को सात वर्गों में विभक्त किया—सादृश्यमूलक, विरोध-मूलक, शृंखलामूलक, तर्क-न्यायमूलक, वाक्यन्यायमूलक, लोकन्यायमूलक और गूढार्थ-प्रतीतिमूलक।

कविराज विश्वनाथ ने भी मम्मट की भाँति अलङ्कार को रसादि का उपस्कारक एवं शब्दार्थ का अतिशय शोभाधायक अस्थिर धर्म माना है।[४]

ध्वनि की स्थापना के पश्चात् भी वाग्भट प्रथम ने भामह की भाँति अलङ्कार का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा कि दोषरहित, सगुण होने पर भी अलङ्काररहित काव्य आभूषणरहित स्त्री के रूप के समान मनोहर नहीं लगता।[५] आचार्य जयदेव ने

---

३. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ (काव्यप्रकाश, पृ० ३८१)

४. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्॥ (साहित्यदर्पण, पृ० ६६५)

५. दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः।
स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलङ्क्रियोच्चयम्॥ (वाग्भटालङ्कार, ४।१)

अलङ्काररहित शब्दार्थ में काव्यत्व की स्वीकृति को अनुष्ण अनल कथन के तुल्य कहा।[६] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे अलङ्कारवादी हैं किन्तु अलङ्कारों की हारादि आभूषणों से उपमा देने के कारण[७] एवं रसादि के विवेचन से ज्ञात होता है कि वे मम्मट के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं।

आचार्य विद्यानाथ ने भी अलङ्कार को वलय-नूपुर तुल्य मानते हुए अलङ्कारों को नव वर्गों में विभाजित किया—साधर्म्यमूल, अध्यवसायमूल, विरोधमूल, वाक्य-न्यायमूल, लोकव्यवहारमूल, शृंखलावैचित्र्यमूल, अपह्नवमूल, विशेषणवैचित्र्यमूल।

अप्पय दीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने भी मम्मटसम्मत अलङ्कार का स्वरूप स्वीकार किया है।

पण्डितराजोत्तरयुगीन कुछ आचार्य भामहादि का अनुसरण करते हुए अलङ्कार का प्राधान्य स्वीकार करते हैं तो कुछ आचार्य ध्वनिवाद से प्रभावित होकर अलङ्कार को काव्यशोभा का गौण उपकरण स्वीकार करते हैं।

आचार्य वेणीदत्त ने भामह की भाँति अलङ्कार को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना। उनका कहना है कि जिस प्रकार आभूषण रहित नारी सुन्दर नहीं लगती उसी प्रकार अलङ्काररहित काव्य सहृदय-जनहारी नहीं होता।[८] इस कथन से यह स्पष्ट है कि वेणीदत्त ने भी गुण की अपेक्षा अलङ्कार को अधिक महत्त्व दिया है। वे अलङ्कार की परिभाषा नहीं करते किन्तु अलङ्कारों का सविस्तर निरूपण करते हैं। आचार्य वेणीदत्त ने रसकौस्तुभ ग्रन्थ में रस-विवेचन ध्वनिवाद के सिद्धान्त के अनुसार किया है जिसमें अलङ्कार की स्थिति अङ्गरूप में मान्य है। अतः इन दोनों कथनों में कुछ विरोध दृष्टिगत होता है। हम कह सकते हैं कि वेणीदत्त चन्द्रालोककार जयदेव के अनुयायी हैं।

चिरञ्जीव रामदेव भट्टाचार्य अलंकार की उपमा स्त्रियों के आभूषण से देते हुए कहते हैं कि उपमादि के द्वारा ही काव्यस्वरूप भूषित होता है और उसके अभाव में काव्य विरूप हो जाता है।[९] इस प्रकार अलंकार को प्रमुख तत्त्व मानने के कारण चिरञ्जीव अलंकारवादी प्रतीत होते हैं किन्तु अलंकार की तुलना स्त्रियों के आभूषण से करना यह सिद्ध करता है कि वे मम्मटप्रभृति आचार्यों के अनुयायी हैं।

---

६. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ (चन्द्रालोक, पृ० ७)

७. हारादिवदलङ्कारसनिवेशो मनोहरः (वही, पृ० ३६)

८. अलंकारं विना नारी यथा न खलु रोचते।
तथैव तं बिना वाणी कवीनां नैव शोभते॥ (अलङ्कारमञ्जरी, पृ० १)

९. भूष्यन्ते काव्यरूपाणि विना तैः स्याद् विरूपता।
अलंकारा इति ख्यातास्तस्मात्ते योषितामिव॥ (काव्यविलास, पृ० १३)

श्रीकृष्ण कवि[१०] एवं विद्याराम[११] प्रभृति आचार्यों को भामह की भाँति अलंकार में कर्तृत्व मान्य है। विश्वनाथ देव, हरिदास सिद्धान्तवागीश, छज्जूराम शास्त्री प्रभृति आचार्य भी अलंकार को शोभाकर धर्म अर्थात् शोभाकारक के रूप में मानकर कर्तृत्व-प्रधान व्युत्पत्ति ही स्वीकार करते हैं। छज्जूराम शास्त्री ने अलंकार को शोभा का उत्पादक कहा है।[१२] हरिदास सिद्धान्तवागीश शब्दार्थ में सौन्दर्य के सम्पादक धर्म को अलंकार कहते हैं।[१३] विश्वनाथ देव गुणविशिष्ट काव्य के शोभाकार धर्म को अलंकार मानते हैं।[१४] दूसरे शब्दों में, काव्य में गुणों के द्वारा उत्पन्न शोभा को और अधिक शोभित करने वाले तत्त्व अलंकार कहलाते हैं। इस प्रकार विश्वनाथ देव भी आचार्य वामन की भाँति अलंकार को काव्यशोभातिशायी मानते हैं, मात्र काव्यशोभाकार नहीं। विद्याराम कवि का भी यही अभिमत है। उनके अनुसार अलंकार काव्य में उत्कृष्ट शोभाकारक होते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार हारादि आभूषण कुरूपा को भी रूपवती बना देते हैं उसी प्रकार अलंकार की सत्ता से काव्य सत्काव्य हो जाता है।[१५] इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विद्याराम कवि के मत में, दुष्ट काव्य भी अलंकारों के सद्भाव से उत्कृष्टशोभायुक्त हो जाता है। अलंकार की उपमा हारादि आभूषण से देने के कारण ये मम्मट के अनुयायी प्रतीत होते हैं। एक अन्य स्थल पर विद्याराम ने उत्कृष्ट चमत्कार उत्पन्न करने वाले तत्त्व को अलंकार कहा है।[१६] प्रायः सभी आचार्य चमत्कार को अलंकार का मूलभूत तत्त्व मानते हैं।

नरसिंह कवि ने आनन्दवर्धन प्रभृति आचार्यों की भाँति अलंकार में कर्तृत्व के स्थान पर करणत्व अर्थात् शोभासाधनत्व स्वीकार किया है। ध्वनिवादियों ने कर्तृत्व के स्थान पर करणत्व को स्वीकार कर अलंकार के अङ्गित्व को अयुक्त सिद्धकर अंगत्व की स्थापना की है। नरसिंह कवि आचार्य वामन की भाँति अलंकार को चारुत्व के अतिशय का हेतु कहते हैं।[१७] आचार्य ने गुण को समवाय वृत्ति से रसोपस्कारक और अलंकार को

---

१०. अलंकरोति शब्दार्थावित्यलंकार इष्यते। (मन्दारमरन्दचम्पू, पृ० १०९)

११. अलंकरोति योऽर्थं सोऽलंकारः प्रकीर्तितः। (रसदीर्घिका, पृ० ६१)

१२. काव्यशोभाकराः प्रोक्ता अलंकारा मनीषिभिः। (साहित्यबिन्दु, पृ० १४३)

१३. शब्दार्थयोः सौन्दर्यसम्पादको धर्मोऽलंकारः। (काव्यकौमुदी, पृ० ९९)

१४. गुणविशिष्टकाव्यशोभाकारिणो अलंकाराः।
(साहित्यसुधासिन्धु, पृ० ३२९)

१५. अलंकारास्तु काव्यस्य सच्छोभाकारकाः स्मृताः।
यथा हारादिका भूषाः कुरूपस्यापि रूपदाः॥ (रसदीर्घिका, पृ० ६०)

१६. सचमत्कारकारित्वं वाऽलंकारस्य लक्षणम्। (वही, पृ० ६१)

१७. अलंक्रियतेऽनेनेति चारुत्वातिशयहेतुरलंकारः।
(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १५४)

संयोग वृत्ति से रसोपस्कारक माना है।[18] आचार्य उद्भट ने गुण एवं अलंकार दोनों का काव्य-शरीर के साथ समवाय (नित्य) सम्बन्ध माना है। उनका मत है कि गुणों को शौर्यादि के समान समवायवृत्ति वाला और अलंकार को हारादि के समान संयोगवृत्ति वाला मानना अनुचित है क्योंकि शौर्यादि गुण एवं हारादि आभूषण लौकिक हैं, अतः इनमें भेद माना जा सकता है, किन्तु काव्यगत गुण एवं अलंकार अलौकिक होते हैं।

आचार्य अच्युत राय के अनुसार रसादिकों से भिन्न होने पर, शब्दविशेष सुनने के बाद जो चमत्कार जनन करे उसे अलंकार कहते हैं।[19] 'शब्द-विशेष' कहने से वीणा इत्यादि के अनुरणनादि से उत्पन्न चमत्कार का व्युदास हो जाता है। एक अन्य स्थल पर अच्युतराय ने शब्द ज्ञान से उत्पन्न आनन्द के रसादिभिन्न निमित्त कारण को अलंकार कहा है।[20]

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अलंकार का अर्थ अलंभाव अर्थात् अलंत्व किया है। उनके अनुसार यहाँ अलम् अव्यय का अर्थ 'पर्याप्त' ग्राह्य है। अतः अलंकार शब्द का अर्थ हुआ पर्याप्तता अथवा पूर्णता। उनका कहना है कि अलंकार शब्द सौन्दर्य और सौन्दर्यजनक दोनों के लिए प्रयुक्त होता है, जिस प्रकार आत्मा शब्द जीव एवं ब्रह्म दोनों का व्यापक है। इसी प्रकार काव्यलंकार भी काव्यगत सौन्दर्य एवं सौन्दर्य-हेतु दोनों को व्याप्त करता है।[21] आचार्य द्विवेदी ने अलंकार शब्द की तीन व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है—(१) अलंकृतिरलंकारः अर्थात् सौन्दर्य, (२) अलंक्रियतेऽनेनेति अर्थात् उपमादि और (३) अलं पर्याप्तं करोति इति अर्थात् सौन्दर्य, सौन्दर्यजनक उपमादि विशेष तथा अन्य अर्थान्तर इत्यादि।

आचार्य ब्रह्मानन्द शर्मा सत्यानुभूति को काव्यात्म तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि सत्य में सूक्ष्मता का आधान होने पर काव्य में प्रभावकारिता अथवा

---

१८. अथ काव्यमुख्यार्थभूतस्य रसस्य समवायवृत्त्या रसोपस्कारगुणनिरूपणानन्तरं संयोगवृत्त्या रसोपस्कारकालंकारनिरूपणं क्रियते।

(नञ्जराजयशोभूषण, पृ० १५४)

१९. रसादिभिन्नत्वे शब्दविशेषश्रवणोत्तरम्।
चमत्कारकरत्वं यदलंकारत्वमत्र तत्॥ (साहित्यसार, पृ० ३५७)

२०. रसादिभिन्नत्वे सति शब्दैककरणकज्ञानकरणकानन्दं प्रत्यदृष्टादिभिन्ननिमित्तकारणत्वमलंकारत्वमिति। (वही, पृ० ३५८)

२१. अलंभावो ह्यलंकारः, स च सौन्दर्यतत्कृतोः।
विभक्तात्मा विभुर्जीवब्रह्मणोश्चिद्घनो यथा॥
अलंकारोऽपि काव्यस्य तथा सौन्दर्य-तत्कृतोः।
अभिव्याप्य स्थितस्ताभिस्ताभिर्व्युत्पत्तिभिर्विभुः॥

(काव्यलंकारकारिका, पृ० ५२)

चमत्कारिता आती है। उनके अनुसार काव्य में सत्य सम्बन्धी सूक्ष्मता के आधान के सात उपाय हैं—सूक्ष्म धर्मों का आधान, सादृश्य, समर्थन, निमित्त का आधान, विरोधाभास, व्यञ्जना नामक विशिष्ट व्यापार और भावों का योग। इन सभी उपायों को आचार्य शर्मा अलंकार कहते हैं।[२२] सूक्ष्मधर्मोपादान रूप उपाय को स्वभावोक्त्यलंकार, सादृश्यविधानरूप उपाय को सादृश्यमूलक उपमादि अलंकार, समर्थनोपादान रूप उपाय को अर्थान्तरन्यास अलंकार, हेतूपादानरूप उपाय को काव्यलिंग अलंकार, विरोधोपादानरूप उपाय को विरोधमूलक विरोधादि अलंकार कहते हैं।

ध्वनिवादी आचार्य रसध्वनि के अभाव में अलंकारगत सौन्दर्य स्वीकार नहीं करते। आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि अचेतन शवशरीर कुण्डलादियुक्त होने पर भी सुशोभित नहीं होता, अलंकार्य (आत्मा) के अभाव होने से। इस प्रकार अभिनव काव्य में रस को प्राण तुल्य तथा रसाभाव में नीरस शब्दार्थ को शवशरीर तुल्य मानते हैं।

आचार्य शर्मा का कहना है कि रस के काव्य का प्राण होने पर भी रसरहित शब्दार्थ शवशरीरतुल्य नहीं हो सकता। क्योंकि, जिस प्रकार पूर्व विद्यमान प्राण का हरण ही शरीर की शवशरीरता है उसी प्रकार पूर्वविद्यमान रस का अपहरण होने पर ही शब्दार्थ को शवशरीरतुल्य कहा जा सकता है। परन्तु रसरहित शब्दार्थ में पूर्वविद्यमान रस का अपहरण नहीं होता अपितु रस के योग का अभाव मात्र होता है। इस प्रकार प्राण के अयोग मात्र से जैसे मूर्ति इत्यादि की स्थिति होती है उसी प्रकार रसरहित शब्दार्थ की स्थिति भी सम्भव है और जैसे मूर्ति अलंकार योग से चारुतर हो जाता है उसी प्रकार रसरहित शब्दार्थ में भी अलंकार योग से सौन्दर्ययोग हो जाता है।[२३]

ध्वनिवादी आचार्य अलंकार को हारादि सदृश मानते हैं। आचार्य शर्मा इसे अयुक्त मानते हैं। उनका कहना है कि हारादि शरीर से पृथक् स्थित होते हैं और इनका शरीर के साथ योग होता है, किन्तु काव्य में अलंकार की ऐसी स्थिति नहीं होती।[२४]

आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी अलंकार को वाच्य न मानकर प्रतीयमान स्वीकार करते हैं। वे वाच्यार्थगत चमत्कार को अलंकार कहते हैं। आचार्य शर्मा इसका खण्डन

---

२२. सूक्ष्मधर्मादयो येऽत्र, उपायाः केऽपि दर्शिताः।
अलंकाराभिधानं ते, भजन्त इति मे मतिः॥ (काव्यसत्यालोक, पृ० २६)

२३. प्राणहृतौ शरीरस्य, युक्ता शवशरीरता।
योगाभावो रसाभावे, न तु तस्य हृतिर्मता॥
रसाभावे भवेन्नाम, कृतेर्मूर्त्यादितुल्यता।
अलंकारादिकाधानम्, जायतेऽत्र न संशय॥ (वही, पृ० २८)

२४. हारादिवदलंकाराः इत्युक्तं ध्वनिवादिभिः।
शरीराद्धि पृथग्हारः नेयं स्थितिरलंकृतेः॥ (वही, पृ० २९)

करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार वाच्य की वाच्यता स्पष्ट है उसी प्रकार चारुता भी। यदि वाच्यगत चारुता को अवाच्य माना जाय तो व्यंग्यगत चारुता को भी अव्यंग्य मानना होगा।[२५]

अलङ्कारशास्त्र में सर्वप्रथम अलङ्कार-सामान्य का लक्षण नव्य न्याय की भाषा में अथवा नवीन दृष्टि से प्रस्तुत करने का श्रेय कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथ को है उन्होंने अपनी टीका अलङ्कारचन्द्रिका (कुवलयानन्द चन्द्रिका) में अलङ्कार का लक्षण करते हुए लिखा है—

'अलंकारत्वं च रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या विषयितासम्बन्धावच्छिन्ना चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता, तदवच्छेदकत्वम्' (पृ० २)।[२६]

रसादि से और व्यंग्य से भिन्न (अर्थात् वाच्य) होने पर शब्द और अर्थ में रहने वाली जो विषयिता सम्बन्ध से अवच्छिन्न चमत्कृति-जनकता की अवच्छेदकता, उसका धर्म अवच्छेदक ही अलङ्कार है।

इस लक्षण में 'रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति, कहने से रसवदादि का संग्रह एवं व्यंग्योपमादि का वारण हो जाता है। रसवदादि अलङ्कार में अव्याप्ति वारण के के लिये 'रसादिभिन्नत्व' व्यंग्य का विशेषण दिया गया है तथा व्यंग्योपमादि (ध्वनि) में अतिव्याप्ति वारण के लिये 'व्यंग्यभिन्नत्वे सति' का निवेश हुआ है, क्योंकि उपमादि अलङ्कार वाच्य ही होते हैं, व्यंग्य नहीं। शब्दज्ञान (अर्थात् श्रावण प्रत्यक्ष ) और अर्थज्ञान (शाब्द बोध) ही चमत्कार जनक होता है अर्थात् शब्दार्थ में ज्ञाततया कारणता है, स्वरूपत नहीं। अनुप्रासादि विशिष्ट शब्दज्ञान अथवा उपमादिविशिष्ट अर्थज्ञान होने पर आत्मा में चमत्कार उत्पन्न होता है। अतः चमत्कृतिजनकता विषयितासम्बन्धावच्छिन्ना हुई क्योंकि शब्दार्थ (विषय) ज्ञान (विषयी) में विषयिता सम्बन्ध में रहता और उसी ज्ञान में चमत्कृतिजनकता भी रहती है समानाधिकरण धर्मों में अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव होने से विषयिता अवच्छेदनक हुआ और चमत्कृतिजनकता अवच्छिन्न।

अब यह चमत्कृतिजनकता रहती है शब्दार्थ-ज्ञान में और ज्ञान का अवच्छेदक (विशेषण) है शब्दार्थ तथा शब्दार्थ का अवच्छेदक हुआ अनुप्रासादि अथवा उपमादि अलङ्कार। इस प्रकार लक्षण समन्वय हो जाता है।

उदाहरणार्थं—'चन्द्र इव मुखम्' उपमालङ्कार में अर्थ-ज्ञान का आकार होगा—'चन्द्रप्रतियोगिकसादृश्यविशिष्टं मुखविषयकं ज्ञानम्।' यहाँ चमत्कृतिजनकता (ज्ञाननिष्ठ) का अवच्छेदक है सादृश्य अर्थात् उपमालङ्कार। इसी प्रकार 'अनुप्रासादिविशिष्ट-

---

२५. वाच्ये या चारुता कापि, अवाच्या यदि सा मता।
व्यंग्येऽपि चारुता तर्हि, अव्यंग्याऽस्तीति मे मतिः॥ (वही, पृ० ३२)

२६. यह लक्षण साहित्यसार-टीका में भी उल्लिखित है।

शब्दज्ञान' कहने पर ज्ञान का अवच्छेदक ठहरता है 'शब्द' और शब्द का अवच्छेदक है 'अनुप्रासादि अलङ्कार'। इस प्रकार चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता का अवच्छेदक अलङ्कार ही ठहरता है।

चमत्कृतिजनकता का अवच्छेदक (विशेषण) जिस प्रकार शब्दार्थ पड़ता है, उसी प्रकार चमत्कृतिजनकता का अवच्छेदक (धर्म) 'ज्ञानत्व' भी हो सकता है। उपर्युक्त उदाहरण में ज्ञान का अवच्छेदक (धर्म विशेषण और) 'मुख'भी है और ज्ञानत्व' भी। अतः ज्ञानत्व में अतिव्याप्तिवारण के लिये चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता का विशेषण विषयितासम्बन्धावच्छिन्ना दिया गया है। ज्ञानत्व तो ज्ञान में समवाय सम्बन्ध से रहता हैं अतः उसका निरास हो जाता है। शब्दार्थ, ज्ञान में विषयिता सम्बन्ध से रहता है अतः विषयितासम्बन्धावच्छिन्ना कहने से शब्दार्थ का ही ग्रहण होता है और वही हमें विवक्षित है।

आचार्य वैद्यनाथ ने अलङ्कार को शब्दार्थान्यतरनिष्ठ माना है किन्तु अस्थिर धर्म का उल्लेख नहीं किया हैं, किन्तु 'व्यंग्यभिन्नत्वे सति' कहने से ही गुण में अतिव्याप्तिवारण हो जाता हैं क्योंकि गुण सदा व्यंग्य ही होता है। लक्षण में 'चमत्कृतिजनकता मात्र का प्रयोग करने से रीति में अतिव्याप्ति हो जाती है क्योंकि रीति भी चमत्कृतिजनक होती है। वैद्यनाथ अलङ्कारवादी होने त कारण अलङ्कार को रसोपस्कारक नहीं मानते है।

आचार्य देव शङ्कर पुरोहित ने भी नव्य न्याय की भाषा में अलङ्कार सामान्य लक्षण इस प्रकार किया है—

रसादिभिन्नव्यंग्यान्यच्छब्दार्थयोश्च या पृथक्।
चमत्कारप्रभवता तदवच्छेदकमलङ् क्रिया॥

(अलङ्कारमञ्जूषा, पृ० २४०)

इस कारिका की व्याख्या करते हुए पुरोहित लिखते हैं—'इतराङ्गीभूतरसभावभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठविषयितासम्बन्धावच्छिन्नचमत्कृतिजनकतावच्छेदकत्वं काव्यालङ्कारस्य लक्षणम्।'।

यहाँ पुरोहित एक ही अवच्छेदक मानते हैं पर वस्तुतः बिना दो अवच्छेदक माने अलङ्कार का लक्षण घटित नहीं होगा। चमत्कृतिजनकतावच्छेदक तो शब्द-अर्थ ही ठहरता है, अलङ्कार नहीं। अलङ्कार तो चमत्कृतिजनकतावच्छेदकतावच्छेदक ही होगा। कदाचित् पुरोहित अवच्छेदक कोटि में आने वाले अन्य अवच्छेदकों को भी अवच्छेदक ही कहते हैं, इसी अभिप्राय से यहाँ केवल एक अवच्छेदक का प्रयोग किया गया है। तभी तो उनका कहना है कि 'चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता अनुप्रासादिविशिष्ट शब्द अथवा

उपमादिविशिष्ट अर्थ में भी है तथा अनुप्रासादि एवं उपमादि अलंकार में भी है।[२७]

इसीलिए पुरोहित लक्षण का एक दूसरा विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार 'यद् वा इतराङ्गीभूतरसभावभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कृतिजनकतानिरूपितविषयिता सम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकता, तदवच्छेदकत्वं काव्यालङ्कारस्य लक्षणम्।

अनुप्रासाद्यलङ्कारविशिष्ट शब्दार्थ-ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में चमत्कार-जनक होता है (अर्थात् चमत्कृति=सुख-विशेष, आत्मा में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होती है क्योंकि गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है)। इसलिए चमत्कृतिजनकता (कारणता) को समवायसम्बन्धावच्छिन्न कहा गया।

यहाँ शब्दार्थज्ञान (चमत्कृतिजनक) कारण है और चमत्कृति कार्य। पुरोहित कहते हैं कि कारण और कार्य दोनों कोटियों में समवाय सम्बन्ध जोड़ना होगा अन्यथा व्यभिचार होगा अर्थात् कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध तथा कारणतावच्छेदक सम्बन्ध दोनों को समवाय कहना होगा। चमत्कृति (कार्य) कालिक सम्बन्ध से काल में रह सकती है किन्तु काल में शब्दार्थ ज्ञान (कारण) समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता (ज्ञान तो आत्मा में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है)। इस प्रकार कारण नहीं है और कार्य है, यह व्यतिरेक व्यभिचार होता है। इस व्यभिचार के वारण के लिए चमत्कृतिनिष्ठकार्यता को समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न कहना होगा। चमत्कृति समवाय सम्बन्ध से काल में तो रह नहीं सकती अतः दोष नहीं होगा। इसी प्रकार शब्दार्थ ज्ञान (कारण) कालिक सम्बन्ध से काल में रह सकता है लेकिन चमत्कृति (कार्य) समवाय सम्बन्ध से काल में नहीं रहती (चमत्कृति=सुखविशेष, तो आत्मा में ही समवाय सम्बन्ध से रहेगी)। यहाँ कारण है पर कार्य नहीं, अतः अन्वय व्यभिचार होता है। इस व्यभिचार के वारण के लिये चमत्कृतिजनकता (कारण) में भी समवायसम्बन्धावच्छिन्न का निवेश करना होगा। चमत्कृतिजनकता समवायसम्बन्ध से काल में नहीं रहता अतः दोष न होगा।

कारण और कार्य दोनों कोटियों में समवाय सम्बन्धावच्छिन्नत्व का निवेश करने पर यह फलित होता है—'समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कृतिनिष्ठकार्यतानिरूपित-समवायसम्बन्धावच्छिन्नजनकतानिरूपितविषयितासम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतावच्छेदकम् अलंकारत्वम्'। किन्तु तादृश अवच्छेदकावच्छेदकत्व अनुप्रासादिविशिष्ट तत्तत् शब्दगत आनुपूर्वी (पूर्वापरीभाव) तथा उपमादिविशिष्ट तत्तद् अर्थगत धर्म (मुखत्व इत्यादि) में भी चला जाता है। अतः अतिव्याप्ति हटाने के लिए अवच्छेदकावच्छेदकत्व को

---

२७. अनुप्रासादिविशिष्टशब्द उपमादिविशिष्टार्थे वा तादृशजनकतावच्छेदकत्वं-वर्ततेऽनुप्रासादावुपमादौ चेति लक्षणसमन्वयः।

(अलङ्कारमञ्जूषा, पृ० २४०-२४१)

अलङ्कारीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न कहना होगा। आनुपूर्वी और मुखत्वादि धर्म अलङ्कारीयस्वरूप सम्बन्ध से अवच्छिन्न नहीं हैं, अतः लक्षण अतिव्याप्त नहीं होगा। इस प्रकार पुरोहित के मत में अलंकार का निर्दुष्ट अथवा परिष्कृत लक्षण का अधोलिखित स्वरूप ठहरता है—

(इतराङ्गीभूतरसभावभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति) शब्दार्थान्यतरनिष्ठा या समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कृतिनिष्ठकार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नकारणता-निरूपितविषयितासम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकता, तन्निरूपितस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ना-वच्छेदकत्वं काव्यालंकारस्य लक्षणम्।

अर्थात् इतराङ्गीभूत जो रसादि, उससे भिन्न जो व्यंग्य, उस व्यंग्य से भिन्न होता हुआ, शब्द अथवा अर्थ रहने वाली समवायसम्बन्धावच्छिन्न जो चमत्कृतिनिष्ठ कार्यता, उस कार्यता से निरूपित जो समवायसम्बन्धावच्छिन्न कारणता, उस कारणता से निरूपित जो विषयितासम्बन्धावच्छिन्न चमत्कृतिजनकतावच्छेदकता, उसका जो अलङ्कारीयस्वरूप सम्बन्ध से अवच्छेदक हो, वही अलंकार है।

इस प्रकार आचार्य पुरोहित अलंकारचन्द्रिका के लक्षण में चार तथ्य और जोड़ते हैं—(१) केवल 'रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति' ही न कहकर 'इतराङ्गीभूत रसादिभिन्नव्यंग्यभिन्नत्वे सति' कहना चाहिये अन्यथा रसादि ध्वनि में अतिव्याप्ति हो जायगी। 'इतराङ्गीभूत०' कहने पर ही रसवदादि अलङ्कार का संग्रह हो सकेगा क्योंकि रसवदादि अलङ्कार में अन्य ही अङ्गीभूत होता है और रसादि उसके अङ्ग होते हैं। (२) चमत्कृतिजनकता (कारणता) और चमत्कृति (कार्य) दोनों को समवायसम्बन्धावच्छिन्न कहना चाहिये नहीं तो व्यभिचार हो जायेगा। (३) अवच्छेदकावच्छेदकत्व को अलङ्कारान्तरीय स्वरूपसम्बन्ध से अवच्छिन्न कहना चाहिये अन्यथा शब्दगत आनुपूर्वी एवं अर्थगत धर्म में अतिव्याप्ति हो जायगी। (४) केवल अलङ्कार शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए नहीं तो कटक-कुण्डलादि लौकिकालङ्कार में अव्याप्ति हो जायगी। अतः अव्याप्ति हटाने के लिए लक्षण में काव्यालङ्कार कहना चाहिये।

## अलंकार भेद

आद्य आचार्य भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलङ्कारों के लक्षण एवं उदाहरण का प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अक्षरसंघात इत्यादि ३६ लक्षणों का निरूपण किया है जिनमें से हेतु, संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, गुणातिशय, अर्थापत्ति, लेश इत्यादि अलङ्कार के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। भरत मुनि ने अलङ्कारों का शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार की दृष्टि से कोई स्पष्ट विभाजन नहीं किया है किन्तु यमक के शब्दालङ्कारत्व का संकेत किया है।

महर्षि व्यास ने अग्निपुराण में अनुप्रास, यमक और चित्र ये तीन शब्दालङ्कारों

तथा स्वरूप (स्वभावोक्ति), सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विशेषोक्ति, विभावना, विरोध और हेतु ये आठ अर्थालङ्कारों लक्षण लिखा है। इसके अतिरिक्त व्यास ने समाधि, आक्षेप, समासोक्ति, अपह्नुति और पर्यायोक्त इन पांच उभयालङ्कारों का निरूपण किया है।

आचार्य भामह ने अनुप्रास और यमक ये दो शब्दालङ्कार तथा ३६ अर्थालङ्कार माना है। इसी प्रकार दण्डी ने ३७, वामन ने ३१, उद्भट ने ४१, रुद्रट ने कुल ७३, भोजराज ने ७२, मम्मट ने ६७ तथा रसवदादि को मिलाकर कुल ७४, रुय्यक ने ८२, वाग्भट प्रथम ने ३९, हेमचन्द्र ने ३५, विद्याधर ने ८६, विद्यानाथ ने ७४, वाग्भट द्वितीय ने ६८, विश्वनाथ कविराज ने ८४, शोभाकर मित्र ने १०६, कर्णपूर गोस्वामी ने ७२, केशव मिश्र ने २२, अप्पय दीक्षित ने ११७ और पण्डितराज जगन्नाथ ने ७० (अपूर्ण) अलङ्कारों का निरूपण किया है।

पण्डितराजोत्तरवर्ती कुछ आचार्य शब्दालङ्कारों का विवेचन नहीं करते। सम्भवतः इसके दो कारण हैं—शब्दालङ्कारों का उतना महत्त्व नहीं है अथवा शब्दालङ्कारों के विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, वे सर्वमान्य हैं ही, इसलिये उनके निरूपण की आवश्यकता नहीं है। देव शंकर पुरोहित, विश्वेश्वर पण्डित, अरुणगिरि कवि प्रभृति आचार्यों ने शब्दालङ्कारों का विवेचन नहीं किया है। श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र-प्रभृति कुछ आचार्यों ने दण्डी आदि की भाँति पहले अर्थालङ्कार तदनन्तर शब्दालङ्कार का निरूपण किया है। इस क्रम का कारण सम्भवतः काव्यानुशासनकार की यह उक्ति है कि चूँकि शब्द, अर्थ पर ही आधृत हैं इसलिए पहले अर्थालङ्कार का विवेचन होना चाहिये। कुछ भी हो अर्थालंकार में प्रकर्षातिशय होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। इसके विपरीत नरसिंह कवि का मत है कि चूंकि शब्द प्रतीति के अनन्तर अर्थप्रतीति होती है इसलिए पहले शब्दालङ्कार का निरूपण होना चाहिए।

प्राचीन आचार्यों की भाँति पण्डितराजोत्तरयुगीन आचार्यों में भी अलङ्कारों की संख्या के विषय में मतैक्य नहीं है। विश्वेश्वर पण्डित ने तो अलङ्कारकौस्तुभ में मम्मटसम्मत ६१ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है तो अलङ्कारमुक्तावली एवं अलङ्कारप्रदीप ग्रन्थ में बालबोध के लिए क्रमशः ७० एवं ११७ अर्थालङ्कारों का विवेचन है।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में विद्याराम कवि अलङ्कारों की न्यूनतम संख्या स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शब्दालङ्कार आठ प्रकार का होता है—अनुप्रास, वक्रोक्ति, चित्र, गूढ, प्रहेलिका, श्लेष, प्रश्नोत्तर और यमक। वे कुल चौदह प्रकार का अर्थालङ्कार मानते हैं—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभावोक्ति, विरोधाभास, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेश, विशेषोक्ति तथा विभावना। किन्तु आचार्य ने अलङ्कारों की अल्प संख्या स्वीकार करने का कोई कारण उपन्यस्त नहीं किया है तथा अन्य अलङ्कारों का इनमें अन्तर्भाव भी नहीं दिखाया है।

छज्जूराम शास्त्री साहित्यबिन्दु में विद्यारामोक्त आठ शब्दालंकार तथा ५५ अर्थालङ्कार स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अर्थगत अलङ्कार ये हैं— १. उपमा, २. मालोपमा, ३. अनुपमा, ४. अनन्वय, ५. स्मृति, ६. रूपक, ७. प्रतीप, ८. उत्प्रेक्षा, ९. उल्लेख, १०. भ्रान्ति, ११. संदेह, १२. अपह्नुति, १३. निश्चय, १४. अतिशयोक्ति, १५. तुल्ययोगिता, १६. प्रतिवस्तूपमा, १७. व्यतिरेक, १८. सहोक्ति, १९. विनोक्ति, २०. निदर्शना, २१. दृष्टान्त, २२. समासोक्ति, २३. परिकर, २४. अप्रस्तुतप्रशंसा, २५. व्याजस्तुति, २६. अर्थान्तरन्यास, २७. विरोधाभास, २८. आक्षेप, २९. कारणमाला, ३०. एकावली, ३१. स्वभावोक्ति, ३२. छलोक्ति, ३३. परिवृत्ति, ३४. पर्यायोक्त, ३५. विभावना, ३६. विशेषोक्ति, ३७. असंगति, ३८. पर्याय, ३९. विषम, ४०. सम, ४१. व्याघात, ४२. विशेष, ४३. यथासंख्य, ४४, समाधि ४५. तद्गुण, ४६. अतद्गुण ४७. परिसंख्या, ४८. उदात्त, ४९. विकल्प, ५०. काव्यलिंग, ५१. प्रत्यनीक, ५२. काव्यार्थापत्ति, ५३. सार, ५४. संसृष्टि, ५५. सङ्कर।

आचार्य वेणीदत्त ने अलङ्कारमंजरी मे चार शब्दालङ्कार तथा ६० अर्थालङ्कार माना है। वे उपर्युक्त भेदों में से चित्र, गूढ, प्रहेलिका और प्रश्नोत्तर शब्दालङ्कार का निरूपण नही करते। अर्थालङ्कार के निरूपण मे वेणीदत्त ने प्रायः आचार्य मम्मट का ही अनुसरण किया है, किन्तु वे मम्मटोक्त कारणमाला एवं असंगति का विवेचन नहीं करते तथा प्रहर्षण नामक भिन्न अलङ्कार स्वीकार करते हैं।

आचार्य विश्वेश्वर पण्डित ने अलङ्कार कौस्तुभ में मम्मटसम्मत ६१ अर्थालङ्कारों का नव्य न्याय की भाषा में पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। आचार्य ने अन्य अलङ्कारों का इन्हीं अलङ्कारों में अन्तर्भाव भी प्रस्तुत किया है। वे अनुगुण, अल्प, सम्भव, अनुकूल, उन्मीलित, उल्लेख, निमीलित, निश्चय, परिकराङ्कुर, क्रम, परिणाम पूर्वरूपता, प्रस्तुताङ्कुर, प्रहर्षण, प्रौढोक्ति, मिथ्याध्यवसिति, युक्ति, ललित, लेश, विकस्वर, विचित्र, वितर्क, विशेष, विषाद, सम्भावन और हेतु—इन २६ अलङ्कार को स्वतन्त्र अलङ्कार न मानकर मम्मटोक्त अलङ्कारों में ही अन्तर्भूत मानते हैं।[२८] आचार्य विश्वनाथ देव ने भी मम्मटसम्मत ६ शब्दालङ्कार तथा ६१ अर्थालङ्कारों का निरूपण किया है।

नरसिंह कवि ने शब्दालङ्कार के चार भेद किये हैं—अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, यमक और चित्र। वे अर्थालङ्कारों की संख्या ७० स्वीकार करते हैं। आचार्य ने मम्मटोक्त सार एव सामान्य अलङ्कार का निरूपण नहीं किया है तथा परिणाम, उल्लेख, वक्रोक्ति, विचित्र, प्रस्तुताङ्कुर, अर्थापत्ति, विकल्प, तत्कर, लोकोक्ति, छेकोक्ति एवं मालादीपक अलङ्कारों का विवेचन किया है।

---

२८. संस्कृत साहित्य, विशेषतः काव्यशास्त्र में विश्वेश्वर पर्वतीय का योगदान।
—जगन्नाथ जोशी

अरुण गिरि कवि ने गोदवर्मयशोभूषण में ७१ अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। वे मम्मटोक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त परिणाम, उल्लेख, परिकराङ्कुर विचित्र, मालादीपक, अर्थापत्ति, विकल्प, तत्कर, प्रश्नोत्तर और वक्रोक्ति अलङ्कारों का भी निरूपण करते हैं।

रामदेव चिरञ्जीव भट्टाचार्य भी शब्दालङ्कार में वक्रोक्ति एवं श्लेष की गणना न कर चार प्रकार का ही शब्दालङ्कार स्वीकार करते हैं—चित्र, अनुप्रास, यमक और पुनरुक्तप्रतीकाश। वे अर्थालङ्कारों में उपमेयोपमा, सूक्ष्म, संसृष्टि एवं सङ्कर का उल्लेख नहीं करते किन्तु मम्मटोक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त परिणाम, उल्लेख, ललितोपमा, अर्थापत्ति, उन्मीलित, परिकराङ्कुर, प्रहर्षण, विषादन, प्रौढोक्ति, सम्भावन, आवृत्ति दीपक, असम्भव, विचित्र, मालादीपक, विकल्प, उल्लास, पूर्वरूप, अवज्ञा, अनुगुण, वक्रोक्ति, पिहित, अत्युक्ति, गुम्फ, भाविकचछवि, अलङ्कारों का निरूपण करते हैं।

आचार्य अच्युतराय ने शब्दालङ्कारों में मात्र अनुप्रास एवं यमक दो शब्दालङ्कारों का निरूपण किया है। वे अर्थालङ्कारों में उपमेयोपमा और कारणमाला का निरूपण नहीं करते तथा मम्मटोक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त उदाहरण, परिणाम, उल्लेख, निश्चय, परिकराङ्कुर, प्रौढोक्ति, सम्भावन, प्रस्तुताङ्कुर, व्याजनिन्दा, असम्भव, विचित्र, अल्प, मालादीपक, ललित, प्रहर्षण, उल्लास, अवज्ञा, लेश, विकल्प, पूर्वरूप, अनुगुण, पिहित, गूढोक्ति, युक्ति,व क्रोक्ति, निरुक्ति, निषेध, विधि, छेकोक्ति, वितर्क, प्रत्यक्ष, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, असम, तिरस्कृति, अनुकूल, प्रमाण अलङ्कारों का विवेचन करते हैं।

आचार्य देव शङ्कर पुरोहित ने शब्दालङ्कारों का विवेचन नहीं किया है। उन्हें अर्थालङ्कारों की संख्या ११५ मान्य है। उन्होंने मम्मटोक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त ललितोपमा, परिणाम, उल्लेख, आवृत्तिदोपक परिकराङ्कुर, प्रस्तुताङ्कुर, व्याजनिन्दा, असम्भव, विचित्र, अल्प, मालादीपक, विकल्प, कारकदीपक, काव्यार्थापत्ति, विकस्वर, प्रौढोक्ति, सम्भावन, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, पूर्वरूप, अनुगुण, उन्मीलित, विशेषक, चित्र, पिहित, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, प्रत्यक्ष, उपमान, शब्द, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता अलङ्कारों का विवेचन किया है।

श्रीकृष्ण कवि मुख्यतः चार शब्दालङ्कार अनुप्रास, पुनरुक्त, यमक और चित्र का निरूपण करते हैं, किन्तु उन्होंने अनुप्रास के भेदों छेक, वृत्ति और लाट का स्वतन्त्र रूप से विवेचन कर शब्दालङ्कार के ६ भेद किये हैं। ये भी ११५ अर्थालङ्कार स्वीकार करते हैं किन्तु इन्होंने भट्ट देव शङ्कर पुरोहित के ललितोपमा, उपमान, प्रेय, संसृष्टि और सङ्कर का निरूपण न कर इनके स्थान पर प्रश्न, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य अलङ्कारों का निरूपण किया है।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों में श्रीकृष्ण परब्रह्म परतन्त्र अलङ्कारों की सर्वाधिक संख्या स्वीकार करते है। वे शब्दालङ्कार चार प्रकार का ही मानते हैं—अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवद् और चित्र। अर्थालङ्कारों में उन्होंने देवशङ्कर पुरोहित के ललितोपमा अलङ्कार का उल्लेख नहीं किया है तथा पुरोहितोक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त उदाहरण, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य, असम और तिरस्कृति अलङ्कारों का निरूपण कर अर्थालङ्कारों की कुल संख्या १२१ स्वीकार की है।

पण्डितराजोत्तर आचार्यों ने उपर्युक्त अलङ्कारों का निरूपण पूर्ववर्ती आचार्य-सम्मत ही किया है। विश्वेश्वर पण्डित, देव शङ्कर पुरोहित प्रभृति आचार्यों के ग्रन्थों में प्रचुर मौलिकता है, किन्तु अलङ्कारों के संख्या-बाहुल्य को देखते हुए, प्रबन्ध के विस्तार के भय से प्रत्येक अलङ्कार एवं उसके भेदोपभेद का निरूपण नहीं किया जा रहा है।

—०—

# उपस्कारक ग्रन्थ-सूची

## परिशीलित ग्रन्थ

| | | |
|---|---|---|
| १. अलङ्कार कौस्तुभ | — | विश्वेश्वर पण्डित |
| २. अलङ्कार प्रदीप | — | विश्वेश्वर पण्डित |
| ३ अलङ्कारमञ्जरी | — | वेणीदत्त शर्मन् |
| ४. अलङ्कारमञ्जूषा | — | भट्टदेव शङ्कर 'पुरोहित' |
| ५. अलङ्कार मणिहार | — | श्रीकृष्णब्रह्मतन्त्र परकाल संयमीन्द्र |
| ६. अलङ्कार मुक्तावली | — | विश्वेश्वर पण्डित |
| ७. अलङ्कारसुधा (कुवलयानन्द-टीका) | — | नागेश भट्ट |
| ८. उदाहरणदीपिका (काव्यप्रकाश टीका) | — | नागेश भट्ट |
| ९. कविकौस्तुभ | — | रघुनाथ मनोहर |
| १०. काव्यकौमुदी | — | हरिदास सिद्धान्तवागीश |
| ११. काव्यदर्पण | — | राजचूडामणि दीक्षित |
| १२. काव्यदीपिका | — | कान्तिचन्द्र मुखोपाध्याय |
| १३. काव्यप्रकाशखण्डन | — | सिद्धि चन्द्र गणि |
| १४. काव्यप्रबन्ध | — | बालकृष्ण भट्ट शास्त्री |
| १५. काव्यविलास | — | चिरञ्जीव भट्टाचार्य |
| १६. काव्यसत्यालोक | — | ब्रह्मानन्द शर्मा |
| १७. काव्यालङ्कारकारिका | — | रेवाप्रसाद द्विवेदी |
| १८. काव्येन्दुप्रकाश | — | कामराजदीक्षित |
| १९. कुवलयानन्दचन्द्रिकाचकोर | — | जग्गू वेंकटाचार्य |
| २०. कोविदानन्द | — | आशाधरभट्ट |
| २१. गुरुमर्मप्रकाश (रसगङ्गाधर-टीका) | — | नागेश भट्ट |
| २२. गोदवर्मयशोभूषण | — | अरुण गिरि कवि |
| २३. त्रिवेणिका | — | आशाधर भट्ट |
| २४. दीपशिखा (ध्वन्यालोक-टीका) | — | चण्डिका प्रसाद शुक्ल |
| २५. नञ्जराजयशोभूषण | — | नरसिंह कवि |
| २६. नवरसमञ्जरी | — | नरहरि |
| २७. प्रकाश (रसमञ्जरी-टीका) | — | नागेश भट्ट |

२८. बालबोधिनी (काव्यप्रकाश-टीका) — वामन झलकीकर
२९. बृहत् एवं लघु उद्योत (काव्यप्रकाश-टीका) — नागेश भट्ट
३०. मन्दारमरन्दचम्पू — श्रीकृष्ण कवि
३१. रसकौस्तुभ — वेणीदत्त शर्मन्
३२. रसगंगाधरमर्मप्रकाशमर्मोद्घाटनम् — जग्गू वेंकटाचार्य
३३. रसचन्द्रिका — विश्वेश्वर पण्डित
३४. रसतरंगिणी-टीका — नागेश भट्ट
३५. दसदीर्घिका — विद्याराम कवि
३६. रसमहार्णव — गोकुलनाथ मैथिल
३७. रस मीमांसा — गंगाराम जडी
३८. रस विलास — भूदेव शुक्ल
३९. रसिक जीवन — गदाधर भट्ट
४०. रसिक जीवन — रामानन्द पति त्रिपाठी
४१. वस्त्वलंकारदर्शनम् — ब्रह्मानन्द शर्मा
४२. वृत्तिदीपिका — कृष्णभट्ट मौनी
४३. व्यञ्जनाविमर्श — रवि शङ्कर नागर
४४. शृङ्गारसारिणी — चित्रधर
४५. शृङ्गारामृतलहरी — सामराज दीक्षित
४६. साहित्यकौमुदी — बलदेव विद्याभूषण
४७. साहित्यबिन्दु — छज्जूराम शास्त्री 'विद्यासागर'
४८. साहित्य विमर्श — कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा
४९. साहित्यसार — अच्युतराय 'मोडक'
५०. साहित्यसुधासिन्धु — विश्वनाथ देव
५१. साहित्योद्देश — सीताराम शास्त्री
५२. सुधा (चित्रमीमांसा टीका) — धरानन्द

## सहायक ग्रन्थ

१. अमृतोदयम् (गोकुलनाथ मैथिल)—सम्पादक : रामचन्द्र मिश्र
२. आधुनिक संस्कृत साहित्य—हीरालाल शुक्ल
३. काव्यदोष—जनार्दन स्वरूप अग्रवाल
४. काव्यप्रकाश (मम्मट)—सम्पादक : विश्वेश्वर
५. काव्य मीमांसा (राजशेखर)—सम्पादक : केदारनाथ शर्मा सारस्वत
६. काव्यात्म मीमांसा—जयमन्त मिश्र

७. काव्यादर्श (दण्डी)—सम्पादक : रामचन्द्र मिश्र
८. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र)—सम्पादक : रसिक लाल
९. काव्यालंकार (रुद्रट)—सम्पादक : सत्यदेव चौधरी
१०. काव्यालंकारसूत्राणि (वामन)—सम्पादक : बेचन झा
११. चन्द्रालोक (जयदेव)—सम्पादक : महादेव गङ्गाधर बाक्रे
१२. जयपुर की संस्कृत साहित्य को देन—प्रभाकर शास्त्री
१३. नाट्यशास्त्र (भरतमुनि)—सम्पादक : बाबुलाल शुक्ल
१४. भारतीय साहित्यशास्त्र – बलदेव उपाध्याय
१५. भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालङ्कार—भोलाशङ्कर व्यास
१६. महेशचन्द्र तर्कचूडामणि:, तदीयकृतीनां विशिष्टाध्ययनम्—जगदीश प्रसाद मिश्र
१७. रसगङ्गाधर (पण्डितराज जगन्नाथ)—सम्पादक : मधुसूदन शास्त्री
१८. वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)—सम्पादक : राधेश्याम मिश्र
१९. व्यक्तिविवेक (महिम भट्ट)—सम्पादक : रेवा प्रसाद द्विवेदी
२०. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वी० वरदाचार्य
२१. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास—कपिल देव द्विवेदी
२२. साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)—सम्पादक : सत्यव्रत सिंह
२३. साहित्यशास्त्रीय तत्त्वों का आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन—मधुसुदन शास्त्री
२४. संस्कृत साहित्य, विशेषत: काव्यशास्त्र में विश्वेश्वर पर्वतीय का योगदान (शोधप्रबन्ध)—जगन्नाथ जोशी
25. A History of classical Sanakrit Literature—M. Krishnamachariar
26. A History of Sanskrit literature—S. N. Das Gupta & S. K. De
27. Bhoja's S'rngar Prakash—V. Raghvan
28. History of Sanskrit Poetics—P. V. Kane
29. History of Sanskrit Poeti cs—S. K. De
30. Some Concepts of Alankar Snastra—V. Raghvan
31. The nmber of Raghvan

## Journals and Catalogues

१. कलकत्ता ओरियण्टल जरनल

२. प्राची ज्योति—कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

३. मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत शोध पत्रिका

४. सागरिका—सागर विश्वविद्यालय, मध्यप्रदेश

5. All India Oriental Conference proceedings and Summeries

6. Proceeding, International Sanskrit Conference.

7. The Pandit—Benares College

८. दरभंगाराज हस्तलिखितग्रन्थानां सूचीपत्रम्

9. A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts of Orissa.

10. A descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts Saraswati Bhawan Varanasi (Vol. XI)

11. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona (Vol. XII)

12. New Catalogus Catalogurum—Aufrecht, Ed. V. Raghvan.

13. Saraswati Mahal Tanzore Mss. Catalogue (Vol. IX).

—o—

# ग्रन्थानुक्रमणिका

## (आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र)

### मूलग्रन्थ

१. अभिनव काव्य प्रकाश — गिरिधर लाल व्यास शास्त्री
२. अभिनव रस मीमांसा — ब्रह्मानन्द शर्मा
३. अलङ्कार कौतुक — हरि शास्त्री दाधीच,
४. अलङ्कार कौतुभ — कल्याण सुब्रह्मण्य सूरि
५. अलङ्कार कौतुभ — विश्वेश्वर पण्डित
६. अलङ्कार कौतुभ — वेंकटाचार्य तर्कालङ्कार वागीश्वर
७. अलङ्कार कौतुभ — श्री निवास दीक्षित
८. अलङ्कार ग्रन्थ (शाहराजीय) — काशी अथवा काशीकर लक्ष्मणकवि
९. अलङ्कार चन्द्रोदय — वेणीदत्त शर्मन् तर्क वागीश
१०. अलङ्कार चूड़ामणि — राजचूडामणि दीक्षित
११. अलङ्कार तिलक — श्रीकर मिश्र
१२. अलङ्कार दर्पण — शितिकण्ठ वाचस्पति
१३. अलङ्कार निकष — सुधीन्द्र योगिन्
१४. अलङ्कार प्रदीप — विश्वेश्वर पण्डित
१५. अलङ्कार परिष्कार — विश्वनाथ न्यायपञ्चानन
१६. अलङ्कार मकरन्द — कोल्लूरि राजशेखर
१७. अलङ्कार मञ्जरी — वेणीदत्त शर्मन्
१८. अलङ्कार मञ्जरी — सुधीन्द्र योगिन्
१९. अलङ्कार मञ्जूषा — भट्ट देवशङ्कर 'पुरोहित'
२०. अलङ्कार मणिदर्पण — वेंकप्रभु
२१. अलङ्कार मणिमाला — मणि शङ्कर गोविन्द
२२. अलङ्कार मणिहार — श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल संयमीन्द्र
२३. अलङ्कार माला — मुदुम्बई नरसिंह आचार्य
२४. अलङ्कार मीमांसा — कृष्ण सूरि
२५. अलङ्कार मुक्तावली — विश्वेश्वर पण्डित

२६. अलङ्कार मुक्तावली — कृष्ण दीक्षित
२७. अलङ्कार मुक्तावली — चावलि राम शास्त्री
२८. अलङ्कार मुक्तावली — लक्ष्मीधर दीक्षित
२९. अलङ्कार रत्नाकर — यज्ञ नारायण दीक्षित
३०. अलङ्कार लक्षणानि — शम्भु नाथ
३१. अलङ्कार लीला — हरि शास्त्री दाधीच
३२. अलङ्कार शास्त्र संग्रह — राम सुब्रह्मण्य
३३. अलङ्कार संग्रह — रंगाचार्य रंगनाथाचार्य
३४. अलङ्कार समुद्गक — शिवराम त्रिपाठी
३५. अलङ्कार सार — बालकृष्ण भट्ट
३६. अलङ्कार सारोद्धार — भीमसेन दीक्षित
३७. अलङ्कार सुधा सिन्धु — आणिविल्ल वेंकट शास्त्री
३८. अलङ्कार सूत्राणि — चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार
३९. कविकार्य विचार — राज गोपाल चक्रवर्ती
४०. कवि कौस्तुभ — रघुनाथ मनोहर
४१. कवि चिन्तामणि — गोपी नाथ कवि भूषण
४२. कविता रहस्यम् — मथुरा प्रसाद दीक्षित
४३. कवि समय कल्लोल — अनन्तार्य
४४. काव्य कलानिधि — कृष्ण सुधी
४५. काव्य कला रहस्य — मथुरा नाथ शास्त्री
४६. काव्य मौमुदी — हरिदास सिद्धान्त वागीश
४७. काव्य कौस्तुभम् — बलदेव विद्याभूषण
४८. काव्यकौमुदी — रत्न भूषण
४९. काव्यचन्द्रिका — कविचन्द्र
५०. काव्यचन्द्रिका — रामचन्द्र न्यायवागीश
५१. काव्यचन्द्रिका — अन्नदाचरण तर्कचूड़ामणि
५२. काव्यचिन्ता — कालीपद तर्काचार्य
५३. काव्य तत्त्व प्रकाश — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
५४. काव्यदर्पण — राजचूडामणि दीक्षित
५५. काव्यदर्पण — श्रीनिवास दीक्षित
५६. काव्य दीपिका — कान्तिचन्द्र मुखोपाध्याय
५७. काव्यप्रकाश प्राकृतार्थ — रामानन्द पति त्रिपाठी
५८. काव्यप्रकाश सार — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
५९. काव्यप्रयोगविधि — मुदुम्बई नरसिंह आचार्य
६०. काव्यमीमांसा — नारायण शास्त्री

| | |
|---|---|
| ९६. भाव निर्दर्शिका | — जगन्नाथ प्रसाद वर्मा |
| ९७. मन्दार मरन्दचम्पू | — श्रीकृष्ण कवि |
| ९८. मुग्धमेधाकर | — अनुरथमण्डन |
| ९९. मेकाधीश शब्दार्थ कल्पतरु | --- चेर्ल भाष्यकार शास्त्री |
| १००. यशवन्तयशोभूषणम् | — मुरारिदान चरण |
| १०१. यशवन्तयशोभूषणम् | — सुब्रह्मण्य शास्त्री |
| १०२. वस्त्वलङ्कारदर्शनम् | — ब्रह्मानन्द शर्मा |
| १०३. वाणीभूषणम् | — दामोदर शास्त्री |
| १०४. विमर्श | — नारायण शास्त्री |
| १०५. वृत्तालङ्कार | — छवि लाल सूरि |
| १०६. वृत्तालङ्कार रत्नावली | — श्वेतारण्यम् नारायण यज्वन् |
| १०७. वृत्ति दीपिका | — मौनी श्रीकृष्ण भट्ट |
| १०८. वृत्तिबोधनम् | — बलभद्र सिंह |
| १०९ वेंकटाद्रिगुण रत्नावली | — चेर्ल वेंकट शास्त्री |
| ११०. व्यञ्जनावाद | — यदु नाथ झा |
| १११. रघुनाथ भूपालीय | — कृष्ण दीक्षित |
| ११२. रदोद्भेदिनी | — रामाचार्य |
| ११३. रसकल्पद्रुम | — चतुर्भुज |
| ११४. रसकलपद्रुम | — जगन्नाथ मिश्र |
| ११५. रसकौमुदी | — घासीराम पण्डित |
| ११६. रसकौस्तुभ | — वेणीदत्त शार्मन् |
| ११७. रसचन्द्र | — घासी राम पण्डित |
| ११८. रसचन्द्रिका | — विश्वेश्वर पण्डित |
| ११९. रसचन्द्रिका | — लेखनाथ |
| १२०. रसदीर्घिका | — विद्याराम |
| १२१. रसनिर्णय | — कामराज दीक्षित |
| १२२ रसप्रपञ्च | — आणिविलय वेंकट शास्त्री |
| १२३. रसमञ्जरी | — लक्ष्मीधर दीक्षित |
| १२४. रसमहार्णव | — गोकुल नाथ मैथिल |
| १२५. रस मीमांसा | — गंगाराम जडी |
| १२६. रस मुक्तावली | — गंदाधर नारायण मञ्ज |
| १२७. रस विलास | — भूदेव शुक्ल |
| १२८. रस रत्नहार | — शिवराम त्रिपाठी |
| १२९. रस रत्नावली | — वीरेश्वर पण्डित भट्टाचार्य 'श्रीवर' |
| १३०. रस सिन्धु | — रामेश्वर पौण्ड्रीक |

१३१. रस सुधानिधि — शोंठिमार भट्टारक
१३२. रसालोचनम् — ब्रह्मानन्द शर्मा
१३३. रसिक जीवनम् — रामानन्द पति त्रिपाठी
१३४. रसिक जीवनम् — गदाधर भट्ट
१३५. रामचन्द्र चन्द्रिका — इन्द्रजिल
१३६. रामचन्द्र यशोभूषण — कच्छपेश्वर दीक्षित
१३७. रामाभ्युदयम् — अन्नदाचरण तर्कचूडामणि
१३८. रामोदयम् — इलत्तूर रामस्वामी
१३९. लक्षण चन्द्रिका — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
१४०. लक्षण दीपिका — गौरनार्यं
१४१. लघुरस कुसुमाञ्जलि — चण्ड मारुताचार्य
१४२. शब्दभेदनिरूपण — वेंकट कृष्ण
१४३. शब्दभेदनिरूपण — नारायण
१४४. शब्दशक्ति निरूपण — रामभद्र दीक्षित
१४५. शिवार्थालङ्कारस्तव — श्वेतारण्यम् नारायण यज्वन्
१४६. शृङ्गारमञ्जरी — अकबर शाह
१४७. शृङ्गारमाला — सुख लाल
१४८. शृङ्गारलता — सुखदेव मिश्र
१४९. शृङ्गार लहरी — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
१५०. शृङ्गार सरसी — भाव मिश्र
१५१. शृङ्गार सारिणी — चित्रधर
१५२. शृङ्गार हार — बलदेव
१५३. शृङ्गारामृतलहरी — सामराज दीक्षित
१५४. सारस्वतालङ्कार सूत्र एवं भाष्य — श्रीकृष्ण कवि
१५५. साहित्य कल्पद्रुम — आणिविल्ल नारायण शास्त्री
१५६. साहित्य कल्पद्रुम — कोल्लूरि राजशेखर
१५७. साहित्य कल्पलतिका — कृष्ण सूरि
१५८. साहित्य कल्लोलिनी — भास्कराचार्य
१५९. साहित्य कुतूहल — रघुनाथ
१६०. साहित्य कुतूहल — यशस्विन् कवि
१६१. साहित्य कौमुदी — बलदेव विद्याभूषण
१६२. साहित्य चिन्तामणि — सीताराम भट्ट पर्वणीकर

१६३. साहित्य तत्त्वम् — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
१६४. साहित्य तरंगिणी — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
१६५. साहित्य दीपिका — भास्कर मिश्र
१६६. साहित्य नलिनी — अम्बिका दत्त व्यास
१६७. साहित्य बिन्दु — छज्जू राम शास्त्री 'विद्यासागर'
१६८. साहित्य मञ्जूषा — सदा जी
१६९. साहित्य विमर्श — कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा
१७०. साहित्य रत्नावली — रामावतार शर्मा
१७१. साहित्य सार — अच्युतराय शर्मन्
१७२. साहित्य सार — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
१७३. साहित्य सार संग्रह — सुधाकर महाशब्दे
१७४. साहित्य सुधानिधि — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
१७५. साहित्य सुधा सिन्धु — विश्वनाथ देव
१७६. साहित्य सूक्ष्म सरणि — श्रीनिवास दीक्षित
१७७. साहित्यार्णव — सीताराम भट्ट पर्वणीकर
१७८. साहित्योद्देश — सीताराम शास्त्री

## टीका ग्रन्थ

| | | |
|---|---|---|
| १. अलङ्कार कौस्तुभ | — टीका | — लोकनाथ चक्रवर्ती |
| २. ,, | — टीका | — सार्वभौम |
| ३. ,, | — दीधिति प्रकाशिका | — वृन्दावन चन्द्रतर्कालङ्कार चक्रवर्त्ती |
| ४. ,, | — सारबोधिनी | — विश्वनाथ चक्रवर्त्ती |
| ५. अलङ्कार मञ्जरी | — मधुधारा | — सुमतीन्द्र |
| ६. उज्ज्वल नीलमणि | — टीका | — नेमिशाह |
| ७. ,, | — आनन्द चन्द्रिका या किरण | — विश्वनाथ चक्रवर्ती |
| ८. काव्य कल्पलता | — मकरन्द | — शुभ विजय गणि |
| ९. काव्य प्रकाश | — उदाहरण चन्द्रिका | — वैद्यनाथ तत्सत् |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १०. | काव्य प्रकाश | — उदाहरण दीपिका या प्रदीप | — नागेश भट्ट |
| ११. | ,, | — काव्य कौमुदी | — देवनाथ 'तर्कपञ्चानन' |
| १२. | ,, | — खण्डन | — सिद्धिचन्द्रमणि |
| १३. | ,, | — टीका | — गदाधर चक्रवर्ती भट्टाचार्य |
| १४. | ,, | — टीका | — कमलाकर भट्ट |
| १५. | ,, | — टीका | — विजयानन्द |
| १६. | ,, | — टीका | — पण्डितराज रघुनन्दन |
| १७. | ,, | — टीका | — यशोविजय |
| १८. | ,, | — टीका | — नारायण दीक्षित |
| १९. | ,, | — टीका | — तिरुवेंकट |
| २०. | ,, | — टीका | — महेशचन्द्र न्यायरत्न |
| २१. | ,, | — तिलक या जयरामी | — जयराम न्याय पंचानन |
| २२. | ,, | — दीपिका | — शिवनारायण दास |
| २३. | ,, | — नरसिंह मनीषा | — नरसिंह ठाकुर |
| २४. | ,, | — निदर्शन या शितिकंठ विबोधन | — आनन्द राजानक |
| २५. | ,, | — परीक्षा या विद्या-सागरी | — छज्जूराम शास्त्री 'विद्यासागर' |
| २६. | ,, | — प्रकाशोत्तेजिनी या सर्वटीका भञ्जनी | — वेदान्ताचार्य |
| २७. | ,, | — बालबोधिनी | — वामन भट्ट झलकीकर |
| २८. | ,, | — बृहत् एवं लघु उद्योत | — नागेश भट्ट |
| २९. | ,, | — बृहती | — सिद्धि चन्द्र गणि |
| ३०. | ,, | — भावार्थ चिन्तामणि या आदर्श | — महेश्वर न्यायालङ्कार |
| ३१. | ,, | — विवरण | — गोकुल नाथ मैथिल |
| ३२. | ,, | — विषमपदी | — शिवराम त्रिपाठी |
| ३३. | ,, | — व्याख्या | — खुद्दी झा |
| ३४. | ,, | — रसप्रकाश | — श्रीकृष्ण कवि |
| ३५. | ,, | — रहस्य प्रकाश | — रामनाथ 'विद्यावाचस्पति' |

| | | |
|---|---|---|
| ३६. काव्य प्रकाश | — रहस्य प्रकाश | — जगदीश तर्कपञ्चानन भट्टाचार्य |
| ३७. ,, | — लीला | — भवदेव |
| ३८. ,, | — सारदीपिका | — गुण रत्न गणि |
| ३९. ,, | — सारसमुच्चय | — राजानक रत्नकण्ठ |
| ४०. ,, | — साहित्य चूडामणि | — गोपाल भट्ट या लौहित्य भट्ट गोपाल |
| ४१. ,, | — सुमनो मनोहरा | — गोपीनाथ |
| ४२. काव्य प्रकाश प्रदीप | — प्रभा | — वैद्यनाथ तत्सत् |
| ४३. काव्यादर्श | — टीका | — प्रेमचन्द्र तर्कवागीश |
| ४४. ,, | — टीका | — विजयानन्द |
| ४५. ,, | — मार्जन | — हरिनाथ |
| ४६. काव्यालङ्कार सूत्र | — भाष्य | — दशरथ द्विवेदी |
| ४७. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति | — व्याख्या | — सुबुद्धि मिश्र |
| ४८. कुवलयानन्द | — अलङ्कार चन्द्रिका | — वैद्यनाथ पायगुण्ड |
| ४९. ,, | — अलङ्कार दीपिका | — आशाधर भट्ट |
| ५०. ,, | — अलङ्कार सुधा | — नागेश भट्ट |
| ५१. ,, | — अलङ्कार स्थिति | — भीमसेन दीक्षित |
| ५२. ,, | — टीका | — रामचरण तर्कवागीश |
| ५३. ,, | — टीका | — मथुरा नाथ शुक्ल |
| ५४. ,, | — टिप्पण | — कुरविराम |
| ५५. ,, | — रसिकरञ्जनी | — गंगाधराध्वरी |
| ५६. कुवलयानन्द चन्द्रिका | — चकोर | — जग्गू वेंकटाचार्य |
| ५७. ,, | — व्याख्या | — राम पिशारडी |
| ५८. चन्द्रालोक | — रमा | — वैद्यनाथ पायगुण्ड |
| ५९. ,, | — राकागम या सुधा | — गागा भट्ट 'विश्वेश्वर' |
| ६०. चित्रमीमांसा | — गूढार्थ प्रकाशिका | — बालकृष्ण पायगुण्ड |
| ६१. ,, | — टीका | — रायस्पेटा वेंकटेश्वर कृष्णमाचारियर |
| ६२. ,, | — दोषोद्धार या दोष-धिक्कार | — अतिरात्र यज्वन् |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ६३. | ,, | — बालप्रिया | — राम पिशारडी |
| ६४. | ,, | — सुधा | — घरानन्द |
| ६५. | दशरूपक | — टीका | — देवपाणि |
| ६६. | ,, | — पद्धति | — कुरविराम |
| ६७. | ध्वन्यालोक | — दीपशिखा | — चण्डिका प्रसाद शुक्ल |
| ६८. | ध्वन्यालोक लोचन | — बालप्रिया | — राम पिशारडी |
| ६९. | वाग्भटालङ्कार | — ज्ञान प्रमोदिका | — वामनाचार्य ज्ञानप्रमोद-गणि |
| ७०. | ,, | — टीका | — समय सुन्दर |
| ७१. | ,, | — टीका | — गणेश |
| ७२. | रसगङ्गाधर | — टीका | — मथुरा नाथ शास्त्री |
| ७३. | ,, | — टीका | — मानवल्लि गंगाधन शास्त्री |
| ७४. | ,, | — गुरुमर्मप्रकाश | — नागेश भट्ट |
| ७५. | रस गङ्गाधर मर्मप्रकाश | — मर्मोद्घाटनम् | — जग्गू वेंकटाचार्य |
| ७६. | रसमञ्जरी | — आमोद | — गुरिजाल शायिन् 'रंगशायिन्' |
| ७७. | ,, | — टीका | — गोपाल भट्ट या लौहित्य भट्ट गोपाल |
| ७८. | ,, | — टीका | — दुर्गा प्रसाद त्रिपाठी |
| ७९. | ,, | — टीका | — रामनाथ चतुर्वेदी |
| ८०. | ,, | — प्रकाश | — नागेश भट्ट |
| ८१. | ,, | — व्यंग्यार्थ कौमुदी या समञ्जसा | — विश्वेश्वर पण्डित |
| ८२. | ,, | — व्यंग्यार्थ कौमुदी | — अनन्त पण्डित |
| ८३. | ,, | — व्याख्या | — महादेव मिश्र |
| ८४. | ,, | — रसिकरंजन | — व्रजराज दीक्षित 'हरदत्त' |
| ८५. | रस तरंगिणी | — टीका | — नागेश भट्ट |
| ८६. | ,, | — नौका | — गंगाराम जडी |
| ८७. | ,, | — व्याख्या | — महादेव मिश्र |
| ८८. | ,, | — रसिक रंजनी | — वेणी दत्त शर्मन् तर्क-वागीश |

| | | |
|---|---|---|
| ८९. रस तरंगिणी | — साहित्य सुधा या काव्यसुधा | — नेमिशाह |
| ९०. ,, | — सेतु या सेतु प्रबन्ध | — जीवराज |
| ९१. शृङ्गारतिलक | — टीका | — गोपाल भट्ट या लौहित्य भट्ट गोपाल |
| ९२. सरस्वतीकण्ठाभरण | — दुष्कर चित्रप्रकाशिका | — लक्ष्मी नाथ भट्ट |
| ९३. साहित्य कौमुदी | — कृष्णानन्दिनी | — बलदेव विद्याभूषण |
| ९४. साहित्य दर्पण | — कुसुमप्रतिमा | — हरिशास्त्री दाधीच |
| ९५. ,, | — टिप्पण | — मथुरा नाथ शुक्ल |
| ९६. ,, | — प्रभा | — गोपीनाथ |
| ९७. ,, | — विमला | — जीवानन्द विद्यासागर |
| ९८. ,, | — विवृति | — रामचरण तर्कवागीश |

——

# ग्रन्थकारानुक्रमणिका

## (आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्री)

### मूल ग्रन्थ लेखक

| | |
|---|---|
| १. अकबरशाह | — शृङ्गारमञ्जरी |
| २. अच्युतराय शर्मन् 'मोडक' | — साहित्यसार |
| ३. अनन्तार्य | — कविसमयकल्लोल |
| ४. अनुरथमण्डन | — जल्पकल्पलता |
| ,, | — मुग्धमेधाकर |
| ५. अन्नदाचरण तर्कचूडामणि | — रामाभ्युदयम् |
| ,, | — ऋतुचित्रम् |
| ,, | — काव्यचन्द्रिका |
| ६. अप्पदीक्षित द्वितीय | — अलङ्कार तिलक |
| ७. अम्बिकादत्त व्यास | — साहित्यनलिनी |
| ८. अरुणगिरि कवि | — गोदवर्मयशोभूषण |
| ९. आणिविल्ल नारायण शास्त्री | — साहित्य कल्पद्रुम |
| १०. आणिविल्ल वेंकट शास्त्री | — अलङ्कारसुधा सिन्धु |
| ,, | — रसप्रपञ्च |
| ११. आशाधर भट्ट | — अलङ्कार दीपिका (कुवलयानन्द-टीका) |
| ,, | — कोविदानन्द |
| ,, | — त्रिवेणिका |
| १२. इञ्चूर केशव नम्बूदरीपाद | — कुलशेखरीयम् |
| १३. इन्द्रजिल | — रामचन्द्रचन्द्रिका |
| १४. इलत्तूर रामस्वामी | — रामोदयम् |
| १५. कच्छपेश्वर दीक्षित | — रामचन्द्रयशोभूषण |
| १६. कविचन्द्र | — काव्यचन्द्रिका |
| १७. कल्याण सुब्रह्मण्य सूरि | — अलङ्कारकौस्तुभ |
| १८. कान्तिचन्द्र मुखोपाध्याय | — काव्यदीपिका |

१९. कामराज दीक्षित — काव्येन्दु प्रकाश
,, — रस निर्णय
२०. कालीपद तर्काचार्य — काव्य चिन्ता
२१. काशी अथवा कशीकर लक्ष्मण कवि — अलङ्कारग्रन्थ (शाहराजीय)
२२. कृष्ण दीक्षित (कृष्ण यज्वन्) — रघुनाथ भूपालीय
,, — अलङ्कारमुक्तावली
२३. कृष्ण भट्ट — प्रश्नमाला
२४. कृष्ण सुधी — काव्यकलानिधि
२५. कृष्ण सूरि — अलङ्कार मीमांसा
,, — साहित्यकल्पलतिका
२६. कोल्लूरि राजशेखर — अलङ्कारमकरन्द
,, — साहित्यकल्पद्रुम
२७. कौत्स अप्पल्ल सोमेश्वर शर्मा — साहित्यविमर्श
२८. गंगाधर कविराज — प्राच्य प्रभा
२९. गंगाराम जडी — रसमीमांसा
,, — नौका (रसतरंगिणी-टीका)
३०. गदाधर नारायण भञ्ज — रसमुक्तावली
३१. गदाधर भट्ट — रसिकजीवन
३२. गिरिधर लाल व्यास शास्त्री — अभिनव काव्य प्रकाश
,, — काव्यसुधाकर
३३. गोकुल नाथ मैथिल — रसमहार्णव
,, — विवरण (काव्य प्रकाश-टीका)
३४. गोपी नाथ कविभूषण — कवि चिन्तामणि
३५. गौरनार्य — प्रबन्धदीपिका
,, — लक्षणदीपिका
३६. घासी राम पण्डित — रसकौमुदी
,, — रसचन्द्र
३७. चण्ड मारुताचार्य — चित्रमीमांसोद्धार
,, — लघुरसकुसुमाञ्जलि
३८. चतुर्भुज — रसकल्पद्रुम
३९. चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार — अलङ्कारसूत्राणि
४०. चावलि राम शास्त्री — अलङ्कार मुक्तावली
,, — कुवलयामोद

६४. भास्कराचार्य — साहित्यकल्लोलिनी
६५. भीमसेन दीक्षित — अलङ्कारसारोद्धार
,, — सुधासागर (सुधोदधि-का० प्र०टीका)
,, — अलङ्कारस्थिति (कुवलयानन्द खण्डन)
६६. भूदेव शुक्ल — रसविलास
६७. मणिशङ्कर गोविन्द — अलङ्कार मणिमाला
६८. मथुरा नाथ शास्त्री — काव्यकलारहस्य
,, — रसगङ्गाधर-टीका
६९. मथुरा प्रसाद दीक्षित — कवितारहस्यम्
७०. मुदुम्बइ नरसिंह आचार्य — अलङ्कारमाला
,, — काव्य प्रयोग विधि:
,, — काव्यसूत्रवृत्ति:
,, — काव्योपोद्घात
७१. मुरारिदान चरण — यशवन्तयशोभूषणम् (वाणीभूषण का रूपान्तर)
७२. मौनी श्रीकृष्ण भट्ट — वृत्तिदीपिका
७३. यज्ञ नारायण दीक्षित — अलङ्कार रत्नाकार
७४. यदुनाथ झा — व्यञ्जनावाद
७५. यशस्विन् कवि — साहित्य कुतूहल
७६. रंगाचार्य रंगनाथाचार्य — अलङ्कार संग्रह
७७. रघुनाथ — साहित्यकुतूहल
७८. रघुनाथ 'मनोहर' — कविकौस्तुभ
७९. रत्नभूषण — काव्यकौमुदी
८०. राजगोपाल चक्रवर्त्ती — कविकार्य विचार
८१. राजचूडामणि दीक्षित — अलङ्कार चूडामणि
,, — काव्यदर्पण
८२. रामचन्द्र न्यायवागीश — काव्यचन्द्रिका
८३. रामदेव चिरञ्जीव भट्टाचार्य — काव्यविलास
८४. रामभद्र दीक्षित — शब्दशक्तिनिरूपण
८५. रामसुब्रह्मण्य — अलङ्कारशास्त्रसंग्रह (अलङ्कार शास्त्र-विलास)
८६. रामाचार्य — रसोद्भेदिनी

८७. रामानन्द पति त्रिपाठी — काव्यप्रकाश प्राकृतार्थ

,, — रसिकजीवनम्

८८. रामावतार शर्मा — साहित्य रत्नावली

८९. रामेश्वर पौण्डरीक — रससिन्धु

९०. रेवा प्रसाद द्विवेदी — काव्यालङ्कारकारिका

९१. लक्ष्मीधर दीक्षित — अलङ्कार मुक्तावली

,, — भरतशास्त्र ग्रन्थ

,, — रसमञ्जरी,

९२. लेखनाथ — रसचन्द्रिका

९३. विद्याराम — रसदीर्घिका

९४. विश्वनाथ देव — साहित्यसुधासिन्धु

९५. विश्वनाथ न्याय पञ्चानन — अलङ्कारपरिष्कार

९६. विश्वेश्वर पण्डित — अलङ्कार कौस्तुभ

,, — अलङ्कार मुक्तावली

,, — अलङ्कार प्रदीप

,, — रसचन्द्रिका

,, — व्यंग्यार्थ कौमुदी अथवा समञ्जसा (रसमञ्जरी टीका)

९७. वीरेश्वर पण्डित भट्टाचार्य 'श्रीवर' — रसरत्नावली

९८. वेंकट कृष्ण — शब्द भेदनिरूपण

९९. वेंकट बाल कालिदास — चित्रचमत्कार मञ्जरी

१००. वेंकटाचार्य तर्कालङ्कार वागीश्वर — अलङ्कार कौस्तुभ

१०१. वेंकप्रभु — अलङ्कार मणिदर्पण

१०२. वेणीदत्त शर्मन् — अलङ्कार मञ्जरी

,, — रसकौस्तुभ

१०३. वेणीदत्त शर्मन् तर्कवागीश — अलङ्कार चन्द्रोदय

,, — रसिकरञ्जनी (रसतरंगिणी-टीका)

१०४. शम्भुनाथ — अलङ्कार लक्षणानि

१०५. शितिकण्ठ वाचस्पति — अलङ्कार दर्पण

१०६. शिवदत्त त्रिपाठी — काव्य रसायनम्

१०७. शिवराम त्रिपाठी — अलङ्कार समुद्गक
,, — रसरत्नहार
,, — विषमपदी (का० प्र० टीका)
१०८. श्वेतारण्यम् नारायण यज्वन् — वृत्तालङ्कार रत्नावली,
,, — शिवार्थालङ्कारस्तव
१०९. शोंठिमार भट्टारक — रससुधानिधि
११०. श्रीकर मिश्र — अलङ्कार तिलक
१११. श्रीकृष्ण कवि — काव्यलक्षण
,, — मन्दारमरन्दचम्पू
,, — रसप्रकाश (का० प्र० टीका)
,, — सारस्वतालङ्कार सूत्र एवं भाष्य
११२. श्रीकृष्ण ब्रह्मतन्त्र परकाल संयमीन्द्र — अलङ्कारमणिहार
११३. श्री निवास दीक्षित — अलङ्कार कौस्तुभ
,, — काव्य दर्पण
,, — काव्यसार संग्रह
,, — साहित्यसूक्ष्मसरणि
११४. सदाजी — साहित्य मञ्जूषा
११५. सदाशिव मखिन् — बालरामवर्मयशोभूषण
११६. सामराज दीक्षित — श्रङ्गारामृतलहरी
११७. सीताराम भट्ट पर्वणीकर — काव्यतत्वप्रकाश
,, — काव्यप्रकाशसार,
,, — नायिकावर्णनम्
,, — लक्षणचन्द्रिका
,, — साहित्यचिन्तामणि
,, — साहित्यतत्त्वम्
,, — साहित्य तरंगिणी
,, — साहित्यसार
,, — साहित्यसुधानिधि
,, — साहित्यार्णवः
,, — श्रृङ्गारलहरी
११८. सीताराम शास्त्री — साहित्योद्देश

११९. सुखदेव मिश्र — श्रृङ्गारलता
१२०. सुखलाल — श्रृङ्गारमाला
१२१. सुधाकर महाशब्दे — साहित्यसारसंग्रह
१२२. सुधीन्द्र योगिन् — अलङ्कारनिकष
" — अलङ्कारमञ्जरी
१२३. सुन्दर मिश्र औजागरि — नाट्य प्रदीप
१२४. सुबुद्धि मिश्र — तत्त्व परीक्षा
" — काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति व्याख्या
१२५. सुब्रह्मण्य शास्त्री — यशवन्त यशोभूषण
१२६. स्वाति तिरुनाल महाराजा — प्रासव्यवस्था
१२७. हरिदास सिद्धान्तवागीश — काव्यकौमुदी
१२८. हरिप्रसाद माथुर — काव्यार्थगुम्फ
" — काव्यालोक
१२९. हरिशास्त्री दाधीच — अलङ्कार कौतुक
" — अलङ्कार लीला
" — कुसुमप्रतिमा (साहित्यदर्पण टीका)

## टीकाकार आचार्य

१. अतिरात्र यज्वन् — दोषोद्धार या दोषधिक्कार (चित्र मीमांसा
२. अनन्त पण्डित — व्यंग्यार्थ कौमुदी (रस मञ्जरी)
३. आनन्द राजानक — निदर्शना या शितिकण्ठविबोधन (काव्य प्रकाश)
४. कमलाकर भट्ट — काव्यप्रकाश टीका
५. कुरविराम — कुवलयानन्द टिप्पण
— दशरूपक पद्धति
६. खुद्दी झा — काव्यप्रकाश व्याख्या
७. गंगाधराध्वरी या गंगाधर वाजपेयी — रसिक रञ्जनी (कुवलयानन्द)
८. गणेश — वाग्भटालङ्कार टीका

९. गदाधर चक्रवर्ती भट्टाचार्य — काव्यप्रकाश टीका
१०. गागाभट्ट 'विश्वेश्वर' — राकागम या सुधा (चन्द्रालोक)
११. गुणरत्न गणि — सारदीपिका (काव्य प्रकाश)
१२. गुरिजाल शायिन् 'रंगशायिन्' — आमोद (रसमञ्जरी)
१३. गोपाल भट्ट या लौहित्य भट्ट गोपाल — रसमञ्जरी टीका
" — साहित्य चूडामणि (काव्य प्रकाश)
" — शृङ्गारतिलक टीका
१४. गोपीनाथ — सुमनोमनोहरा (काव्य प्रकाश)
" — प्रभा (साहित्यदर्पण)
१५. चण्डिका प्रसाद शुक्ल — दीपशिखा (ध्वन्यालोक)
१६. जगदीश तर्क पञ्चानन भट्टाचार्य — रहस्य प्रकाशन (काव्य प्रकाश)
१७. जग्गू वेंकटाचार्य — कुवलयानन्द चन्द्रिका चकोर (कुवलयानन्द की टीका चन्द्रिका की व्याख्या)
" — श्रीरसगंगाधर मर्मप्रकाशमर्मोद्घाटनम् (मर्मप्रकाश की संक्षिप्त व्याख्या)
१८. जयराम न्याय पञ्चानन — तिलक या जयरामी (काव्य प्रकाश)
१९. जीवराज — सेतु या सेतु प्रबन्ध (रसतरंगिणी)
२०. जीवानन्द विद्यासागर — विमला (साहित्य दर्पण)
२१. तिरुवेंकट — काव्य प्रकाश टीका
२२. दशरथ द्विवेदी — काव्यालङ्कार सूत्र भाष्य
२३. दुर्गाप्रसाद त्रिपाठी — रसमञ्जरी टीका
२४. देवनाथ 'तर्कपञ्चानन' — काव्यकौमुदी (काव्य प्रकाश)
२५. देवपाणि — दशरूप टीका
२६. धरानन्द — सुधा (चित्रमीमांसा)
२७. नरसिंह ठाकुर — नरसिंह मनीषा (काव्य प्रकाश)
२८. नागेश भट्ट — गुरु मर्मप्रकाश (रसगंगाधर)
" — बृहत् एवं लघु उद्योत (काव्य प्रकाश प्रदीप की व्याख्या)
" — उदाहरण दीपिका अथवा प्रदीप (काव्य प्रकाश टीका)

| | |
|---|---|
| ,, | — अलङ्कार सुधा एवं विषम पद व्याख्यान षट्पदानन्द (कुवलयानन्द) |
| ,, | — प्रकाश (रसमञ्जरी) |
| ,, | — रसतरंगिणी टीका |
| २९. नारायण दीक्षित | — काव्य प्रकाश टीका |
| ३०- नेमिशाह् | — साहित्य सुधा या काव्य सुधा (रसतरंगिणी) |
| ,, | — उज्ज्वलनीलमणि टीका |
| ३१. पण्डित राज 'रघुनन्दन' | — काव्यादर्श टीका |
| ३२. प्रेम चन्द्र तर्कवागीश | — काव्यादर्श टीका |
| ३३. लालकृष्ण पायगुण्ड | — गूढार्थ प्रकाशिका (चित्रमीमांसा) |
| ३४. भवदेव | — लीला (काव्य प्रकाश) |
| ३५. मथुरानाथ शुक्ल | — साहित्य दर्पण टिप्पणी |
| ३६. महादेव मिश्र | — रसमञ्जरी व्याख्या |
| ,, | — रस तरंगिणी व्याख्या |
| ३७. अहेशचन्द्र न्यायरत्न | — काव्यप्रकाश टीका |
| ३८. महेश्वर न्यायालङ्कार | — भावार्थ चिन्तामणि या आदर्श (काव्य प्रकाश) |
| ३९. मानवल्लि गंगाधन शास्त्री | — रसगंगाधर टीका |
| ४०. यशोविजय | — काव्य प्रकाश टीका |
| ४१. वामन भट्ट झलकीकर | — बालबोधिनी (काव्य प्रकाश) |
| ४२. वामनाचार्य ज्ञान प्रमोदगणि | — ज्ञान प्रमोदिका (वाग्भटालङ्कार) |
| ४३. विजयानन्द | — काव्यादर्श टीका |
| ४४. विश्वनाथ चक्रवर्ती | — आनन्द चन्द्रिका या किरण (उज्ज्वलनीलमणि) |
| ,, | — सारबोधिनी (अलंकारकौस्तुभ) |
| ४५. वृन्दावन चन्द्र तर्कालङ्कार चक्रवर्त्ती | — दीधिति प्रकाशिका (अलङ्कारकौस्तुभ) |
| ४६. वेदान्ताचार्य | — प्रकाशोत्तेजिनी या सर्वटीकाभञ्जनी (काव्य प्रकाश) |
| ४७. वैद्यनाथ तत्सत् | — प्रभा (काव्य प्रकाश प्रदीप) |
| ४८. वैद्यनाथ पायगुण्ड | — रमा (चन्द्रालोक) |

४९. ब्रजराज दीक्षित 'हरदत्त' — रसिक रञ्जन (रसमञ्जरी)
५०. राजानक रत्नकण्ठ — सारसमुच्चय (काव्यप्रकाश)
५१. रामचरण तर्कवागीश — साहित्य दर्पण विवृति
,, — कुवलयानन्द टीका
५२. रामनाथ चतुर्वेदी — रसमञ्जरी टीका
५३. रामनाथ 'विद्या वाचस्पति' — रहस्य प्रकाश (काव्य प्रकाश)
५४. राम पिशारडी — कुवलयानन्द चन्द्रिका-व्याख्या
,, — बालप्रिया (ध्वन्यालोक लोचन)
,, — बालप्रिया (चित्रमीमांसा)
५५. रायम्पेटा वेंकटेश्वर कृष्णमाचारियर — चित्रमीमांसा टीका
५६. लक्ष्मी नाथ भट्ट — दुष्कर प्रकाशिका (सरस्वती काण्ठाभरण)
५७. लोकनाथ चक्रवर्ती — अलङ्कार कौस्तुभ-टीका (कविकर्णपूरकृत)
५८. शिवनारायणदास — दीपिका (काव्य प्रकाश)
५९. शुभ विजय गणि — मकरन्द (काव्यकल्पलता-कविशिक्षा)
६०. समय सुन्दर — वाग्भटालङ्कार टीका
६१. सिद्धिचन्द्र गणि — काव्यप्रकाश खण्डन
,, — बृहती (काव्य प्रकाश)
६२. सुमतीन्द्र — मधुधारा (अलङ्कारमञ्जरी)
६३. सार्वभौम — अलङ्कारकौस्तुभ-टीका (कविकर्णपूरकृत)
६४. हरिनाथ — मार्जन (काव्यादर्श)

—०—

# शब्दानुक्रमणी